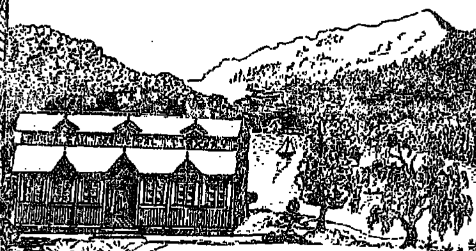





निबन्ध-प्रबन्ध

लेखक

रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' एम० ए०

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, महाराजा कॉलेज, जयपुर।

प्रकाशक

रीगल बुक डिपो,

नई सड़क, देहली।

प्रकाशक—
रीगल बुक डिपो,
नई सड़क, दिल्ली।

१९५३
मूल्य चार रुपये

मुद्रक—
इनसाइट प्रेस,
देहली।

भूमिका

हिंदी अब उन्नत भाषाओं के समकक्ष आ पहुँची है साहित्य के अन्य अंगों के साथ-साथ निबंध-रचना भी प्रचुर परिमाण में होने लगी है। परीक्षाओं में भी निबंध लेखन अनिवार्य है। निबंध प्रेमियों और परीक्षार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान मे रखते हुए हिन्दी में अनेक निबन्ध संग्रह प्रकाशित होते रहते हैं इतना होने पर भी हिन्दी की उच्च परीक्षाओं के लिए एक ऐसी पुस्तक की आवश्यकता बनी हुई थी जिसमें भिन्न-भिन्न विषयों पर विभिन्न शैलियों में सारगर्भित निबंध हों। इसी मांग को दृष्टि में रखकर यह पुस्तक तैयार की गई है।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक श्री शिलीमुख जी उन इने-गिने लेखकों में से हैं जिनका नाम हिन्दी के मौलिक विचारशील लेखकों में है साथही नूतनता का आश्चर्य-जनक सामंजस्य उनमें पाया जाता है। भारतीय संस्कृति, इतिहास-साहित्य और विभिन्न धर्मों का उन्होंने गहराई के साथ अध्ययन किया है। शिलीमुख जी की एक विशेषता यह है कि वे सरल और सुबोध शैली में सूक्ष्म भावों को व्यक्त कर सकते हैं।

प्रस्तुत निबंध संग्रह के विषय में हम केवल यह कह सकते हैं कि इस संग्रह में अधिकांशतः नवीन विषय मिलेंगे और उनमें विशेषतः उच्च कक्षाओं वाले लेखों में स्वतन्त्र विचारणा का तत्व थोड़ा-बहुत शायद दृष्टिगोचर हो सकेगा।

छोटा सा संग्रह और विविध परीक्षाओं के लिये उपयुक्त- यह एक टेढ़ी समस्या थी। विषयों का निर्वाचन और अलग-अलग स्टैंडर्ड्स दोनों में ही कठिनाई थी। विषयों और अलग-अलग स्टैंडर्ड्स की दृष्टि से

लेखों का अलग-अलग वर्गीकरण तो असम्भव ही था। कठिनाई को इस प्रकार हल करने की चेष्टा की गई है कि एक एक विषय कई-कई श्रेणियों के परीक्षार्थियों के लिये उपयोगी हो सके। यदि हमें पता लगा कि प्रस्तुत लेख कुछ उपयोगी-से मालूम हुए हैं और यदि अवसर मिला तो भी भविष्य में इस संग्रह को अधिक बड़ा करने का भी प्रयत्न किया जा सकेगा।

—प्रकाशक

विषय-सूची



: १ :

निबन्ध-लेख का स्वरूप

'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'—गद्य-रचना कवि की कसौटी है यह एक पुरानी कहावत है; और निबन्ध की पहली विशेषता यह है कि वह एक गद्य-रचना है। गद्य-रचनात्व निबन्ध का इतना प्रमुख लक्षण है कि हम, चाहें तो निबन्ध को गद्यात्मक रचना-प्रकार का प्रतिनिधि भी कह सकते हैं। इस प्रतिनिधित्व में "गद्य" और "रचना" इन दो शब्दों का ही विशेष महत्व होगा।

'गद्यं कवीनां', आदि में तो "कवि"कहने का लक्ष्य गद्याख्यायिका लेखकों से रहा होगा; क्योंकि प्राचीन समय में निबन्ध-लेखन का इतना प्रचार नहीं था; और आजकल जिस प्रकार की रचना को हम निबन्ध समझते हैं उसके लेखक को, "कवि" शब्द के प्रचलित अर्थ में, 'कवि' नहीं कहा जा सकता। परन्तु उक्त कहावत से गद्य-लेखन की कठिनाइयों का अनुमान अवश्य होता है।

गद्य, मूलतः व्यवहारोपयोगी भाषा-पद्धति है। मनुष्य-समाज में गद्य का उदय पारस्परिक व्यवहार की आवश्यकताओं से ही हुआ है। कवि की हृदय-तरंगों के लिए व्यावहारिकता की वाक्-प्रणाली कृत्रिम, अतः दुरूह हो उठती है। इसलिए गद्य-रचना कवि की कसौटी बन जाती है। परन्तु निबन्ध क्या एकान्त व्यावहारिकता की ही वस्तु है?

व्यावहारिकता की वस्तु वह अवश्य है; परन्तु 'एकान्त' नहीं। एकान्त व्यावहारिक होने पर वह 'निबन्ध' की पदवी को नहीं पहुँच पाती—शायद 'रचना' की पदवी को भी नहीं। वैज्ञानिक खोजों अथवा गणित-आदि से सम्बन्ध रखने वाले एकान्त व्यावहारिक लेखों में हम रचनात्मक गुणों का कहाँ आरोप करते

हैं ? निबन्ध रचना भी है, व्यावहारिक ढँग की भी है, और एकान्त व्यावहारिक भी नहीं है। यहीं 'कसौटी' का प्रश्न खड़ा हो जाता है।

निबन्ध का स्थान यथार्थतः शुद्ध विज्ञान—(जो शुद्ध व्यावहारिक है)—और शुद्ध लालित्य के मध्य का है वह व्यावहारिक साहित्य और ललित साहित्य के बीच की कड़ी का स्थान है। व्यावहारिक कठोर यथार्थता (अर्थात 'एक और एक—दो' का व्यवहार) और उन्मुक्त आनन्दरति के बीच समझौता कायम करने का उत्तरदायित्व ही निबन्ध को लेखक की कसौटी बना देता है। वैज्ञानिक लेख शुष्क और केवल विशेषज्ञों के लिए होते हैं; ललित रचना अपनी आनन्द-वृत्ति के कारण सबकी चीज होती है; परन्तु निबन्ध, अपनी व्यावहारिक यथार्थता को निभाता हुआ भी, सबकी चीज़ बनने का हौसला रखता है।

'निबन्ध' की प्रारम्भिक परिभाषाओं में डा० जॉनसन की दी हुई परिभाषा का विशेष रूप में उल्लेख किया जाता है; जॉनसन ने 'निबन्ध' को मन की एक स्वच्छन्द स्फोट—वृत्ति (a loose sally of the mind) के रूप में लक्षित करके निबन्ध-रचना को "an irregular, undigested, not a regular and orderly (एक अनियमित, अव्यवस्थित, "विचारों की दृष्टि से अपरिपक्व और अनिर्दिष्ट) performance" कह कर व्याख्यात किया है। निस्सन्देह इस व्याख्या में सार्वजनीनता, लोकप्रियता, का ही लक्ष्य है और व्यवहार की परिमिति की अवहेलना है। यह व्याख्या निबन्ध पर वैसी लागू न होकर आजकल की "गद्यकाव्य' कहलाई जाने वाली रचनाओं पर ही शायद अधिक चरितार्थ होगी। एडिसन आदि के प्रारम्भिक निबन्धों में भी इतनी अव्यावहारिकता, ऐसी अनिर्दिष्टता, नहीं थी जैसी इस व्याख्या में अभिप्रेत मालूम होती है, और हम देखते हैं कि निबन्ध विकास के इतिहास में जॉनसन की व्याख्या के होते हुए भी, धीरे--धीरे दृष्टिकोण की निर्दिष्टता की ओर ही अधिक प्रगति दिखाई दी है।

इसकी तो क्या आवश्यकता है कि अब तक भिन्न भिन्न विद्वानों द्वारा निबन्ध की जितनी व्याख्याएँ दी गई हैं उन सब पर दृष्टिपात किया जाए। वह तो निबन्ध के इतिहास के अध्ययन में सहायता की वस्तु हो सकती है। इस समय निबन्ध की जो स्थिति है उसको देखते हुए शायद यह कहा जा सकता है कि—निबन्ध एक प्रकार की ऐसी गद्य-रचना है जिसमें किसी विषय से संबन्ध रखने वाले कुछ प्रमुख ज्ञात और ज्ञातव्य तथ्यों का संकलन उसकी बौद्धिक प्रतिपत्ति के लिए किया जाता है। ज्ञातव्य तथ्यों के निर्देश में लेखक के विशिष्ट दृष्टिकोण का प्रधान अंश रहता है और बौद्धिक प्रतिपत्ति में यथाशक्ति सुग्राह्यता का गुण अभीप्सित होता है, यद्यपि 'सुग्राह्यता, सापेक्ष वस्तु है और उसकी अपेक्षा पाठकों की विभिन्न कोटियों के साथ निर्धारित होती है। उदाहरणार्थ, एक अनुभवी या विशेषतया शिक्षित व्यक्ति को जो-जो विषय और तर्क सुग्राह्य हो सकते हैं वे एक अनुभव-विहीन और कम शिक्षित व्यक्ति को उतने सुग्राह्य कदापि नहीं हो सकते।

निबन्ध में विचार और विचारशीलता आवश्यक तत्व है। कारण यह है कि निबन्ध के क्षेत्र में किसी विषय के याथार्थ्य और दृष्टिकोण की निर्दिष्टता का मुख्य लक्ष्य रखना पड़ता है, जिसका उपकरण विचारशीलता है। भावना अपेक्षाकृत रूप में कल्पनात्मक होती है और इसलिए वह याथार्थ्य का उतना सफल उपकरण नहीं बन सकती। जिन लेखों को हम वर्णनात्मक कहते हैं उनमें भी विचारतत्व की प्रधानता माननी आवश्यक है क्योंकि ऐसे लेखों का उद्देश्य भी याथार्थ्य-दर्शन — वर्ण्य वस्तु के वास्तविक दृश्य रूप का प्रत्यक्षीकरण — होता है। इतनी बात अवश्य है कि इस प्रकार के लेखों में विद्यमान विचारतत्व वर्ण्य विषय के संबंध में केवल तलस्पर्शी रहता है और इसलिए बुद्धि को सहज-ग्राह्य होता है। इसका कारण यह है कि वर्णनात्मक विषयों का याथार्थ्य अधिकतर स्थूल बाह्येन्द्रियों के ज्ञान का विषय होता है और इस प्रकार लोक-समुदाय के बहुत-कुछ

सामान्य अनुभवों में प्रतिफलित होजाता है। जहाँ यह बात नहीं होती, वर्ण्य स्वरूप का याथार्थ्य भी दुर्ग्राह्य हो सकता है, जैसे पनडुब्बी नाव या ऐटम-बम का कोई रूप वर्णन। इस उदाहरण से वर्णन में भी सिद्धि हो जाती है। हमारे सामान्य अनुभवों पर आश्रित होने वाले जिन वर्णनात्मक लेखों में उनका वर्णनात्मक अंग जितना अधिक भावात्मक होने लगता है वे उसी अनुपात से काव्यत्व में पदार्पण करने लगते हैं और सच्चे निबन्ध की कोटि से हट जाते हैं। पर साथ ही जब तक उनका विचारात्मक दृष्टि-कोण उनकी भावात्मकता से एकदम दबकर अलक्ष्य या अति दुर्लक्ष्य नहीं हो जाता तब तक वे निबन्ध कोटि के अधिकारी रह सकते हैं। ऐसे लेखों को लोग भावात्मक निबन्ध के नाम से पुकारते हैं।

परन्तु देखने की बात यह है। कि 'भाव' और 'विचार' जैसे दो तत्व, एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी, परस्पर-संलग्न भी अवश्य हैं। जब कोई व्यक्ति किसी विषय या वस्तु से अपना सम्पर्क बनाता है तो वह थोड़ा-बहुत भावनात्मक रूप में भी उससे प्रभावित होता है। इस प्रकार प्रभावित हुए बिना वह उस पर विचार नहीं कर सकता। अतएव यह भी समझ में आता है कि कोई लेख - यदि वह लेखक के व्यक्तित्व से भी संयुक्त है तो — नितान्त विचारात्मक नहीं हो सकता। कोई लेखक जिस रूप में किसी विषय से प्रभावित होकर उस पर विचार करने के लिए बाध्य होता है उस रूप का लेखक के विचारों से कार्य-कारण का सम्बन्ध है।

तथापि, प्रभाव के रूप में अपने व्यक्तित्व का उतना-सा अंश रखते हुए भी निबन्ध-लेखक को विचारों का ही पक्षपाती बनना पड़ता है। विचारों के द्वारा विषय का वास्तविक स्वरूप सामने आने पर, हम प्रभाव के रूप में, हम उसी लेख में लेखक का व्यक्तित्व भी देखते हैं। इस प्रभाव के द्वारा लेखक के व्यक्तित्व तथा उसके विचारों के दृष्टिकोण का निर्णय होता है। यह प्रभाव जिस प्रकार विषय के द्वारा लेखक के व्यक्तित्व पर पड़ता है उसी प्रकार उसके लेख के द्वारा पाठक पर भी पड़ता है—

अर्थात् जिस प्रकार और जिस रूप में कोई विषय लेखक के लिए प्रभावशाली और मोनरंजक बन सका उसी रूप में उसका लेख पाठक के लिए भी प्रभावशाली और मनोरंजक बनता है। लेख का इस प्रकार प्रभावशाली बनना वस्तुत: लेख के माध्यम से विषय का ही अपने मूल रूपमें प्रभावशाली बनना है। इसका मतलब यह निकलता है कि, जिस भाँति अन्य प्रकार की रचनाओं में उसी भाँति, निबन्ध में भी पाठक के लिए विषय का साक्षात्कार होता है। फलत: हम प्राय: देखते हैं कि जो निबन्ध उपर्युक्त प्रभाव से शून्य होते हैं वे प्राय: शुष्क और नीरस हो जाते हैं। एकान्त विचारात्मकता केवल प्रबन्धों (theses या dissertations) का लक्षण है, निबन्धों का नहीं।

इस उभयरूप प्रभाव का व्यक्त रूप हमें लेखकों की शैलियों में दिखाई देता है जब कहते हैं कि "Style is the man" (अर्थात् "शैली ही मनुष्य है") तो Style या शैली का अभिप्राय एकमात्र शब्दचयन व शब्दों की तद्भवता या तत्समता आदि से ही नहीं है, बल्कि लेखक के वास्तविक व्यक्तित्व से, उसके भावनात्मक अंश से है। जिस प्रकार जीवन में मनुष्य के रहन-सहन, उसकी चालढाल, हँसना-बोलना, वेश-भूषा आदि से उसकी रुचियां, उसके चारित्रिक अंश, उसके व्यक्ति का बहुत कुछ रूप प्राप्त होता है उसी प्रकार उसकी लेखन-शैली से भी। लेखन-शैली भी रहन-सहन के व्यवहार का एक रूप, आत्मप्रकाश का एक तरीका ही तो है, जिस प्रकार कि हमारा दैनिक अथवा अदैनिक परस्पर-व्यवहार की भाषण-शैली।

यह बात नहीं है कि शब्द-चयन में लेखक का व्यक्तित्व बिलकुल ही न रहता हो, क्योंकि शब्द चयन का सम्बन्ध भी तो लेखक की रुचि से ही होता है। परन्तु शब्दचयन के द्वारा व्यक्तित्व का जो रूप हमारे सामने आता है वह बहुत परोक्ष और गौण ढँग से आता है। इसके अतिरिक्त यह रूप एक अतिव्यास और अस्पष्ट रूप रहता है। किसी विषय के सम्पर्क से लेखक

के व्यक्तित्व, उसकी रुचि-अरुचि का जो अंश प्रस्फुटित होता है, निबन्ध में हम उसी को विशेष रूप से देखना चाहते हैं। यह व्यक्तित्व हमको उन लेखों में विशेष रूप से देखने को मिलता है जिनमें लेखक किसी विषय से उत्पन्न अपनी भावना के प्रेरक अंश को भी—निबन्ध की परिमितियों का ध्यान रखता हुआ—थोड़ा-बहुत हमारे सामने रखता है, अर्थात् जहाँ वह अपने विचारों को उनके सहकारी भावों का भी थोड़ा बहुत योग दिलाता रहता है। उदाहरण के लिए, जो लेखक कहता है कि "उपवन में तरह तरह के फूल खिले हैं" वह अपने व्यक्तित्व को हम से छिपाने की चेष्टा करता है। परन्तु जो लेखक हमें बतलाता है कि "बाग में बड़े सुन्दर फूल खिल रहे हैं" वह उपवन-संबंधी अपने विचार को अपने व्यक्तित्व के साथ हमारे सामने उपस्थित करता है। लेखक के इसी व्यक्तित्व को हम प्रायः शैली के द्वारा देखते हैं, शैली के द्वारा हम उसे उसके भिन्न भिन्न रूपों में पहचानते हैं और शैली का तदनुसार नामकरण करते हैं। हम कहते हैं कि अमुक लेखक की शैली ओजमयी है अथवा ध्वन्यात्मक या व्यंग्यात्मक है, या फिर हास्ययुक्त है, विनोद-पूर्ण है, गम्भीर है या रोमांटिक है; आदि। यहाँ यह देखा जा सकता है कि ओज, व्यंग्य, हास्य, विनोद, गंम्भीरता या रोमांस वस्तुतः व्यक्तियों के चरित्रगुण से संबंध रखते हैं। अतः जब हम किसी लेखक की शैली को इस प्रकार का कोई नाम देते हैं तो हम, यथार्थ में उस लेखक के व्यक्तित्व का ही नामकरण करते हैं। कभी कभी यह व्यक्तित्व शैली में इतना ओतप्रोत हो जाता है कि 'हम व्यक्ति के नाम से ही शैली को भी अभिहित करने लगते हैं—जैसे जोन्सोनियन स्टाइल, मिल्टॉनिक स्टाइल (Johnsonian Style, Miltonic Style) आदि। अपने यहाँ भी बाणभट्ट की शैली, 'रामचन्द्र शुक्ल की शैली जैसे व्यक्तित्व-बोधक अभिधान देखने-सुनने में आते हैं।

शैली के इस व्यक्तित्व सम्बन्धी तत्व को अंग्रेजी में पर्सनल टच (Personal touch या Personal element) कहते हैं। हम इसे लेखक का 'आत्मीयतत्व' कह सकते हैं। 'आत्मीयतत्व' लेख के कलेवर में जीवनतत्व का

काम करता है। वह लेख को सजीव, स्पन्दन-युक्त बना देता है। आत्मीय तत्व स्वयं कौतुकी बन कर लोगों के कौतुक को जागरित करता तथा उन्हें लेख या लेखक की ओर खींचता है। निबन्ध में आत्मीय तत्व वह चीज है जो निबन्ध की विचारात्मक व्यावहारिकता को भी जन रुचि की वस्तु, बनाने में पहला बड़ा काम करता है।

जिस प्रकार निबन्ध में आत्मीय तत्व या Personal element उसकी जीवनी-शक्ति का काम करता है उसी प्रकार उसके भीतर Human element या मानवीय तत्व का होना भी परम आवश्यक है। जिस प्रकार आत्मीय तत्व से लेख लेखक की वस्तु बनता है उसी प्रकार मानवीय तत्व से पाठक की या मनुष्यमात्र की वस्तु बनता है। विश्व में जो कुछ भी है उससे मनुष्य को सहानुभूति तभी हो सकती है जबकि उसका मानव-जीवन से कोई सम्बन्ध या मानव-जीवन में कोई उपयोग हो। बहुत से विषय मानव-जीवन के इतने साधारण अनुभव के विषय होते हैं कि पाठक उनसे स्वयं भी अपना सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। परन्तु कुछ विषयों में वह ऐसा नहीं कर सकता। निबन्ध लेखक के लिए यह अच्छा है कि वह दोनों प्रकार के विषयों को Personal element या आत्मीय व्यक्तित्व का स्पर्श देकर उन्हें मानव-जीवन का एक सहानुभूतिमय अंग बनाकर (अर्थात् उन्हे मानवीय तत्व से सम्पन्न करके) पाठक के सामने रक्खे। इन आत्मीय और मानवीय, दोनों तत्वों का उचित मात्रा में प्रयोग करके कोई लेखक अपने पाठकों को उसके विचार सुनने के लिए विवश करता है। जिन लेखों में ये दोनों प्रकार के तत्व नहीं रहते हैं वे लेख शुष्क और नीरस होते हैं और फिर वे चाहे कितने ही विचारोत्तेजक क्यों न हों, अधिकांश पाठकों का मन उनको पढ़ने में नहीं लगता। यहीं निबन्ध लेखक के लिए कसौटी उपस्थित होती है "*शुष्कव्यावहारिक याथार्थ्य को (शुष्क विचार को) आत्म-कौतुक से सचेष्ट और आकर्षणमय रूप देकर वह जिस सीमा तक उसे मानव सहानुभूति के प्रसाद-अनुरंजन द्वारा (भावना द्वारा) लोकप्रियता की भस्म लगाता है उसी सीमा तक वह सफल*

निबन्धकार है" । सफल निबन्धकार इस कर्म में अपनी सन्तुलन वृत्ति को कायम रखने के लिए भी विशेष सतर्क रहेगा , वह आत्मीय और मानवीय तत्वों के अति-प्रवाह में बहकर मौलिक याथार्थ्य तत्व (विचार—तत्व) को त्वरण नहीं होने देगा ।

क्योंकि पाठक के द्वारा निबन्ध विषय का प्रत्यक्षीकरण निबन्ध लेखक का भी ध्येय है इसलिए विषय-सम्बन्धी भिन्न-भिन्न अंगों में पारस्परिक अनुरूपता (Symmetry) का ध्यान रखना भी उसका आवश्यक कर्त्तव्य है । पारस्परिक अनुरूपना के दो पहलू हैं—(१) भिन्न-भिन्न अंगों का पारस्परिक स्वाभाविक सम्बन्ध और (२) उस सम्बन्ध के अनुसार उनका अपना अपना सुडौलपन । विचारों के वर्गीकरण और उनकी योजना में उनका पारस्परिक सम्बन्ध देखा जाता है तथा लेखक के व्यक्तित्व द्वारा उनको अनुरंजित करने में उनका सुडौलपन ।

विचार और भाव के समायोग से जो शैली की विशेषताएँ पैदा होती हैं उनके कारण 'विचारात्मक', और 'भावनात्मक' विशेषण विषय के साथ-ही-साथ शैली को भी लागू हो जाते हैं । विचारणीय और भावनीय विषयों के भेद से तो दोनों की शैलियों में भेद उपस्थित होगा ही, परन्तु जब यह शैली भेद लेखक के दृष्टिकोण या व्यक्तित्व के कारण पैदा होगा तो उसमें उपरिकथित पारस्परिक अनुरूपता के पहलुओं का उत्तरदायित्व विशेष बढ़ जाएगा । उदाहरणार्थ विचारात्मक विषय को भावात्मक शैली में निबद्ध करना बड़ा कठिन काम है, परन्तु विचारात्मक निबन्ध भी लेखक के व्यक्तित्व बल से भावात्मक शैली में लिखा जा सकता है । हिन्दी में सरदार पूर्णसिंह के लेखों में यही बात है, जिसके कारण कोई कोई लोग उनके लेखों को भ्रमवश "भावनात्मक निबन्ध" कह कर पुकार सकते हैं । परन्तु वस्तुतः उन लेखों की शैली ही भावनात्मक है, विषय नहीं । 'मजदूरी और प्रेम' तथा 'सच्ची वीरता' में लेखक का दृष्टि कोण बिलकुल स्पष्ट, निर्दिष्ट है जिससे उनके विषय विचारणीय ही नहीं, पूर्ण दार्शनिक, रूप में उपस्थित होकर हमारे मस्तिष्क को कुरेदते हैं ।

: २ :

अहिंसा परमो धर्म :

अहिंसा हिंसा का नकारात्मक रूप है। हिंसा न करना ही अहिंसा है। अत: किसी की हिंसा न करना ही धर्म है। हिंसा का अर्थ साधारणत: लोग "वध" से लगाते हैं, जैसे "जीवहिंसा" शब्द में। साधारणतः दूसरों का वध करने वाले पशुओं को हम "हिंस्र" पशु कहते हैं। परन्तु वास्तव में "हिंसा" शब्द की व्याप्ति बहुत बड़ी है। किसी की किसी भी रूप में हानि करना या उसे पीड़ा पहुँचाना, यहाँ तक कि मन से भी कोई बुराई सोचना, हिंसा है। परम धर्म के रूप में अहिंसा का पालन करते हुए हम मन, वाणी और कर्म द्वारा अपने को दूसरे की बुराई करने से दूर रखते हैं। व्यवहार-जगत् में हिंसा का रूप सामान्यतः कर्म और वाणी मे ही देखने में आता है। किसी का गला काट कर या किसी को तमाचा मार कर हम कर्म द्वारा हिंसा करने के अपराधी बनते हैं। किसी को गाली देकर, अपशब्द कहकर, अथवा किसी से कठोर वाणी में बोल कर हम वाणी द्वारा उसकी हिंसा करते हैं। तथापि, ध्यान देने से पता चलेगा कि मानसिक हिंसा ही बलीयसी हिंसा है। उसका क्षेत्र अति विशाल है; वही वास्तव में कार्मिक और वाचिक हिंसा के भी मूल में है। वही कार्मिक और वाचिक हिंसा की भी जननी है। मनके भीतर हिंसा की वृत्ति पैदा हुए बिना हम किसी की कार्मिक या वाचिक हिंसा कर ही कैसे सकते हैं?

इस मानसिक हिंसा का व्यापार इतना अधिक विस्तृत और छद्‌मसय है कि जिस समय साधारण रूप से हम अपने आचरण में अति सरल, सौम्य तथा मैत्रीपूर्ण अथवा फिर अति न्यायपरायण या नीतिमान् दिखाई देते हैं उस समय भी हम प्रायः हिंसा करते रहते हैं। आजकल के कपट-

पूर्ण सभ्य शिष्टाचार ने तो मानसिक हिंसा के क्षेत्र और कर्म को जैसे खुला चार्टर ही दे दिया है। कोई हमसे मिलने आता है तो हम हँस कर उसका स्वागत करते हैं और प्रेममयी वाणी की सभ्यता में उससे कहते हैं, "आइए, आइए, बड़ी कृपा की, जो दर्शन दिए। आपके दर्शनों से बड़ी प्रसन्नता होती है। कहिए, आपकी क्या सेवा करूँ" आदि। साथ ही साथ मनमें हम कहते जाते हैं, "सुबह ही सुबह कहाँ से यह मनहूस आ मरा। इसे किस तरह जल्दी ही घर से निकलवाया जाए।" अथवा फिर जब आप किसी से मिलने जाते हैं तो आप उससे कहते हैं, 'आप तो हमारे माँ बाप हैं। आपका बड़ा यश सुना है। आपके दर्शन मात्र से मैं कृतार्थ हो गया," पर मन में प्रतिक्षण आप यह सोच रहे हैं कि किस तरह इस व्यक्ति को जल्दी से जल्दी उल्लू बनाया जाए।

इससे गनीमत तो हमारा पुराना भारतीय नुस्खा, "सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् ,न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्" ही था जो कम-से कम असत्य-भाषण और कपटाचरण तो नहीं सिखाता था। आजकल के शिष्टाचरण की तो नींव ही कपट और मिथ्याभाषण है, जिससे मानसिक हिंसा को दुगुनी-चौगुनी प्रोत्तेजना मिलती है। परिणाम यह होता है कि जिन लोगों से हमारा सम्पर्क होता है उनके सम्बन्ध में हम बाद में खाली बैठे-लेटे हुए या चलते-फिरते हुए प्रायः सोचते ही रहते हैं, और कभी-कभी तो हमारा यह सोचना अत्यन्त जघन्य ढँग का होता है। और, फिर, इस प्रकार सोच-सोच कर दूसरों के प्रति हम जिन कुत्सित भावनाओं को समय-प्रसार के साथ अवसर दृढ़ीभूत कर लेते हैं वे अवसर पाकर कायिक या वाचिक हिंसा का भी रूप धारण कर लेती हैं।

धर्म के नाते अहिंसा का सामाजिक महत्व भी है और आध्यात्मिक महत्व भी। उसका सामाजिक रूप तो स्पष्ट ही है। यदि समाज में अहिंसा को अच्छा और हिंसा को बुरा न समझा जाए तो समाज ही कायम नहीं रह सकता। अपने ज़रा-ज़रा-से स्वार्थ के लिए लोग खुलकर एक दूसरे

की हिंसा करने लगें तो समाज का दो-चार दिन में ही विध्वंस हो जाए। जरा-से स्वार्थ से जरा सी ही हिंसा होगी, इससे समाज का विध्वंस कैसे हो जाएगा ?—ऐसा सोचना समीचीन नहीं। ज़रा-सा स्वार्थ ही अपनी पूर्ति हो जाने पर बहुत बड़े स्वार्थ का भी रूप धारण कर सकता है। इसी प्रकार ज़रासे स्वार्थ की अपूर्ति के परिणामरूप ज़रा-सी हिंसा को भी बहुत बड़ी और अति भयंकर हिंसा का रूप ग्रहण करते देर नहीं लगती। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी—

हिंसा से प्रतिहिंसा की भी उत्पत्ति होती है। मान लीजिए कि आपने घृणा से किसी की ओर मुँह बिचका दिया। उसने बदले में आपको तमाचा दिखाया। तब आपने उसको कुछ अपशब्द कहा। उसने आपके बाप को अपशब्द कहा। फिर तो तमाचाबाजी और जूताबाजी और लाठीबाजी और छुरीबाजी शुरू हो गई। आपके प्रतिद्वन्द्वी के मित्रों के अलग-अलग दो दल होकर आपस में गुँथ गए और फिर तो ऐसी खूँरेजी हुई कि आपस में दिल खोलकर मरे-मराए और जो बचे सो फाँसी पर जा लटके। विरासत में अपने रिश्तेदारों के लिए अपनी हिंसा और प्रतिहिंसा की अमरबेल छोड़ गए।

अब सोचिए कि हिंसा को छूट मिल जाने से कोई भी समाज कितने दिन कायम रह सकता है। समाज की तो प्रतिष्ठा ही सहयोग-भावना पर हुई है जो हिंसा से बिल्कुल विपरीत वृत्ति है। जहाँ सहयोग होगा, एक दूसरे को सहायता देने की भावना होगी, वहाँ हिंसा कैसी ? जिस समाज के लोग एक दूसरे के प्रति मनसा-वाचा-कर्मणा अहिंसक होंगे वह समाज आदर्श समाज होगा और उसमें चारों ओर सुख का प्रसार होगा। उसमें पारस्परिकता की भावना के होने से संगठन की एक अपूर्व शक्ति होगी। इसीलिए समाज सब प्रकार की हिंसा की विगर्हणा करता है और कायिक तथा वाचिक हिंसा के लिए अपराधी को प्रायः दंड भी देता है। बड़ी हिंसा का दंड देने के लिए उसने कानून बना रक्खे हैं; छोटी-मोटी

हिंसा को वह कह-सुनकर लांछित करता है और बीच-बचाव द्वारा उसका निपटारा कर देता है।

परन्तु मानसिक हिंसा का दंड देना समाज के वश में नहीं है; और इसी कारण मानसिक हिंसा की विकरालता अत्यधिक बढ़ जाती है। तथापि वह प्रयत्न अवश्य करता है कि मानसिक हिंसा के हेतुओं को पकड़ सके और तदनुसार अपना दंड-विधान करे। फलस्वरूप हम देखते हैं कि एक ही प्रकार की कार्मिक हिंसा का सर्वेव एक-सा ही दंड नहीं दिया जाता। सभी हत्यारों को फाँसी नहीं लगती; किसी को कालापानी होता है, किसी-किसी को आजन्म या केवल कुछ वर्षों की कैद ही होती है। युद्ध में तो जो अधिक-से-अधिक हत्या करता है वही बहादुर समझा जाता है। पागल आदमी का और बच्चों का अपराध प्रायः अपराध नहीं समझा जाता।

इससे सिद्ध होता है कि वास्तविक हिंसा मानसिक हिंसा ही है। हिंसा के मानसिक रूप में ही अहिंसा का आध्यात्मिक पहलू भी स्पष्ट हो जाता है। हिंसा हम क्यों करते हैं? हम में जब खुदी का, 'अहम्" का, 'मैं" का, भाव जोर पकड़ता है तभी हमारे भीतर हिंसा की भावना का उदय होता है। खुदी का भाव हमेशा दूसरे को अपने सामने रखकर बढ़ता है। स्वार्थ का प्रसार इसका मूल है। दूसरे को सामने रखकर हम उसे अपने से हीन समझते हैं या हीन बनाना चाहते हैं, यहाँ तक कि अपनी मानसिक हिंसा में हम बड़े-बड़े शक्तिशालियों, सम्राटों, महात्माओं और ईश्वर तक को बुरा कहने, अभिशप्त करने और भिन्न-भिन्न प्रकार से दलित करने से नहीं चूकते। परन्तु सामान्यतः हमारी कल्पना में वे ही लोग उतनी ही मात्रा में और उसी प्रकार रहा करते हैं जिनसे जितनी मात्रा में जिस प्रकार का हमारे नित्य-नैमित्तिक जीवन का सम्बन्ध रहता है। और, इस सम्बन्ध के नाते से, उनके प्रति हमारी मानसिक हिंसा में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य की वृत्तियाँ सचेष्ट रहती हैं।

और, फिर, मानसिक हिंसा पर कोई रोक न होने के कारण इन वृत्तियों की क्रिया बराबर स्फीत से स्फीततर होती रहती है, यहाँ तक कि मनुष्य पशु से भी गयाबीता—नहीं, बल्कि राक्षस बन जाता है। पशु तो केवल अपनी प्राकृतिक आवश्यकता के समय ही हिंसक बनते हैं। वे सोचते नहीं रहते और कल्पना द्वारा दीर्घ काल तक अपनी हिंसात्मक सृष्टि नहीं बनाते रहते।

काम-क्रोधादि को हमारे शास्त्रों में "षड्रिपु" कहा है। ये छै वृत्तियाँ प्राणी की अति घोर और वंचक शत्रु हैं जो अपनी शत्रुता में उसे सदा गड्ढे में, रसातल में, ले जाने का प्रयत्न करती रहती हैं। वन्चक वे इसलिये हैं कि उनमें आकर्षण है— अच्छी लगती हुई वे बड़ी जल्दी से मनुष्य को अपने वशीभूत कर लेती हैं, जिससे मनुष्य उनके शत्रुरूप को नहीं देखा-समझ पाता। जो महापुरुष पूर्णरूप से अहिंसक हैं उनसे षड्रिपु दूर रहते हैं, क्योंकि सच्चा अहिंसक अधिकतर दूसरों पर दृष्टिपात न कर अपने ऊपर ही दृष्टिपात करता है और सजग रहता है कि षड्वंचकों में से कोई भी कहीं से छिप कर उस पर अधिकार तो नहीं कर रहा है। अहिंसक यदि दूसरों को देखता भी है तो उन्हें अपनी तुलना में रख कर नहीं, जिसका कारण यह है कि उसमें से खुदी या "अहम्" के भाव का लोप हो गया है। जिस महापुरुष ने अपनी खुदी को नष्ट कर दिया वह फिर "खुद" ही कहाँ रह गया, वह तो परमपुरुष-रूप हो गया, जीवन्मुक्त हो गया। उसका जीवन अपना जीवन न रह कर विश्वजीवन का स्वरूप बन गया है। हमारे सारे अध्यात्म का यही तो चरम लक्ष्य है।

एक दूसरे दृष्टिकोण से देखने पर अहिंसा का आध्यात्मिक महत्व अपने व्यावहारिक रूप में भी हमारे सामने आता है। भारतीय दर्शन और विचारधारा की टेक पुनर्जन्म और आवागमन के सिद्धान्त पर है। यदि हम आवागमन को अस्वीकार करते हैं तो हमारे नीति और आचरण के तमाम सिद्धान्त भी बालू की भीत पर टिके हुए दृष्टिगोचर होंगे। आवागमन के

सिद्धान्त के अनुसार प्राणिमात्र मरने के बाद पुनः जन्म लेता है। पुनः जन्म लेकर वह कहाँ और कैसी परिस्थितियों में जाता है इसका निर्णय उसके संस्कार करते हैं। हमारी अच्छी और बुरी वृत्तियाँ तथा इन वृत्तियों के द्वारा इस जन्म में बनाए गए हमारे भिन्न-भिन्न सामाजिक और व्यक्तिगत सम्बन्ध ही अन्ततः हमारे संस्कार बनते हैं। ये संस्कार अगले जन्म में हमें अपने अनुरूप परिस्थितियों में ले जाकर डालते हैं जिससे वहाँ भी हम इन्हीं संस्कारों का अनुसरण करते रहते हैं। परिणाम यह होता है कि जिससे हमने इस जन्म में शत्रुता की है उससे अगले जन्म में भी हमारा शत्रुता का व्यवहार चलता है। या तो हम उससे बदला लेने के लिए ऐसी परिस्थिति में पहुँचते हैं, या वह हमसे बदला लेने के लिए ऐसी परिस्थिति में पहुँचता है जहाँ अपनी शत्रुता की संस्कारगत मद-मात्सर्यादि वृत्तियों को अधिक से अधिक चरितार्थ करने का हमें अवसर मिल सके। बदले के संस्कारों की यह प्रक्रिया अनेक जन्मों तक चलती रह सकती है और यहाँ तक हो सकता है कि अन्ततः किसी जन्म में हमारी वृत्तियों की क्रूरता अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाए, और तब हम उसके बाद के जन्म में केवल अपने विवेकशून्य क्रूर संस्कारों को ही लेकर किसी पशु-योनि में जा पड़ें। एक जन्म की, साधारण-से अस्फुट मानसिक रूप में उद्भूत हुई, हमारी हिंसावृत्ति धीरे-धीरे विकट से विकटतर होती-होती जन्मान्तरों के सैकड़ों-हजारों वर्षों तक हमको दुःख देती रह सकती है। इसी से बुद्धिमान् व्यक्ति सोचता है कि अभी जो तमाचा खाया सो खाया, भविष्य में तो असंख्य तमाचे खाने और खिलाने न पड़ें और चैन से बैठने को मिल सके।

इस भाँति, जिस पहलू से भी देखा जाए, अहिंसा हमारे लिए परम धर्म के रूप में ही प्रतिष्ठित होती है। हिंसाप्रधान मुसलिम मज़हब को छोड़ कर संसार के अन्य सभी प्रमुख धर्मों हिन्दू, ईसाई, बौद्ध और जैन धर्म में अहिंसा की महिमा को सबसे आगे रक्खा गया है। ईसाई धर्म में तो यहाँ तक कहा गया है कि यदि कोई तुम्हारे एक चपत मारे तो तुम उसके

सामने अपना दूसरा गाल भी कर दो। ईसाई लोग पुनर्जन्म और आवागमन को नहीं मानते, परन्तु उनकी इस बात से आवागमन के सिद्धान्त को भी कितना बल मिलता है। चपत मारनेवाले के सामने दूसरा गाल भी कर देने से चपत का किस्सा वहीं खत्म हो जाता है बार-बार और अनन्त समय तक चपत खाते और खिलाते रहने की एक परम्परा नहीं बन पाती और आगे का समय, (एक जीवन का हो या अनेक जीवन का), चैन से कट जाता है। अनेक अवस्थाओं में तो शायद यही होगा कि दूसरा गाल भी सामने कर देने पर चपत मारने वाला स्वयं ही लज्जित होकर आपसे क्षमा माँगेगा और उसकी क्षमायाचना पर आपका हृदय भी और अधिक निर्मलता तथा हलकेपन का अनुभव करेगा। हिन्दू धर्म में, मनु ने धर्म के दस लक्षणों में अहिंसा को सबसे पहला स्थान दिया है, यथा —

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

तथा बौद्ध और जैन धर्मों का तो उदय ही अहिंसा से हुआ है।

यहाँ कई प्रकार की शंकाएँ उठाई जा सकती हैं, जैसे—जब अहिंसा व्यक्ति के आध्यात्मिक और सामाजिक दोनों प्रकार के जीवन के लिए इतनी आवश्यक वस्तु है तो संसार में हिंसा का इतना प्रसार क्यों है? क्या इससे हिंसा की ही स्वाभाविकता सिद्ध नहीं होती? कहा गया है—"जीवो जीवस्य जीवनम् (अर्थात् भोजनम्)"। तब क्या वास्तव में संसार से हिंसा का लोप हो सकता है? क्या युद्धों में लोग लड़ना छोड़ देंगे और क्या हमारे न्यायालयों में अपराधी को दंडित नहीं किया जाएगा? तब हमारे राम और कृष्ण ने इतनी हत्याएँ क्यों कीं, यहाँ तक कि छल द्वारा भी उन्होंने प्रतिपक्षियों का वध किया और करवाया?

परन्तु यदि ध्यान से देखा जाए तो इन शंकाओं में सार कुछ नहीं है। ऊपर बतलाया गया है कि जहाँ तक मनुष्य-समाज का सम्बन्ध है,

लगभग सभी प्रकार की हिंसाओं का मूल मानसिक हिंसा में, अर्थात् पर-पीड़ने की वृत्ति में है जिसमें खुदी का भाव रहता है। जहाँ खुदी का तुलनात्मक भाव न होने के कारण पर-पीड़न की वृत्ति नहीं होती वहाँ हिंसा भी नहीं होती। खुदी का सर्वांशतः त्याग देने वाले का जीवन उसका खुद का जीवन न रह कर विश्व-जीवन का रूप बन जाता है। फलतः उसके द्वारा आचरित अहिंसावृत्ति भी अमुक प्राणी को लक्ष्य करके नहीं, बल्कि विश्वजीवन का लक्ष्य करके होती है—विश्वजीवन की रक्षा उसका लक्ष्य होता है। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए, फिर उसका यह कर्तव्य भी हो जाता है कि विश्वजीवन को विध्वस्त करने वाले जो कोई भी तत्व उदित हों उनका वह उन्मूलन करे। धर्मशास्त्र में आततायी का वध करना पाप नहीं, पुण्य है। आततायी वह होता है जिससे संसार का हित तो किसी अंश में भी नहीं होता, अहित अधिकांश में या सर्वांश में होता है। रावण, बालि, कंस, जरासन्ध आदि और उनके साथी घोर आततायी थे। उनका वध करने के लिए यदि कहीं छल भी आवश्यक था तो वह प्रयोज्य था, क्योंकि उसके द्वारा लोक-जीवन की रक्षा होती थी। शेर, भेड़िए आदि आततायी जीव हैं। इनसे दूसरे जीवों को केवल हानि ही पहुँचती है। अतः मृगया या आखेट करना भी राजा का धर्म माना गया है। राजा इन पशुओं का आखेट करता है अपने किसी वैमनस्य के कारण नहीं, उन्हें पीड़ा पहुँचाने की वासना से नहीं, बल्कि लोक-जीवन की रक्षा के लिए। इसी भाँति न्यायासन पर बैठा हुआ जज अपराधियों को दंड देते समय अपराधियों से परिचित तक नहीं होता; इसलिए उसमें खुदी की भावना का लेश तक नहीं होता। इस प्रकार खुदी के भाव से बहिर्गत, लोकजीवन की रक्षा के लिए किया गया हिंसाकर्म, मानसिक हिंसा की नींव पर स्थित न होने के कारण, हिंसा नहीं बल्कि व्यापक अहिंसा का ही दूसरा रूप बन जाता है।

रही बात निम्न प्राणियों की। सो, "जीवो जीवस्य जीवनम्" ठीक है। निम्न योनियों के जीव अपनी प्राकृतिक आवश्यकतावश निर्विकल्प भाव से दूसरे जन्तुओं को मार कर खा जाते हैं। प्रकृति ही उनसे बलात् ऐसा कराती है, जिसके कारण उनके कर्म में से उत्तरदायित्व का लोप हो जाता है। हम देखते हैं कि हिंसा का रूप भी केवल एक ही प्रकार का, उदर-पोषण के भक्षण का ही होता है। उसमें खुदी के अहंकार का और पर-पीड़न के भाव का आरोप नहीं होता। वे तो यह तक नहीं जानते कि वे किसी का वध कर रहे हैं, अथवा वध क्या होता है। मनुष्य भी किसी समय वनचारी मांसभक्षी पशु था। परन्तु उसमें विवेकशक्ति थी जिसका विकास होने पर उसने जीवनधारण के अन्यान्य उपायों को खोज निकाला और पारस्परिक सहयोग की भावना को लेकर समाज का निर्माण कर लिया। वह यह समझने लगा कि जैसे मुझे पीड़ा होती है वैसे ही दूसरे को भी होती है। उसने अपनी इस नेक समझ का प्रयोग-प्रसार पशु-पक्षियों के जगत् तक में किया और जो जीव पर-पीड़क नहीं थे उन्हें वह प्यार से पालने लगा। गाय, भैंस, कुत्ता, घोड़ा जैसे उपयोगी जीवों से लेकर हिरन, मोर, तोता, मैना आदि तक को उसने पाला।

परन्तु हैरत होती है यह देख कर कि जिस विवेकशक्ति के द्वारा मनुष्य ने अपनी पाशव हिंसावृत्ति को परास्त कर समाज की सहयोग-भावना को जन्म दिया था उसी विवेकशक्ति का उपयोग बाद में वह, समाज की सुरक्षा पाकर, हिंसावृत्ति के नए-नए और अधिक बारीक रूपों में करने लगा। ये नए-नए रूप मानसिक हिंसा के थे जिनके परिणामस्वरूप हिंसा एक सुविहित योजना की वस्तु बन गई। स्वादतृप्ति के लिए उसने वधशालाओं की संस्था बना ली और आमोद के लिए शिकारगाह बनाए। निरीह पशु-पक्षियों को मारना "स्पोर्ट" कहलाने लगा। अपने साथियों, मनुष्यों, को मारने के लिए उसने लोभ, क्रोध, मद, मात्सर्यादि की सेना को बड़े यत्न से सुगठित किया और उसे "कूटनीति", "डिप्लोमैसी," "टैक्ट" आदि के

भारी-भरकम नाम देकर सम्मानित किया। "टैक्ट" और "डिप्लोमैसी" का इतना बहुमान हुआ कि पति-पत्नी और बाप-बेटों तक के सम्बन्धों में उसका आचरण होने लगा। यह आश्चर्य की ही नहीं, वेदना से रो पड़ने की बात है कि अपनी हिंसा में मनुष्य अन्ततः पशुओं से भी गया-बीता हो गया। अपनी हिंसा में कौटिल्य के पराक्रम और योजना के स्थायित्व का योग कर उसे जब अपनी बढ़ी हुई हिंसाशक्ति के लिए अधिक व्यापक क्षेत्र की आवश्यकता हुई तो विवेक के सुफलस्वरूप मनुष्य मनुष्य का ही शत्रु बन गया। विश्व की समस्त जीव-जातियों में ऐसा शायद कहीं भी नहीं होता शेर शेर को मार कर नहीं खाता और भेड़िया भेड़िये को नहीं; खटमल खटमल का खून नहीं चूसता और मच्छर मच्छर का नहीं। सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ प्राणी केवल मनुष्य की ही यह सुविशेषता है कि वह अपनी ही जाति के जीवों को खाता है और उसकी यह विशेषता त्यों-त्यों और अधिक बढ़ती जाती है ज्यों-ज्यों वह अधिकाधिक बुद्धिशाली और सभ्य होता जाता है। अपने पूर्वजों को जंगली और गँवार समझनेवाले आज के परम सभ्य और बुद्धि-वादी मनुष्य को देख लीजिए। आज मनुष्य को मनुष्य से जितना भय है उतना छोटे-छोटे कीड़े-पतंगों को अपने भक्षक जन्तुओं से नहीं।

और, इसीलिए आज अहिंसा पाठ की भी हमको सबसे अधिक आवश्यकता है। गान्धी जी ने किसी ढँग से अहिंसा की बात कही थी। परन्तु उनको शायद उसका सही प्रयोग न आया। फलत: उन्हीं के तथाकथित अनुयायियों में प्रायः हम आज के भारत के कुटिल से कुटिल और क्रूर से क्रूर हिंसकों को देख लिया करते हैं। अहिंसा की वृत्ति को अपनाने के लिए मनुष्य को अन्तर्मुखी होना और एक-एक चित्तवृत्ति पर पहरा देना आवश्यक है। यह भी बड़े अंश में जरूरी है कि हम भारतीय अध्यात्मवाद पर कुछ श्रद्धा रखते हुए यह सोचते रहें कि हमें अगले जन्मों में भी, इस जन्म की तरह, चपत खाते और खिलाते रहने की निरन्तर परम्परा कायम रख कर दुखी नहीं बने रहना है। हमें यह समझ रखना चाहिए कि यदि चपत खाने

में दुख है तो चपत खिलाने में दुगना-चौगुना दुख है, क्योंकि एक चपत खिला कर दो-तीन चपत खाने के लिए तैयार रहना भी बुद्धिमानी की ही बात है; हमें यह याद रखना चाहिए कि जिसके प्रति हम हिंसा करते हैं वह वधशाला की बकरी नहीं है; वह हमसे भी बड़ा हिंसक हो सकता है, इतना बड़ा कि आगे के जन्मों तक हमारा पीछा नहीं छोड़ेगा। इतना यदि हम सचाई के साथ हमेशा याद रख सकें तो अहिंसा में हमारा विश्वास धीरे-धीरे दृढ़ हो सकेगा और हम धीरे-धीरे अहिंसा के अभ्यासी बनने लगेंगे।

: ३ :

आदर्श शासन

वर्तमान जगत् में प्रजावर्ग के तरह-तरह के कष्ट, शासकों और शासितों के पारस्परिक संघर्ष, अथवा विभिन्नजातीय कलह को देखकर संसार-भर की शासनप्रणाली में किसी प्रकार की भारी सदोषता का सन्देह बहुत-से मनुष्यों को होना अस्वाभाविक नहीं है। तब वे मनुष्य अपने इर्द-गिर्द के शासनक्रम पर दृष्टिपात करते हैं और 'राम-राज्य', 'धर्मराज्य', की विकल स्मृति करके आदर्श शासन की किसी कामना और जिज्ञासा का संकेत देते हैं।

आदर्श शासन की कामना और जिज्ञासा आज ही की चीज़ नहीं है। हमारे प्राचीन धर्मशास्त्रों में इस जिज्ञासा का वैध और वैधानिक रूप हमें देखने को मिलता है। उससे भी पहले के साहित्य में हम उसे बिखरे हुए रूप में पा सकते हैं। रामराज्य तक में हम देखते हैं कि राजगुरु वसिष्ठ राम को राजा के कर्तव्यों का उपदेश देते रहते हैं। पाश्चात्य संसार में भी अब से दो हज़ार वर्ष पहले प्लैटो और उसके पूर्वज इस जिज्ञासा को उठा चुके हैं। परन्तु इसका यह आशय नहीं है कि इतने पहले के युगों में

भी विश्वव्यापी संघर्ष और कलह की वही परिस्थितियाँ रही होंगी जो कि आजकल मौजूद हैं। आजकल यदि मनुष्य पीड़ित होकर आदर्श शासन की कामना करता है तो पहले के युगों में शासनसंस्था के उदय की नई-नई समस्याओं के द्वारा तत्सम्बन्धी जिज्ञासा का पैदा होना स्वाभाविक था।

परन्तु क्या शासन स्वयं एक इतनी अनिवार्य संस्था है कि मनुष्य सदा ही, सुशासन में और कुशासन में, उसकी समस्याओं को लेकर चिन्तित होता रहे? क्या शासन के बिना मनुष्य समाज का काम नहीं चल सकता?

"शासन" कहने से शासक की स्थित स्वत:-सिद्ध हो जाती है, और "शासक" शब्द से किसी व्यक्ति या, अधिक-से-अधिक, एक छोटे व्यक्ति-समुदाय की कल्पना होती है। और, शासन तथा शासित के साथ ही साथ शासित की सत्ता भी अनायास-सिद्ध है। शासक और शासित मिलकर एक समाज की सम्भावना को उपस्थित करते हैं, अर्थात् समाज की सम्भावना में ही शासक और शासित की भी स्थिति है।

समाज वह होता है जिसमें व्यक्तियों को पारस्परिक रक्षा और अभ्युदय के उद्देश्यों को लेकर सर्वमतैक्य और सामान्य आचरण की प्रक्रिया होती है। सृष्टि में एक प्राणी के शत्रु दूसरे प्राणी हैं। जब बहुत से समान प्राणियों के लिए समान संकट की अवस्था होती है तो, कुछ तो सहजबुद्धि से और कुछ विवेक द्वारा, समाज का निर्माण होता है। धीरे-धीरे यह समाज विशाल और विशालतर होता जाता है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति का प्रत्येक दूसरे व्यक्ति से मिल-जुलकर उपाय-चिन्तन करना असम्भव हो जाता है; और तब सामूहिक आत्मरक्षा की प्रक्रिया में रुकावट पैदा होती है। ऐसी दशा में किसी ऐसे सूत्र या माध्यम की आवश्यकता होती है जो समाज का केन्द्र बन सके, जो सामाजिक उद्देश्य का संचालन करने में सब तरह से समर्थ हो। यह केन्द्र-व्यक्ति समाज का मार्गप्रदर्शक बन जाता है और समाज का उसमें विश्वास होता है, जिससे समाज उसके

मार्गप्रदर्शन को स्वीकार करता है। इस मार्गप्रदर्शन को, चाहो तो, आज्ञा कहलो; परन्तु वह आज्ञा उद्वेगकर न होकर सौख्यप्रद होती है। यही मार्गप्रदर्शन या आज्ञा शासन का रूप है और मार्गप्रदर्शन करने वाला केन्द्रव्यक्ति शासक होता है। हमने "लाल बुझक्कड़" के बहुत-से किस्से सुने हैं। गाँव वाले छोटी-सी बात होने पर लाल-बुझक्कड़ के पास जाते थे और बुझक्कड़ उनसे जो कुछ भी कह देता था उसे वे मानते थे। लाल-बुझक्कड़ की कहानी प्रारम्भिक शासक की कहानी है।

जो पशु किसी प्रकार की सामाजिकता में रहते हैं उनमें भी एक शासक होता है। मुक्त हरिणों और हाथियों को लोगों ने अकेले बहुत कम देखा है। ये, आत्मरक्षा की सहजबुद्धि की प्रेरणा से, अधिकतर यूथों में रहते हैं और प्रत्येक यूथ का एक यूथपति होता है। समस्त यूथ अपनी गतिविधि में अपने यूथपति का निर्भर अनुसरण करता है। दूसरे शब्दों में, यह यूथपति अपने यूथ का शासन करता है। शासक और शासित और शासन किसी भी सामाजिक प्राणिवर्ग के लिए अनिवार्य हैं। इनके बिना समाज चल नहीं सकता, समाज की कल्पना भी असम्भव है।

मनुष्य-समाज में शासन का स्वरूप धीरे-धीरे सभ्यता का भी स्वरूप बन जाता है क्योंकि मनुष्य, पशुओं की अभाँति, विवेकपूर्ण है। अपने विवेक द्वारा उसने आत्मरक्षा और पारस्परिक अभ्युदय के उसी उद्देश्य को लेकर जो शासन की भावना में निहित है, सभ्यता का विकास किया है। शासन की जो आवश्यकता सहजबुद्धि द्वारा समुदाय- वृद्धि के रूप में उदित हुई थी वह विवेक के सहयोग से सभ्यता का अंग बन गई। तब हम आजकल सभ्य और असभ्यशासन प्रणालियों की बात सुनने लगे।

सभ्य शासनप्रणाली में छोटी मोटी अन्य अनेक बातों के साथ-साथ आजकल हम विशेष रूप से यह देखने की इच्छा रखते हैं कि उसके अधीन शासितों के जीवन-यापन का स्तर कितना ऊँचा है तथा उन्हें, दूसरों का ध्यान रखते हुए, कार्य, व्यवसाय और वाणी की कितनी स्वतंत्रता

है। जीवन-यापन के स्तर (Standard of living) का पता हमें यह देख कर लगता है कि कोई व्यक्ति अपने ऊपर कितना खर्च करता है। बड़े समाज में प्रत्येक व्यक्ति के जीवनस्तर का पता लगाना असम्भव है। उसमें हम प्रति व्यक्ति के औसत खर्च का हिसाब लगा कर उसके स्तर का अनुमान करते हैं।

निस्सन्देह जिस समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने सुख के लिए अधिक-से-अधिक खर्च करने का सुअवसर हो तथा काम करने और बोलने की स्वतंत्रता हो उसका शासन आदर्श है। रामराज्य में शायद यही बात रही होगी। प्रजा के सभी लोग खूब सुखी रहते होंगे और बोलने की तो शायद उन्हें इतनी स्वतंत्रता रही होगी कि कोई धोबी का बच्चा भी राजा के घरेलू जीवन तक के सम्बन्ध में दोषनिरूपण कर सकता था। परन्तु औसत व्यक्तियों की बात कहने में यह भी हो सकता है कि यदि किसी समाज में एक व्यक्ति अपने भोजन-वस्त्र पर एक हज़ार रुपया प्रति महीना खर्च करता है और नौ केवल एक रुपया महीना, तो हम बड़े आराम से यह कह सकते हैं कि अमुक समाज बड़ा सभ्य और सुशासित है क्योंकि उसके प्रति व्यक्ति का औसत खर्च एक सौ एक रुपया प्रति महीना है।

और वस्तुतः होता भी ऐसा ही है। आजकल के अत्यन्त सभ्य शासित देशों के चित्रों को उठा कर देख लीजिए। एक ओर तो उनमें हमें अरबपतियों के मोटरों, फूलबंगलों या आकाशचुम्बी महलों तथा उनकी असंख्य प्रकार की नई-नई ऐयाशियों के दृश्य दिखलाई देते हैं और दूसरी ओर हम देखते हैं उन लोगों के दृश्य जो या तो इन अरबपतियों की ईर्ष्या में मजबूर होकर चोरी-डकैती आदि को कला की ओर राज्य के जेलखानों को समृद्ध करते हैं, या फिर जिन्हें, उनकी भलमनसाहत के कारण, बीमारी और बुढ़ापे में सवारी के लिए गधा भी मयस्सर नहीं है तथा जो सरदी और गरमी से त्राण पाने के लिए एक टूटी-फूटी झोंपड़ी भी नहीं पाते। परम

सभ्यों के परम आदर्श सुशासन का नमूना, दूर क्यों जाइए, भारतवर्ष में ही जगह-जगह देखने को मिल जाएगा।

आधुनिक सभ्यता के विकास में लम्बी-चौड़ी सेनाओं ने रातदिन के आक्रमण से मनुष्य को जब निश्चिन्त बना दिया तो धीरे-धीरे अर्थवाद का उदय होगया। भारत का प्राचीन अर्थशास्त्र राजनीति और धर्म से स्वतंत्र नहीं था; इसलिए वह अर्थवाद न था। परन्तु आजकल का अर्थशास्त्र स्वतंत्र है और वह राजनीति को अपनी परतंत्र बनाकर धर्म का बहिष्कार करता है। वही हमारे आज के जीवन का उद्देश्य बन गया है इससे हमारी सभ्यता में बड़े विकट रूप को लेकर व्यक्तिवाद का अभ्युदय हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति को केवल अपनी-ही-अपनी चिन्ता है और जो व्यक्ति अपनी चिन्ता करने में सबसे अधिक समर्थ है वह कम समर्थ व्यक्तियों को अपना गुलामेली बनाकर उनके जीवन पर शासन करता है। यहाँ तक कि राजा भी मध्यस्थ केन्द्रव्यक्ति की मौलिक सामाजिकता से रिक्त होकर अब केवल व्यक्तिमात्र रह गया है। अपनी वैयक्तिक परम सामर्थ्य में वह शासितों को अपना वश्य (Subject) बनाता है। शासितों के प्रति मौलिक प्रजा (सन्तति)-भावना का, जिसमें शासक और शासित में एक पारिवारिक सम्बन्ध की प्रतिष्ठा होती थी, वर्तमान अर्थवाद-व्यक्तिवाद की सभ्यता में एकान्त लोप होगया है। फलतः यह देखने में आता है कि आजकल की शासन-व्यवस्थाओं में जितने कानून बनते हैं उन सबमें प्रजा के कर्तव्यों का ही निर्देश रहता है, राजा या शासक के कर्तव्यों का नहीं। परन्तु भारतवासी तो कम-से-कम इतना अवश्य जानते हैं कि उनके प्राचीन नियमों, धर्मशास्त्रों में प्रजा के कर्तव्यों के साथ-साथ राजा के कर्तव्यों का भी निर्देश रहता था, क्योंकि उनकी पारिवारिक भावना में राजा प्रजा से अलहदा कोई एकान्त व्यक्ति नहीं था। हिन्दू धर्मशास्त्रों में राजा को यदि ईश्वर का प्रतिनिधि बतलाया गया है तो इसलिए ही नहीं कि सब लोग आँख बन्द करके उसकी भक्ति करें बल्कि इसलिए कि राजा

में ईश्वरीय गुणों का आधार होता है। मनु ने लिखा है कि जिस समय इस विश्व में अराजकता फैली हुई थी और समस्त प्राणी भयचकित होकर त्राण पाने के लिए इधर-उधर बेहाल भागते-फिरते थे तब प्रभु ने विश्व की रक्षा के लिए राजा का अवतार किया। उसके कर्तव्य की गुरुता के ध्यान से, भिन्न-भिन्न प्रकार की शक्तियों से उसे सम्पन्न करने के लिए, भिन्न-भिन्न देवताओं के अंश से भगवान् ने उसका निर्माण किया। इसीलिए राजा अपने तेज में महान् होता हुआ अराजक शक्तियों को अभिभूत करने, उनपर शासन करने, में समर्थ होता है।

अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥
यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥

मनु की इस व्याख्या में divine right of kings के नारे लगाने वाले आजकल के अर्थवादी राजा के स्व-व्यक्तित्व निर्देशक स्वार्थों और अधिकारों की बू भी नहीं दिखाई देती।

तब स्वाभाविक ही है कि आजकल के समय में इस तरह के प्रश्न कर्णगोचर हों - "राजा और प्रजा (अर्थात् Subjects) अथवा शासक और शासित का पारस्परिक सम्बन्ध क्या और किस प्रकार का है; "राजा का अस्तित्व प्रजा के लिए है, अथवा प्रजा का अस्तित्व राजा के लिए आदि। यह भी स्वाभाविक ही है कि एक व्यक्ति के द्वारा अनेक व्यक्तियों का शोषण और उत्पीड़न होने के कारण जनता की आवाज में पूँजीवाद को चेतावनी और साम्यवाद की गर्जना सुनाई दे। और यह भी स्वाभाविक ही है कि इन सब आवाजों के साथ-साथ साध्य रूप में "लोकतंत्र"

"राजतंत्र" आदि की गवेषणा में आदर्श तन्त्र-व्यवस्था की टटोलबाजी तेज होती रहे।

हम देखते हैं कि इस प्रश्न तथा इस प्रश्न से सम्बद्ध अनेकानेक समस्याओं का अब से दो-तीन शताब्दी पहले पाश्चात्य देशों में भी करीब करीब अभाव सा ही था। भारतीय भारत के इतिहास में तो उनका सदा ही बिल्कुल अभाव रहा। और हम यह भी देखते हैं कि उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी की उन्नतिशालिनी द्रुतगामिनी सभ्यता इन समस्याओं और प्रश्नों का कोई समाधान अभी तक नहीं ढूँढ़ पाई है, प्रत्युत उसने इन्हें अधिकाधिक जटिल ही बनाया है। क्या इस तरह के प्रश्नों से समस्या का वस्तुतः कोई समाधान मिलनेवाला है, अथवा यह केवल एक अरण्य-रोदन, कोरी बहसबाजी ही है? इंग्लैंड के कवि पोप ने कहा था—

"For forms of government let fools contest,
Whatever is best administered is best."

अच्छा शासन क्या है, इसके सम्बन्ध में तो पोप ने कुछ नहीं बतलाया, परन्तु वर्तमान समय के समस्यावाद को मूर्खों की "तू-तू-मैं-मैं" कहकर उसकी निरर्थकता को उसने असंदिग्ध रूप में गर्हित कर दिया है। मूर्खों ही की क्यों?—कहना तो चाहिए, धूर्तों और मूर्खों की। पूंजीवादी सत्ताधारी व्यक्तिवादी धूर्त असमर्थों को वाग्जाल में फँसा लेते हैं और असमर्थ जनसंख्या मूर्ख बन कर उस वाग्जाल में फँस जाती है। दो-चार रोटी के भूखे जब आपसे रोटी माँगने आते हैं तो आप उनसे पूछते हैं — "मिठाई लोगे कि नमकीन, अथवा फल?" और फिर आप उन्हें फल अथवा मिठाई या नमकीन की वांछनीयता पर बहस करने के लिए प्रोत्तेजित कर देते हैं। यदि मिठाई का स्वाद हृद्य होता है और सुखांगों के लिए अनुद्वेगी है तो नमकीन रुचिवर्धक और शीघ्रपाच्य है; परन्तु फलों में विटामिन होते हैं जिनसे शरीर के तत्वों की पुष्टि होती है। परिणाम

यह होता है कि मूर्ख भूखे म्रियमाण अवस्था को प्राप्त होने तक आपस में हुज्जत करते रह जाते हैं और बाद में या तो अशक्त होकर नष्ट हो जाते हैं या हुज्जत छोड़ कर पुनः ऐकमत्य के संगठन को चेष्टा करते हैं।

संसार में अभी तक जिन भिन्न-भिन्न शासन विधियों का परिचय मिला है उनके तीन मोटे-मोटे वर्ग इस प्रकार देखने में आते हैं (१) राजतंत्र (autocracy), जिसमें एक ही व्यक्ति में समस्त शासनाधिकार निहित रहता है, (२) अल्पजनतंत्र (oligarchy) जिसमें कुछ लोग मिल कर शासनकार्य की व्यवस्था करते हैं, तथा (३) सर्वजनतंत्र अथवा प्रजातंत्र (democracy) जिसमें समस्त प्रजा की सामूहिक मति से निर्वाचित होकर शासक संस्था का निर्माण होता है। प्रजातंत्र में सर्वजनमत से ही यह शासक-संस्था, अपने कर्तव्यों से स्खलित होने पर पदच्युत भी की जा सकती है।

देश काल के भेद से भिन्न भिन्न स्थानों में इस सब शासनप्रकारों के अनेक भेद-उपभेद देखने में आते हैं। उदाहरणार्थ, आजकल के अपने को प्रजातंत्रवादी कहने वाले राष्ट्रों में इङ्गलैंड, अमरीका और फ्रांस का स्थान प्रमुख है। परन्तु इन तीनों में ही प्रजातंत्र के तीन प्रकार के रूप देखने को मिलेंगे। तथापि, चाहे राजतंत्र हो या किसी भी प्रकार का जनतंत्र, प्रत्येक के ही शासनसूत्र में एक शीर्षपुरुष का होना तो अवश्यम्भावी है ही जनतंत्रों में भी कोई-न-कोई व्यक्ति सभापति या राष्ट्रपति का स्थान ग्रहण करता ही है। निस्सन्देह वह व्यक्ति जनमत से नियंत्रित रहता है; परन्तु शीर्षपुरुष के नाते वह प्रत्येक अन्य व्यक्ति तथा अपने सहकारियों की अपेक्षा किसी भी विशिष्ट अधिकारशक्ति का उपयोक्ता और उपभोक्ता भी रहता है।

संसार में इन नानारूप शासनप्रणालियों का प्रयोग होते हुए भी, क्या कारण है कि वर्तमान शताब्दियों में किसी भी देश की सामान्य जनता अपने को पूर्ण सुखी नहीं पाती और, पोप के कथनानुसार, सर्वत्र नए-नए

शासन प्रयोगों की चर्चा चलती ही रहती है। अधिकांश जगत् में सर्वसाधारण शासितवर्ग असन्तुष्ट क्यों बना रहता है! निस्सन्देह तथाकथित जीवन स्तर के ऊँचा उठ जाने पर भी, या उसके ऊँचा उठ जाने के ही कारण, व्यक्तियों के जीवन में अभावों की संख्या कम नहीं हुई है — प्रत्युत वह अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है। जीवनस्तर की ऊँचाई के साथ ही साथ घोर अर्थवाद और व्यक्तिवाद की जो समुन्नति हुई है उसके कारण शासक — भले ही वह प्रजातंत्र का सभापति ही हो— सबसे विच्छिन्न एक व्यक्तिमात्र रह गया है और शासित भी केवल व्यक्ति-ही-व्यक्ति है। शासितों में से आपस की सामूहिक भावना का लोप हो गया है फलतः शासक या शासकवर्ग को शासितवर्ग का कोई सहयोग प्राप्त नहीं। जहाँ शासक और शासित में इस प्रकार के सम्बन्ध परिणत हो जाएँ वहाँ सुशासन या आदर्श शासन की चर्चा आकाश-कुसुम की चर्चा हो जाती है।

आदर्श शासन में शासितों का अनायास, अयाचित, सहयोग पहली शर्त है। उस सहयोग में शासक और शसित की पारस्परिक पारिवारिक भावना रहेगी, जिसमें शासनकर्म का जितना ही उत्तरदायित्व शासक के ऊपर होना उतना ही, या उससे अधिक, शासितों की सद्भावना और सत्प्रेरणा पर भी रहेगा। यह तभी तक हो सकेगा जब तक कि शासक शासित का पूर्ण विश्वास-भाजन रह सकेगा; और ऐसा होना तभी सम्भव है जब कि शासक व्यक्तिवाद का शिकार न बन कर अपने को जनता का जन समझे, अपने को उसका सेवक-नेता बनावे। सिद्धान्त रूप में सब प्रकार के तंत्रवाद किसी अंश में इस बात को शायद स्वीकार कर लेंगे; परन्तु इसकी सिद्धि के लिए उपाय क्या किया गया है?

यह मानने में तो शायद किसी को कोई आपत्ति न होगी कि जिस वांछनीय पारिवारिक भावना की बात कही गई है वह जातीयता-राष्ट्रीयता के साथ-साथ चलती है। आज के सभ्य संसार में भी कहीं-कहीं यह देखने में आरहा है कि एक जाति दूसरी जाति पर हुकूमत करती है या जहाँ वह

हुकूमत नहीं करती वहाँ, कम से कम, किसी-न-किसी रूप में उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा करती है। अर्थात् व्यक्तिवाद के पिशाच ने अर्थवाद की मदिरा पी-पी कर अपने सिर में चार सींग और बढ़ा लिए हैं और जातीय व्यक्तिवाद का भीषण रूप ग्रहण कर लिया है। ऐसी दशा में सुशासन हो ही नहीं सकता। सुशासन के उपाय तभी प्रयोजनीय हो सकते हैं जब कि शासक और शासित दोनों ही एक ही जातीय-राष्ट्रीय भावना से सुपुष्ट हों।

जब शासक और शासित का ऐसा समाज होगा और शासन के उत्तरदायित्व में प्रत्येक व्यक्ति का सम भाग रहेगा तो सुशासन की पहली आवश्यकता, आत्मरक्षा- समाजरक्षा, की साधना में भी प्रत्येक व्यक्ति का आवश्यक योग रहना स्वाभाविक है। ऐसे समाज में किराए के टट्टुओं की सेना बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी; उसका प्रत्येक पुरुष प्रत्येक स्त्री भी कहा जाए तो क्या बुराई है—योद्धा होगा; और उसने प्रत्येक स्त्री पुरुष के इस कर्त्तव्य का प्रेरक राजकोष से प्राप्य किसी वेतन का लोभ न होगा—सामूहिक आत्मरक्षा का आग्रह ही उसे प्रेरणा देगा। शासक का कर्तव्य यह होगा कि वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए युद्ध-शिक्षा को सुलभ बनाए और यह देखे कि कोई व्यक्ति उस शिक्षा से वंचित तो नहीं रहता है।

यथार्थ में वेतन प्राप्त करके राजसेवा या किसी की भी सेवा करना कोई व्यवसाय नहीं है। परन्तु अर्थवाद की वृद्धि में जब से जनसाधारण के लिए व्यवसायों की कमी हो गई तब से दूसरे की सेवा सामान्य व्यक्ति के जीविकोपार्जन का साधन बन गई है। वेतन लेकर काम करने में वेतन ही उद्देश्य रहता है, वेतन भोगी वेतन देने वाले का भृत्य बन जाता है और वेतन देने वाले की रुचि को तृप्त करना उसका कर्तव्य होता है। इसमें राष्ट्र की सामूहिक भावना की अत्यन्त हानि है। नियोजक और नियुक्त दोनों ही में अलग-अलग ढंग से व्यक्तिवाद का रूप प्रबल होता जाता है जिससे फिर यह भी होता है कि नियुक्त, केवल वेतन का

ही उद्देश्य सामने रखता हुआ, नियोजक के प्रति भी निष्कपट नहीं रह पाता। वेतन मात्र का ही एकान्त उद्देश्य बन जाने से नियुक्त या नियोज्य को अपनी कर्म-सम्बन्धी योग्यता-अयोग्यता का भी विचार नहीं होता। उधर शासक भी अपने व्यक्तिगत रुचि वैचित्र्य या स्वार्थोद्देश्य में कर्म की महत्ता को तिरस्कृत कर स्वोपयोगी, यद्यपि अनुपयुक्त, व्यक्तियों को नियुक्त करने में नहीं हिचकिचाता। इससे शासन की मूल सामूहिक-पारिवारिक भावना को दूसरी बड़ी भारी हानि होती है। अतएव, सुशासन के लिए योद्ध कर्म में ही नहीं, प्रत्युत किसी भी कर्म में वेतनभोगी कर्मचारियों की नियुक्ति सबसे बड़ी दुर्घटना है। इस दुर्घटना का परिहार तभी हो सकता है जब कि जीविकोपार्जन के लिए नौकरी करना व्यक्तियों को मजबूरी की बात न हो। और ऐसा होना उसी सूरत में सम्भव है जब कि भिन्न-भिन्न व्यवसाय प्रत्येक व्यक्ति के लिए खुले हों — राज्य कर्मचारी शासन की भावना के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझते हुए अपनी-अपनी योग्यतानुसार उपयुक्त कर्म में नियोजित होकर अवैतनिक रूप से काम करें तथा जीविकोपार्जन के हेतु, अपनी योग्यतानुसार ही, वे अपने-अपने व्यवसाय पसन्द करने के लिए स्वतन्त्र हों। इन कर्मचारियों के कर्तव्यों का इस तरह विभाजन होना चाहिए कि उन्हें अपने कर्तव्यों के पालन के अतिरिक्त निजी व्यवसायों के लिए भी काफी समय बच सके।

आजकल की मशीनों ने निस्सन्देह साधारण मनुष्य के व्यवसाय को छीन लिया है। किसी देश की अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अधिकांश प्रकार की मशीनें आवश्यक भी नहीं हैं, और यदि संसार के समस्त राष्ट्र आदर्श शासन की प्रणाली पर चलने लगें तो किसी भी राष्ट्र को दूसरे किसी राष्ट्र के ऊपर अपनी आवश्यकताओं के लिए निर्भर न रहना पड़े। परन्तु यह एक असम्भव कल्पना है और जो राष्ट्र अपनी पारिवारिक भावना में अधिक समुन्नत हैं वे कम उन्नत या अनुन्नत राष्ट्रों की आवश्यकताओं के, और इस प्रकार अपनी व्यवसायोन्नति के लिए विभिन्न वस्तुओं का अधिक से

अधिक परिमाण में उत्पादन करने में उद्योगशील होंगे ही। मशीनों के द्वारा बहुत अधिक उत्पादन बहुत थोड़े समय में कर लिया जाता है। साथ ही कुछ प्रकार की मशीनें वर्तमान परिस्थितियों में नितान्त आवश्यक भी हैं, जैसे छपाई की या सूई, दियासलाई आदि बनाने की मशीनें। अतः यह कहना कूपमंडूकता का ही उदाहरण होगा कि आदर्श शासन में लोगों के स्वतंत्र व्यवसायों की खातिर मशीनों का एकदम बहिष्कार हो जाए। मशीनों के होते हुए भी लोगों के लिए व्यवसाय खुले रह सकते हैं केवल वे ही उत्पाद्य जो अन्य किसी प्रकार से पैदा नहीं किए जा सकते यथा सूई, दियासलाई आदि मशीनों द्वारा उत्पन्न किए जाएँ। मशीन के कारखाने किसी एकाध व्यक्ति की ही सम्पत्ति न होकर राज्य द्वारा संचालित हों और राष्ट्र के अधिक से अधिक व्यक्ति उनके हिस्सेदार हों। इन कारखानों में काम करनेवाले व्यक्तियों को वेतन न दिया जाकर समय समय पर उनके कर्म के महत्व के अनुसार बोनस मिला करे। इन कर्मचारियों को भी अपने अपने स्वतंत्र व्यवसायों का पालन करने के लिए काफी समय मिलना चाहिए।

वेतन की भाँति ही किसी प्रकार के राजानुग्रह का भी आदर्श शासन में कोई स्थान न होगा। राजानुग्रह व्यक्तिवाद को बढ़ाता है। एक ओर वह अनुगृहीत में स्पर्धा की भावना को तीव्र करता है और दूसरी ओर राजा या शासक को एक ऐसा विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करता है जिससे जनता के व्यक्तियों को उसका मुखापेक्षी होकर उसे प्रसन्न करते रहने तथा उद्देश्यभ्रष्ट करने के उपायों की शिक्षा मिलती है। आदर्श शासन का सिद्धान्त तो इसके बिलकुल विपरीत "शासक शासितों के लिए है" का सिद्धान्त है, जिसमें शासक शासितों पर अनुग्रह करने वाला नहीं बल्कि शासितों के अनुग्रह का पात्र होता है।

आदर्श शासन में लोगों के पास आत्मरक्षा के साधनों का होना परम आवश्यक है। उस शासन की प्रजा कैसे सुखी रह सकती है जिसमें घर के भीतर चोर के घुस आने पर व्यक्ति को भयभीत होकर कोने में छिप जाना

पड़ता है और चोरी करवा लेने के बाद महीनों या बरसों तक अपमान सहते हुए कोतवालियों या अदालतों के दरवाजे टटोलने पड़ते हैं। आदर्श शासन का न्याय विधान भी अत्यन्त सुकर तथा सुलभ होगा और महँगा न होगा। ऐसा न्याय विधान जनता के सहयोग से ही बन सकता है। पारिवारिक भावना की उदारता से सुशासित राष्ट्र की पुलिस भी जनता के विश्वास पर ही स्थित होगी। जनता के विश्वास पर ही उसकी नियोगविधि और प्रगति का निर्धारण होगा। पुलिस और न्याय का लक्ष्य एक ओर जहाँ अपराधी को दंड देना होगा वहां दूसरी ओर उनकी यह मुख्य चेष्टा होगी कि, जहाँ तक हो सके, अपराध होवें ही नहीं। पारिवारिक भावना के पोषक तत्वों को प्रोत्तेजना मिलने पर राष्ट्रीय समाज में अपराधों की सम्भावना वैसे ही बहुत कम रहेगी। अपराध अधिकतर अपनी या दूसरे की व्यक्तिभावना से ही प्रेरित होते हैं। आदर्श शासन तो व्यक्ति-भावना को उस सीमा तक ही सहन कर सकेगा जहाँ तक कि वह परिवार-भावना की भी पोषक होगी।

जिस शासन में उपर्युक्त सब बातें होंगी उसे अपनी आय के लिए असुखी और असन्तुष्ट शासितों से कर वसूल करने के लिए झूठे बहाने और अत्याचार न करने पड़ेंगे। ऐसे शासन का खर्च बहुत कम होगा और उसकी आय खर्च से बहुत अधिक होगी, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति खाता-कमाता होगा और पारिवारिक भावना से प्रेरित होकर स्वयं ही अपनी आमदनी के अनुपात से नियत कर देने के लिए तत्पर रहेगा।

रामराज्य देखना तो वर्तमान ढँग की सभ्यता के किसी व्यक्ति के नसीब में बदा नहीं था, पर प्रश्न यह है कि जिस प्रकार के आदर्श शासन की कल्पना यहाँ की गई है वह भी क्या कभी देखने को मिल सकता है। शायद नहीं। क्योंकि हमारी हरी भरी सुखी मौजूदा सभ्यता ने अर्थवाद और व्यक्तिवाद को जिस व्याप्ति के साथ हमारी नस-नस २ में बसा दिया है उसका दूर होना अब ईश्वर के ही किसी चमत्कार पर अवलम्बित दीखता है। परन्तु इतना निःसंकोच कहा जा सकता है कि यदि कभी ऐसे शासन

का आभास भी प्राप्त हो जाए तो उस समय प्रजातंत्र और लोकतंत्र और यह-तंत्र और वह-तंत्र की पुकार फिर नहीं सुनाई देगी, जैसे कि वह राम राज्य में नहीं सुनाई देती थी।

: ४ :

वर्तमान हिन्दी

यों तो वर्तमान हिन्दी, अर्थात् खड़ी बोली, का सूत्रपात अब से छै-सात-सौ वर्ष पहले ही हो चुका था और गत शताब्दी के आरम्भ से अंग्रेजों की शासन-सम्बन्धी आवश्यकता के कारण, उसकी सामाजिकता की नींव भी पड़ने लगी थी, परन्तु उसकी सामाजिक, प्रतिष्ठा वस्तुतः उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त भाग में ही हुई है। कोई भाषा सामाजिक भाषा तभी होती है जब उसमें साहित्यिक चेतना का उदय होता है। साहित्यिक चेतना सामाजिक व्यक्तियों के सांस्कृतिक विनिमय, उनकी सांस्कृतिक परस्परता, और उनके आत्मप्रसारण की चेतना है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तभाग में भारतेन्दु के नेतृत्व से सामाजिक साहित्यिकों का एक ऐसा समुदाय-सा उद्भूत हुआ जिसे धुन और लगन थी और जो समय की भावनाओं का योग ग्रहण कर अपनी संस्कृति और भाषा के उद्धार-कर्म में जुट गया और जुट रहा।

सौभाग्य से वह समय भी बड़ा अनुकूल था। गदर की हलचल से निबटने के बाद समाज में स्थिरता आगई थी। रेल और डाक की व्यवस्था से व्यवहार-पारस्परिकता के क्षेत्र का विस्तार हो चुका था। सैनिक विद्रोह ने यदि जनता के हृदय में राष्ट्रीय भावना की कुछ जड़ जमाई होगी तो उसकी विफलता से जनचेतना में सामाजिक और सांस्कृतिक वांछा का भी कोई अंकुर पैदा हुआ होगा। 'उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में हिन्दी-भाषाओं का बंग-साहित्य से भी थोड़ा-बहुत सम्पर्क हो गया था, जिसमें लालित्य के

साथ-साथ राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव हो चला था। बिहार से लेकर राजपूताना के पश्चिमान्त तक तथा उत्तर पंजाब से लेकर मध्य प्रदेश तक जनता की सामाजिक भाषा का सिंहासन खाली पड़ा हुआ था। ब्रजभाषा बीत चुकी थी और उसमें गद्यात्मक लोक-व्यवहार की सर्वसामाजिकता न थी। इस अवस्था में अंग्रेजों से उपलालित खड़ी-बोली-हिन्दी गद्य-व्यवहार की सामयिक प्रेरणा को लेकर भारतेन्दु-प्रभृति संस्कृति-सामाजिकों के उद्योग से सिंहासन पर बिठा दी गई। उसकी कोई प्रतिद्वन्द्विनी न थी। उसकी प्रारम्भिक कर्मठता गद्य में ही थी। पद्य में अभी ब्रजभाषा का स्मृतिसंस्कार चलता रहा। परन्तु बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से खड़ी बोली ने, अपनी सामाजिक गद्यप्रतिष्ठा में सफलता प्राप्त कर, पद्य में भी अपनी योग्यता भली भाँति प्रदर्शित करनी आरम्भ कर दी।

परन्तु एक तो इसलिए कि खड़ी बोली की यह प्रतिष्ठा अभी नई ही थी, जिसे अपनी पूर्ण शक्ति के संग्रह के लिए कुछ कालक्रम की अपेक्षा होनी ही चाहिए थी—*उसका क्षेत्र भी तो कितना विशाल था*—और, दूसरे, शायद इसी कारण से कि भारतेन्दु-युग के बाद, कदाचित् राजनीतिक प्रोत्तेजना का कुछ अभाव-सा हो जाने से, खड़ी बोली की सामाजिकता में से राष्ट्रीयता का उद्दीपन थोड़ा-बहुत अवश्य शिथिल हो गया होगा, बीसवीं शताब्दी के प्रथम पाद में खड़ी बोली की प्रगति अधिक तेज न रही। यदि इस समय में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की "सरस्वती" न निकलती होती तो यह प्रगति शायद और भी शिथिल होती। इस जमाने में हिन्दी (खड़ी बोली) इतनी स्वावलम्बिनी न हो सकी थी कि वह बिना किसी प्रेरक के, अपने ही आवेग से, आगे बढ़ती चलती। इस प्रेरणा की सन् १९१८ तक उसे जरूरत पड़ती है जबकि मुंशी प्रेमचन्द के 'सेवासदन' ने उसमें उपन्यास-प्रसंग से एक नई जिज्ञासा-प्रवृत्ति पैदा करके, उसकी गति के लिए एक प्रकार की एड़ का काम किया था। सामाजिक-व्यावहारिक साहित्य में उपन्यास का स्थान तो सर्वप्रथम रहता ही है।

सन् १६१८ से ही भारत के लिए सामान्य रूप से और हिन्दी के लिए विशेष रूप से एक संक्रमणयुग का आरम्भ हो जाता है जो अभी तक चल रहा है। सन् १६१८ से यूरोपीय युद्ध की समाप्ति हुई और युद्ध में सहयोग देने वाले भारतवासियों को अंग्रेजी शासन की प्रतिज्ञाओं के आधार पर अपनी भाग्योन्नति की आशा हुई। जब किन्हीं कारणों से वह आशा पूर्ण न हो सकी तो असन्तोष हुआ और राष्ट्रीय आन्दोलन आरम्भ हुए। परिणाम में जलियानवाला बाग की घटना हो गई और असहयोग-आंदोलन उमड़ उठा। असहयोग-आन्दोलन में एक भयंकर भूचाल का आवेश था। देखते-देखते सारे देश में एक बिजली सी दौड़ गई।

उस बिजली की लहर में बहुतों को पता होगा, लोग खड़े-खड़े कवि और लेखक बन जाते थे। एक सज्जन ने, जिन्होंने अपने जीवन में शायद घरेलू चिट्ठियों के अतिरिक्त और कुछ कभी भी नहीं लिखा होगा, दो घंटे की तल्लीनतापूर्ण बैठक में "बोल गई माइ लार्ड कुकड़ूँ कूँ" नामक एक सोलह-पेजी प्रचार-काव्य लिख डाला था। इस प्रकार की न मालूम कितनी काव्यपुस्तिकाएँ उस समय लिखी गई थीं और वे इतनी बहुप्रचारित हुईं कि जहाँ तक याद है, 'सेवासदन' की ही भाँति "माइ लार्ड कुकड़ूँ कूँ" की भी फरमाइश लोग एक दूसरे से किया करते थे। उस समय कहानी, उपन्यास और नाटक को भी विशेष उत्तेजना मिली जिनमें नाटकों का उद्गम मुख्यरूप से उस पंजाब से हुआ, जिसमें सदियों से कोई सामाजिक-साहित्यिक विरासत का रूप न देखा गया था। उन दिनों तीसरा प्रकार दार्शनिक ढँग की राजनीतिक पुस्तकों का था जिनकी भाषा युद्धक्षेत्र की भाषा थी। चतुरसेन शास्त्री का "सत्याग्रह और असहयोग" ऐसी पुस्तकों में प्रमुख है। चौथे प्रकार की पुस्तकें वे थीं जो उस समय के प्रश्नों का ऐतिहासिक रूप से विवेचन करती थीं। "खादी का इतिहास" "असहयोग का इतिहास" आदि पुस्तकें इसी श्रेणी की हैं। सारांश यह है कि जो या जिस प्रकार की भी पुस्तक उस समय लिखी जाती थी उसके कर्तृत्व में एक

ही सामान्य प्रेरणा काम करती थी—देशप्रेम और देशोद्धार। पढ़ने वालों में भी यह प्रेरणा इतनी बलवती थी कि जो-कुछ भी उसके नाम पर लिखा जाता था उसका सहज ही में स्वागत कर लिया जाता था।

१९१८ की युद्ध समाप्ति के बाद से ही पाश्चात्य विचारों की संक्रान्ति भी भारत में एक दम से हुई। स्वयं युद्धोत्तर पश्चिम-जगत् में भी एक नई विचार क्रान्ति पैदा हो गई थी। पश्चिम की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक विचारधाराओं से सम्बद्ध साहित्य की ओर भारतीय जनता का कौतूहल सजग हो उठा। विश्व-इतिहास के प्रवर्तनों को जानने की प्रवृत्ति भी पैदा हुई। विभिन्नदेशीय लोकसेवियों, राष्ट्रसेवियों, शहीदों के जीवन-चरित्रों की माँग होने लगी। शुद्ध साहित्यके क्षेत्रमें 'सेवासदन' के द्वारा नए ढँग के साहित्यिक औत्सुक्य का प्रादुर्भाव होने पर पाश्चात्य ललित साहित्य का पठन-पाठन और तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों की जिज्ञासा का भी प्रचार हुआ। पाश्चात्य साहित्य इस समय तक खूब समस्यात्मक हो चुका था। इधर भारत में भी समस्याओं की कोई कमी नहीं थी। पश्चिम की अपेक्षा तो वे अत्यन्त अधिक ही थीं—गार्हस्थ, सामाजिक और राष्ट्रीय। समस्यापूर्ण भारत के लिए उसके शासनकर्ता सभ्य स्वतन्त्र यूरोप के समस्यात्मक साहित्य की बड़ी अपील रही होगी। उन दिनों सबसे पहले राष्ट्रीय समस्याओं पर ध्यान जाना स्वाभाविक था। असहयोग-आन्दोलन के शान्त हो जाने के बाद जहाँ राष्ट्रीय समस्याओं की विचारणा कुछ-कुछ स्वभाव-सी बन कर ज़रा मन्दगति हुई वहीं सामाजिक और गार्हस्थ समस्याएँ साहित्य की मुख-पेक्षी बन गईं। अतः हम देखते हैं कि १९१८ के, विशेषतः १९२० के, बाद का अधिकांश साहित्य एकदम समस्यात्मक है। १९१८ में छपने वाला प्रेमचन्द का 'सेवासदन' स्वयं एक समस्यात्मक उपन्यास है। वैसे तो भारतीय समाज की समस्याओं पर साहित्यिक रूप से दृष्टिपात करने वालों में भारतेन्दु का नाम ही अग्रगण्य है; परन्तु हम देख चुके हैं कि उनके बाद हिन्दी-साहित्य कुछ उदासीन-सी प्रगति के साथ आगे बढ़ा है। अतः नए

संक्रमण-युग में समस्यावाद का सूत्रपात करने वाले प्रेमचन्द ही हैं, जिनका पाश्चात्य उपन्यासों का अध्ययन भी विशाल था। इस समस्यावाद की स्थिर प्रतिष्ठा उस समय के राष्ट्रीय आन्दोलन तथा विचार-संक्रान्ति द्वारा हुई।

प्रेमचन्द के इस पहले उपन्यास की प्रणाली भी अब तक चली आती हुई केवल घटना-गणनात्मक उपन्यास-प्रणाली से भिन्न थी और, यह कहा जा चुका है कि, उसके प्रकाशन से हिन्दी जनता में साहित्यकला-सम्बन्धी एक नई उत्सुकता-जिज्ञासा पैदा हुई थी। अतः संक्रान्तिफल में आयात पश्चिमी विचारधाराओं में साहित्य और कला की नवीन विवेचना का भी स्थान रहा। अभी तक साहित्यिक विवेचना का रूप पं महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रचारित 'सरस्वती' वाला रूप था, जो अधिकतर वाह्यार्थनिष्ठ (objective) ही था। प्राचीन रस-सिद्धांत के आधिकारण्य (Subjectivity) को लोग हजार-आटसौ वर्ष से भूल चुके थे। नवीन विवेचना-प्रणाली अधिकरणनिष्ठता को लिए हुई थी। अब तक यह विवेचना-प्रणाली केवल सिद्धान्त में, प्रयोग में नहीं, विश्वविद्यालयों के परीक्षालक्ष्य तक ही रुद्ध थी और शिक्षण-कार्य के अतिरिक्त अन्य कहीं उसका उपयोग न था। अब वह सामाजिक संस्कृति में धीरे-धीरे समाविष्ट होने लगी। यहाँ एक बार फिर, यद्यपि परोक्ष रूप में ही, प्रेमचन्द के आभार को मानना पड़ेगा। हिन्दी में लेखकों की विज्ञापनबाजी का प्रारम्भ भी प्रेमचन्द से ही हुआ है। उनके प्रकाशकों तथा मित्रों ने जब उनके विज्ञापन के लिए, समीक्षा के लिए नहीं, अतिरंजित प्रशंसा के लेख छपाने शुरू किए तो उसकी प्रतिक्रिया में साहित्य के दूसरे विद्यार्थियों ने भी प्रशंसात्मक या अप्रशंसात्मक समीक्षा के लेख लिखे। इससे हिन्दी को यह लाभ हुआ कि उसमें मीमांसात्मक बुद्धि की लालसा अधिकाधिक विकसित होती रही और साहित्य-विवेचन भी साहित्यिक-संस्कृति का एक क्रमांग बन गया। फिर तो साहित्य और उसकी विवेचना ने एक दूसरे को क्रमशः प्रतिकृत करते हुए हिन्दी की खूब श्रीवृद्धि की। असहयोग-आन्दोलन की

समाप्ति के बाद से ही यह प्रतिक्रिया आरम्भ हो जाती ।

तो, असहयोग आन्दोलन के परिणाम-काल में अपने साहित्य की दो विशेष प्रवृत्तियाँ हमें दिखलाई देती हैं — सामाजिक समस्यात्मकता तथा साहित्य-विवेचना। समस्या को लेकर हमारा साहित्य जीवन-व्यवहार की ओर अग्रसर होता है; विवेचना को लेकर शुद्ध आनन्द-संस्कृति की ओर। और ये दोनों तत्व भी एक दूसरे को यहाँ तक प्रतिकृत करते हैं कि ललित साहित्य का जो अंश समस्याओं को अपनाता है वह भी साहित्य-संस्कृति से एकदम बहिर्भूत नहीं रहता। इसके उदाहरण स्वयं प्रेमचन्द ही हैं। इससे भिन्न वह साहित्य है जो शुद्ध संस्कृति के अनुशीलन में ही अपने को सफलीभूत करता है।

तथापि, जो समस्यात्मकता परिस्थितियों के प्रभाव से समाज को जीवन-चेतना में प्रवेश कर गई है उससे यह शुद्ध संस्कृति का अनुशीलक साहित्य भी एकदम अछूता नहीं रह सकता। समस्यात्मक और सांस्कृतिक रूपों में द्विधा होने पर साहित्य के जो वर्ग बन जाते हैं वे स्वयं ही जैसे साहित्य की समस्या हेतु बन जाते हैं। तब आदर्शवाद और यथार्थवाद, 'कला कला के लिए है अथवा नहीं' तथा सत्य शिव और सुन्दर के योगा-योग-आदि के आकार में साहित्य की निजी समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं। मूलतः तो ये समस्याएँ पाश्चात्य साहित्य की ही समस्याएँ हैं जो पश्चिमी विवेचना-पद्धति की अधिकरणता (Subjectivity) के साथ-साथ यहाँ आईं और यहाँ के समस्यात्मक वातावरण के प्रभाव से धीरे-धीरे क्या, जल्दी ही सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना का स्वाभाविक अंग बन गईं।

यही नहीं; अधिकरणानुवृत्ति के प्रसरण में जीवनस्रोतान्वेषिणी, कहीं-कहीं अध्यात्म के संस्पर्श से भी अभिलक्षित होती हुई, किसी चारित्रिक संस्कृति की जिज्ञासा भी हिन्दी में प्रादुर्भूत हुई। यह व्यक्ति सम्बन्धिनी सामाजिक समस्या पहले-पहल अपने स्थूल लौकिक रूप में प्रेमचन्द में दिखाई दी थी। प्रेमचन्द में तो वह इतनी समस्यात्मकता लिए हुई थी कि

वह शीघ्र ही साम्प्रदायिकता की विकृति में परिणत हो गई। अकेले प्रेमचन्द ने समाज में न मालूम कितने सम्प्रदाय देख डाले। यह युग-भावना तो न थी, क्योंकि प्रेमचन्द के बाद उसे उनके रूप में चलाने वाला हिन्दी को कोई न मिल सका। परन्तु संक्रान्ति के प्रथम आवेश के रूप में वह नई युगभावना के प्राक्कथन के समान कुछ स्वाभाविक-सा तो अवश्य था। क्रोध के प्रथम आवेश में हम प्रायः हर किसी को गाली देते हैं कि नहीं? प्रेमचन्द का सम्प्रदायवाद युग का थोड़ा-सा संदेशहर होता हुआ केवल इतनी-सी बात को आवेश की विकृति के साथ कहता है कि हम किसी भी स्थिति में सन्तुष्ट नहीं हैं। 'सेवासदन' उपन्यास नई संक्रान्ति का मानों अग्रदूत था; अतएव उस संक्रान्ति के प्राथमिक आवेश की क्रिया का भार भी प्रेमचन्द को ही उठाना पड़ा।

कहना केवल यह है कि परिस्थितियों के प्रभाव से जो कुछ भी रूप प्रेमचन्द ने इस व्यक्तिगतचरित्र की इस समस्या को दिया हो, साहित्य में उसकी टटोल करने वाले वह पहले सज्जन हैं। चरित्रचित्रण का अभिप्राय ही चरित्र-सम्बन्धी समस्याओं का समाधान ढूँढना है। प्रेमचन्द के 'सेवासदन' की यही एक विशेषता थी जिसकी चर्चा ने जनता को एकदम उनकी ओर आकर्षित किया; और तभी से उपन्यास साहित्य के सम्बन्ध में चरित्र-चित्रण के महत्व की भी चर्चा होने लगी। समस्यात्मक चेतना से आप्लावित हिन्दी भूमि में वैयक्तिक चरित्र की जिज्ञासा साहित्योत्कर्ष का प्रसाधन बन कर बस गई; केवल उसका प्रेमचन्दीय विद्रोहात्मक रूप न रहा। प्राक्कथन देर तक नहीं चला करता। सामूहिक असन्तोष का परिणाम अन्ततः संगठन है। असन्तोष से आरम्भ होने वाली देश की युगभावना का वास्तविक स्वरूप तो संगठन ही था—भारत एक राष्ट्र बनने जा रहा था।

संगठन की क्रिया में चरित्र-तथ्यों के मूल में बसने वाली आदिम मानव वृत्तियों के संयोजन की चेष्टा रहेगी, जिसमें उदात्तता की ध्वनि अपेक्षित होगी। प्रेमचन्द के साहित्य से इतर अधिकांश साहित्य में हमें

इस संयोजन-चेष्टा की रूप-रेखा दिखाई देगी। वैसे तो बाद के प्रेमचन्द के ही दो-एक उपन्यासों में आवेश का कट्टरपन बहुत-कुछ कम हो चला है। संयोजन चेष्टा के सबसे बड़े उन्नायक हमें मैथिलीशरण गुप्त और जयशंकर प्रसाद दिखाई देते हैं। अपनी विस्फूर्ति के लिए ये दोनों ही, सिद्धान्ततः भी और विषयतः भी, मूल आर्य-संस्कृति की ओर देखते हैं जो अपनी उदात्तता को विराटता में लासानी है। इन दोनों के काव्य-कथानक आर्य-संस्कृति के इतिहास से ही लिए गए हैं। उनके पात्रों का झुकाव आर्य सांस्कृतिक चरित्र-तत्वों की ओर है उनका वातावरण-चित्रण भी अधिकतर रोमान्टिक ढँग के आनन्दकैवल्य की उल्लासमयी-विकासमयी मानसिक विशालता की वृत्ति को लिए हुए है, जो कि समस्त प्राचीन संस्कृत साहित्य की वृत्ति है। प्रसाद में तो यह रोमान्टिक मनोवृत्ति बहुत ही बढ़ी हुई है, यहाँ तक कि उनकी उत्पाद्य (कल्पनात्मक) रचनाओं में भी वातावरण और चरित्र की उदात्तता उन रचनाओं के कथानकों को प्राचीन संस्कृति-युग की घटनाओं का-सा आभास दे देती है।

गुप्त और प्रसाद के कथानकों और वातावरण का जिक्र उनके चरित्रों की सांस्कृतिक एक निष्ठता के आग्रह से ही कर दिया गया है। वातावरण और कथानक चरित्र की भूमिका का काम करते हैं, रसिक के लिए वे चरित्र विशेष के अनुकूल मनोभूमि तैयार करते हैं। चरित्र-चित्रण का यह संगठनात्मक रूप, जो हमें गुप्त और प्रसाद में मिलता है, मानसिक विशालता की भूमि में पल कर समाज और मानवता के साथ अपना सामंजस्य जमाता हुआ भारतीय राष्ट्रचेतना की युगभावना का सच्चा प्रतीक है। यह कहा जा सकता है कि वह अपने समय की यथापरिमाण चेतना से कई क़दम आगे बढ़ा हुआ है। निस्सन्देह प्रसाद में तो वह बहुत ही आगे बढ़ा हुआ है। बात यह है कि समस्याओं की जीवन-चर्या में आदर्शवाद कहीं आकर उन्हें छू लिया करता है। चारित्रिक समस्याओं को तो वह बहुत ज्यादा और विशेष भावुकता के साथ छूता है। क्या हम यह नहीं देखते कि

चरित्र-चित्रण के साथ-ही-साथ आदर्शवाद ने भी संक्रमणयुग की हिन्दी में प्रवेश किया, और उसका सब से जोर का पहला डंका बजाने वाले प्रेमचन्द ही हैं। अवश्य ही गुप्त और प्रसाद भी आदर्शवादी हैं, और सही अर्थों में आदर्शवादी हैं; क्योंकि उनके साहित्य की साधना संगठन है। भावुकता और आदर्शवाद दोनों ही वास्तविकता से कुछ-न-कुछ हटे होते हैं—उनमें अतिरंजना रहती है। यह अतिरंजना यदि साधना की लगन से सम्बन्ध रखती है तो दो कदम आगे चलती है; यदि आवेश की अतिरंजना से—जो स्वयं मिथ्या है—सम्बद्ध होती है तो बहुत कदम पीछे रह जाती है, परन्तु किसी भी हालत में वह यथार्थ के साथ नहीं चल सकती।

फिर, दो कदम आगे चलनेवाली चारित्रिक समस्या का सम्बन्ध समस्या-आकुल व्यक्ति के मनःक्षितिज की सहज विशालता से भी है, यद्यपि यह सहज विशालता भी किसी थोड़े अंश में युगजात परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब धारण करती है। प्रसाद में यह विशालता बहुत अधिक बढ़ी हुई है जिसका परिणाम यह होता है कि उनकी संगठनवृत्ति समाज से आगे बढ़ कर अखिल सृष्टि का आलिंगन करने लगती है। यहाँ अध्यात्म का संस्पर्श भी हो जाता है जबकि व्यक्ति के चरित्रगुण जीवोपाधि की अवस्था को आगे खींचते हुए किसी विश्वात्म-चेतना का संकेत करने लगते हैं। जीवोपाधि की अवस्था तक रहती हुई यह संगठनवृत्ति छायावाद के रूप में अवतीर्ण होती है, उससे आगे विश्वात्म-चेतना में विकास करके वह रहस्यमयी (रहस्य-वादात्मक) बनने लगती है। भारत का प्राचीन रूपकात्मक साहित्य संगठन-वृत्ति की इसी अखिलात्मक विशालता की संस्कृति को लिए हुए है। वर्तमान हिन्दी में इस वृत्ति का कौतुक रवीन्द्र नाथ टैगोर की गीतांजलि से अंकुरित हुआ था, परन्तु साहित्य रूप में उसके उन्नायक प्रसाद ही हैं। युगभावना की अपेक्षा अपने प्रसारण में अधिक तीव्रगति होते हुए भी प्रसाद अपने साथ युगभावना की आत्मा को लिए हुए हैं। इसका प्रमाण यह है कि प्रसाद प्रेमचन्द के समकालिक होते हुए भी अपने लिए एक ऐसा सहयोगी और

अनुवर्ती समाज प्राप्त कर सके जो अनेक वर्षों तक हिन्दी कविता की सांस्कृतिक चेतना को अपने अधीन किए रहता है, यद्यपि परिस्थितियों की अनुकूलता प्रेमचन्द के लिए ही सर्वाधिक थी। इसका कारण तो यही है कि प्रसाद ने आर्य-जनता की इस भूमि में अपने समय की भावना का मौलिक आर्य-संस्कृति के साथ, जो अपनी विशालता में पूर्ण मानवता की संस्कृति है, सामंजस्य स्थापित किया है। युगभावना न भी होती तो भी वे, अपनी सांस्कृतिक जिज्ञासा की विशाल मानवीयता के नाते, किसी भी युग में रचना करके सफल हो सकते थे। प्रेमचन्द को अपने युग की उत्तेजक परिस्थितियों की आवश्यकता थी।

समस्यात्मकता वैसे भी संक्रमणयुग का स्वाभाविक उपलक्ष्य है और जब तक संक्रान्ति की परिस्थितियाँ शान्त होकर सामाजिक चेतना में स्थिरता पैदा नहीं करती तब तक समस्याओं का उत्थान-पतन बराबर चलता रहता है। और, फलतः, उसमें प्रतिक्रियाओं की क्रीड़ा भी बराबर चलती रहती है। प्रेमचन्द के अति स्थूल सकुचित साम्प्रदायिक आदर्शवाद की प्रतिक्रिया छायावाद थी, जो सूक्ष्मतर लोकों की सैर करना चाहता था। संक्रमणकाल की परिस्थितियाँ, सांस्कृतिक जिज्ञासा की अपेक्षा रखती हुई भी, अपनी प्रेरणा में तो भौतिक जीवन की समस्याओं को ही लिए हुए थी। अतः छायावाद की प्रतिक्रिया भी अवश्यम्भावी-सी ही थी जिसमें हालावाद, प्रगतिवाद-आदि अनेक छोटे-छोटे क्षणिकवादों के हमें दर्शन होते हैं। इन वादों में चारित्रिक जिज्ञासा तो बहुत है, परन्तु उसकी प्रयोगभूमि हमारा वर्तमान समस्या-पूर्ण भौतिक जीवन ही है। मानो छायावाद की दो क़दम आगेवाली चाल को संक्रान्ति की अस्थिर असमंजस गति ने पीछे खींच कर अपने साथ मिला लेने की चेष्टा की हो; क्योंकि इन वादों की चारित्रिक जिज्ञासा की ध्वनि सामाजिक-वैयक्तिक सामंजस्य को तलाश करने की ही है, छिन्नखंड करके व्यक्ति के दैहिक उत्तरदायित्व को ढूँढने की नहीं।

संक्रमणयुगीन समस्या बाहुल्य में अस्थिर मनोवृत्ति का होना स्वाभाविक

है। १६१८ से होनेवाले नवीन हिन्दी-युग में समाज की अस्थिर मनोवृत्ति का लक्षण बीच-पचीस वर्ष में ही घटित हो जाने वाले अत्यधिक अस्थायी वादों के रूप में मिलता है। समस्या बाहुल्य की अस्थिरता में अत्यधिक चंचलता और गति तथा प्रयोगों की जल्दबाजी भी परिलक्षित होती है, जिससे अत्यधिक वादों के साथ-साथ हिन्दी के इन वर्षों में अत्यधिक प्रकाशन भी हुआ है। समस्याबाहुल्य की अस्थिर मनोवृत्ति में समाधानों की लालसा से बौद्धिक प्रक्रियां भी विशेष सजग हो जाती है। अतएव वर्तमान हिन्दी में जहाँ एक ओर समस्या जात संवेदन भावुकता के रूप में प्रस्फुटित होते हैं, वहीं समाधान चेष्टा के प्रधावन में बुद्धिवाद का भी विशेष उत्कर्ष देखने में आता है। प्रसाद में तो ये दोनों ही बातें अपनी चरमता को पहुँची हुई हैं। आर्य जाति के सुदीर्घ इतिहास में, ललित साहित्य में भावुकता और बुद्धिवाद का यह संयोग पहले-पहल वर्तमान हिन्दी मे दिखलाई दिया है। परन्तु वर्तमान हिन्दी को भावुकता का रूप प्राचीन आर्य साहित्य के रसवाद का रूप नहीं है, जिसका हेतु उसका बुद्धिवाद ही दूसरे शब्दों में, समस्या बाहुल्य से उत्पन्न संवेदनों की चंचलता ही—है। यह परिस्थिति अमिश्र सांस्कृतिक आनन्द की परिस्थिति नहीं है। संक्रान्ति की परिस्थिति ऐसी हो ही कैसे सकती है?

संक्रान्ति और उसके समस्या बाहुल्य और उसकी अस्थिर मनोवृत्ति का यह युग आर्य-संस्कृति और आर्य-भाषा के सहज सौभाग्य का एक चिर अपेक्षित स्वर्ण युग है। सहज इसलिए कि विशालता सदा के लिए संकोचावस्था में अवरुद्ध नहीं रह सकती। विशालता ही तो स्वतंत्रता है। उसे संकुचित करके दबा रखने में उसका प्रसार-बल भी चुपचाप संचय की केन्द्रीभूत आवेग-सामर्थ्य का उपार्जन करता जाता है। जितना ही उसे दबाया जाता है उतनी ही उसमें आवेग-सामर्थ्य भी अधिक होती है। साइकिल के ट्यूब में हवा को दबा-दबा कर बराबर भरते ही जाइए और फिर उसके विस्फोट में दबी हुई वायु के चतुर्दिक् आत्मप्रसार के आवेग को देखिए। या फिर, दबादब हवा

भरने के बाद अपनी साइकिल पर किसी ढलकाव की ज़मीन के ऊपर तेज़ी के साथ सवारी गाँठिए, और तब कहीं सहसा ट्यूब में ज़ोर का पँक्चर हो जाने दीजिए। आर्य विशालता को समाज की तहों में दबते-दबते कम-बेश एक हज़ार वर्ष हो गए थे। अतः १९१८ में भारतीय समाज की ऊपरी तहों के उखड़ने से जब उसमें पंक्चर हुआ तो आर्यता भी अपने हज़ार वर्ष के संचित आवेग के साथ चारों तरफ़ प्रसरित हो पड़ी। समस्या बाहुल्य ने चेतना के विकास के लिए असंख्य द्वार खोल दिए। समस्याजात संवेदनाओं ने उस चेतना को एड़ लगाई और समाधान-बुद्धि ने उसे दिग्विवेक की विचिकित्सा दी। विवेक की प्रथम विचिकित्सा में एक-एक समस्या के समाधान के लिए भिन्न-भिन्न दिशाओं की टटोल ही रहेगी – सहसा कोई प्रशस्त मार्ग न खुल जाएगा। परन्तु इससे साहित्य के क्षेत्र का विस्तार तो बढ़ेगा ही। नाना वादों और सिद्धान्तों के अतिरिक्त वर्तमान हिन्दी में कई नए साहित्य-प्रकारों और अनेक नई-नई साहित्य-पद्धतियों का विकास हुआ है। ललित साहित्य के क्षेत्र में बुद्धिवाद की यह कर्मटता साहित्यिक विवेचन और आलोचना के अभ्युदय-द्वारा हुई है। आलोचना ने अन्यथा भी, साहित्यिक स्पर्धा को प्रेरणा देकर, साहित्य की अभिवृद्धि में बड़ी उपयोगी सहायता दी है और उत्कर्ष की दृष्टि से उसके धरातल को ऊँचा उठाया है।

और ललित साहित्य में ही नहीं, समस्या और बुद्धिवाद ने मिल कर शुद्ध ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भी खूब साहित्य-समृद्धि की है। इस तरह के साहित्य में आलोचना का स्थान तो प्रमुख है, ही, क्योंकि उसका सम्बन्ध-स्रोत सांस्कृतिक चेतना में है; परन्तु समस्याओं के व्यवहारात्मक पक्ष में उपयोगी शास्त्रों को स्थान मिलता है। राजनीति, अर्थनीति, समाजवाद, इतिहास, भिन्न-भिन्न प्रकार के विज्ञान (यथा भौतिक विज्ञान, रसायन-विज्ञान, वनस्पतिशास्त्र, प्राणिविद्या, स्वास्थ्यविज्ञान अथवा आयुर्वेद-आदि तथा इनके सम्बन्धी अंग) और तरह-तरह के शिल्प-आदि उपयोगी शास्त्र हैं। इन सबको वर्तमान हिन्दी ने प्रश्रय किया है। दूसरी ओर सांस्कृतिक चेतना के

एकदम सामूहिक, सामाजिक विकास का प्रमाण पत्र हमारे समाचार पत्रों तथा साहित्यिक मासिक पत्रों में उपलब्ध हो रहा है। इस चेतना के विकास का क्षेत्र कितना विशाल है इसका अनुमान इसी बात से हो सकता है कि सन् १६१८ से भी पहले से बम्बई, बङ्गाल, बिहार और यू० पी० प्रान्त हिन्दी-रचना तथा प्रकाशन में योग देने लगे थे और १६२० के बाद पंजाब तथा मध्यप्रान्त भी इस परम्परा में सम्मिलित हो गए थे। राजपूताना के भी कतिपय विद्वान् अपनी सांस्कृतिक खोज का उपहार हिन्दी को दे रहे थे। संक्रमण-युग से पहले ही सांस्कृतिक चेतना के संगठन और उसकी सामाजिकता की विकासी सूचना हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन तथा नागरी-प्रचारिणी-सभा की संस्थापना से मिल चुकी थी।

इतने थोड़े समय में हिन्दी की यह विशाल और बहुमुखी समृद्धि शायद संसार-भर के सांस्कृतिक इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना हो। भारतवर्ष को एक छोटे से महाद्वीप की-सी गरिमा प्राप्त है। आज इस महाद्वीप का कुछ कम अर्द्धांश, जो लगभग हज़ार-आठ-सौ वर्ष की सांस्कृतिक अराजकता का शिकार रहा है, हिन्दी-महारानी की छत्रच्छाया में अपनी संस्कृति के बिखरे हुए तन्तुओं को पुनः संगठित करने की चेष्टा में है। उसका संक्रमणयुग अभी चल ही रहा है और वह तब तक चलता रहेगा जब तक भारत की पूर्ण राष्ट्र-सिद्धि न हो जाएगी। हिन्दी को राष्ट्रभाषा का उत्तरदायित्व तो मिल ही चुका है। भविष्य की बात तो कौन कह सकता है; परन्तु राष्ट्रभाषा ने अपनी संस्कृति को अभी तक यथाशक्ति बटोर कर जो एक शक्ति संगृहीत करली है उसका यदि अपचय न होकर उपचय ही होता रहा तो पूर्ण राष्ट्र-सिद्धि भी कभी-न कभी सम्भावना की वस्तु बन जाएगी।

: ५ :

तुलसीदासजी का रामचरितमानस

तुलसीदासजी के लिखे हुए कुल १४-१५ ग्रन्थ बतलाए जाते हैं। उन सब में सबसे अधिक प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण रचना "रामचरितमानस" ही है। यह ग्रन्थ अवधी भाषा में है। हिंन्दी जानने वाला विरला ही कोई हिन्दू होगा जिसने रामायण को न देखा-पढ़ा हो; और न कोई हिन्दू गृहस्थ ही होगा जिसके यहाँ रामायण की एक दो प्रतियाँ न हों।

तुलसीदासजी हिन्दी भाषा के सबसे बड़े और पूज्य महाकवि हैं। यह महात्मा "स्वान्तः सुखाय" लिखते थे; भगवद्भक्ति की अन्तःप्रेरणा से जो इन्होंने लिखा है वह किसी की खुशामद करने, अथवा स्वयं धन या यश उपार्जन करने की इच्छा से नहीं। अतः उनका एक-एक शब्द उनकी आन्तरिक अनुभूति, उनके स्वाभाविक भावों, का सच्चा उद्‌गार है। उसमें कहीं बनावट या नकलीपन नहीं है और न किसी प्रकार का कोई और भद्दापन ही है।

कवि के उपर्युक्त जो-जो गुण हैं वे तुलसीदासजी में हमें काफ़ी मात्रा में देखने को मिलते हैं। इसका कारण यह है कि तुलसीदासजी विद्वान् थे, उनका भ्रमण अच्छा था और जीवन के सुख-दुःख का वह स्वयं अनुभव कर चुके थे। इतनी सामग्री में उनको उपास्य देव का जीवन-चरित्र और मिल कर सहायक हो गया। बाल्यकाल से लेकर अन्त तक का रामचन्द्रजी का चरित सुखदुःखपूर्ण उन तमाम परिस्थितियों और अवस्थाओं का एक भारी भंडार है जिनका मनुष्यमात्र को भिन्न-भिन्न अवसरों पर इस जीवन में सामना करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त रामचन्द्रजी ईश्वर थे, भक्तों के रक्षक और प्रणतपाल थे। अतएव तुलसीदासजी का काव्य जहाँ, एक और मानवजीवन की कष्टमूल अवस्थाओं और वेदनाओं का ज्ञान कराता है वहाँ, दूसरी ओर, वह हमारे लिए कर्तव्य जीवन तथा रामनाम के संजीवन-मंत्र

द्वारा आशा का भी संचार करता है, दुःखभार से गिरते हुए मनुष्यों को आश्वासन प्रदान कर जर्जरित होने से बचा लेता है। साधारण जन जो विशेष पढ़े-लिखे नहीं हैं और न जिन्हें किसी प्रकार का काव्यज्ञान ही है, जब रामायण को पढ़ते हैं और पढ़ते-पढ़ते प्रेममग्न होकर विगलित होने लगते हैं तो उसकी इसी आशाप्रद संजीवनी के कारण। पढ़ते समय उनको भक्तभयहारी, दीनों के सखा के अभय हस्त का अपने ऊपर अनुभव-सा होने लगता है। यही कारण है कि काव्य होने के साथ-साथ रामायण को एक पवित्र धर्मग्रन्थ होने का भी महत्व प्राप्त है। संसार के जितने भी धर्मग्रन्थ हैं उनमें से शायद ही किसी को ऐसा स्थान प्राप्त हुआ हो। लोग कहते हैं कि संसार में सबसे अधिक पढ़ने वाले 'बाइबिल (Bible) या ईसाइयों के इंजील के हैं। यह सत्य है। परन्तु इंजील में इतना सामर्थ्य नहीं है कि वह पढ़ने वाले को भगवान के साक्षात्कार का-सा आनन्द दिलाकर उसके हृदय में प्रेम की व्याकुलता उत्पन्न कर सके। भारतीय ग्रन्थों में प्रभाव और समादर की दृष्टि से रामचरित मानस के सामने केवल एक ही अन्य ग्रन्थ दिखाई देता है – श्रीमद्भगवद्गीता। परन्तु गीतामें ज्ञान ही ज्ञान है, क्लिष्ट दर्शन है, और सुखी गृहस्थियों के काम की चीज़ वह नहीं है। रामचरित-मानस, इसके विपरीत, गृहस्थियों और विरक्तों सबके लिए समान संजीवनी है, जिसकी दो चार मात्राएँ तो रास्ता-चलते भी ली जा सकती हैं। तुलसीदास जी का रामचरितमानस प्रत्येक का स्निग्ध प्रकाश से युक्त अक्षयस्नेह से भरा हुआ, कान्तिमान दीपक है। उसने पिछले ३०० वर्षों में ही जितने अधिक प्राणियों को शान्ति और शीतलता प्रदान की है, जितने अधिक प्राणियों को उसने सुधारा या क्लेशमुक्त किया है, उतने अधिक प्राणियों को अन्य कितने ही धर्मगुरुओं के झुंड के झुंड भी इतने थोड़े समय में समाश्वासन तक प्रदान न कर सके।

काव्य की दृष्टि से, हिन्दी साहित्य में तो कोई भी ग्रन्थ रामचरितमानस की टक्कर का नहीं है; दूसरे साहित्यों में भी शायद ही हो। रामायण रसों

का खज़ाना है, मानव हृदय की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म वृत्तियों का उसमें पूर्ण चित्रण है। तुलसीदासजी का यथार्थ जीवन से यथेष्ठ सम्बन्ध रह चुकने के कारण, जीवन की भिन्न-भिन्न परिस्थितियां और उन परिस्थितियों से सम्बन्ध रखने वाले हृदय के भिन्न-भिन्न भावों का उनको अच्छा ज्ञान था; इसीलिए राम-चरितमानस के भीतर चरित्रचित्रण ऊँचा है और दोषरहित है। स्थान-स्थान पर, जैसे कि किष्किन्धाकांड और अरण्यकांड में, प्रकृतिवर्णन भी अच्छा किया गया है जिसमें कहीं-कहीं उपदेश का भी पुट आ गया है। कुछ लोग इस प्रकार के उपदेश पर आक्षेप करते हैं, परन्तु यह उन लोगों की भूल है। आक्षेप करते समय वे भूल जाते हैं कि तुलसीदासजी तुलसीदास जी थे। "दामिनि दमक रही घन माहीं, खल की प्रीति यथा थिर नाहीं", इस वाक्य की नीतिगर्भ तुलना पर जो आक्षेप किया जाता है उसका कारण आक्षेप करने वालों की स्थूल दृष्टि है। वास्तव में तुलसीदासजी की भक्ति और नीति से मिश्रित कविप्रतिभा ने उनके उपदेश को भी काव्य ही बना दिया है। तुलसीदासजी ने जिस प्रकृति या 'नेचर' का वर्णन किया है वह वैज्ञानिकों की शुष्क, केवल रूप आकार-वाली प्रकृति ही नहीं है; उस प्रकृति में विश्वात्मा का वास है; शेष सृष्टि की भाँति ही उसका भी जीवन है, देखनेवाले मनुष्य को उस प्रकृति में भी मानव-जीवन का रूप दिखाई दे सकता है। नहीं तो यह कैसे कहा जा सकता था कि—

"हे खग, मृग, हे मधुकर-श्रेनी, तुम देखी सीता मृगनैनी ?"

अथवा

"सुनहु विनय मम विपट असोका, सत्य नाम करु हरु मम सोका।"

रचना-चमत्कार की भी रामायण में कमी नहीं है। तुलसीदास जी के अलंकार प्रयोग और उनकी वर्णन-शैली में उनकी अपनी विशेषता मौजूद रहती है। अलंकारों के दो उद्देश्य होते हैं—एक तो, भाषा में सौन्दर्य उत्पन्न करना और दूसरे किसी गहन या कठिन बात को समझाने में सहायक होना। अलंकार का प्रयोग जबरदस्ती नहीं होना चाहिए। जिस

समय स्वाभाविक ढँग से उसका प्रयोग होता है तभी वर्णन में सुन्दरता आती है। तुलसीदासजी के अलंकार बनावटी नहीं हैं, जबर्दस्ती सोच-सोच कर नहीं बिठाए गए हैं, जैसे-जैसे महात्माजी के भावों के सहयोग में उनका उदय हुआ है वैसे ही वैसे स्वाभाविक रूप से वे आते गए हैं इसीलिए इनके अलंकारों में प्रायः क्लिष्टता नहीं है और कहीं-कहीं ये अलंकार भावों के साथ इतने मिल गए हैं कि आसानी से उनका पता भी नहीं चलता और प्रायः अलंकारों तथा भावों की संकरता उत्पन्न हो जाती है। परन्तु जिन स्थानों पर अलंकारों का प्रयोग विषय को समझाने के लिए हुआ है वहाँ अवश्य क्लिष्टता उपस्थित हो जाती है, जिसका कारण विशेषतः उस विषय की ही कठिनता है। ऐसे स्थलों पर प्रायः सांग रूपक का प्रयोग हुआ है, जैसा कि बालकांड के प्रारम्भिक वर्णनों तथा उत्तरकांड में ज्ञान और भक्ति की मीमांसा में हम प्रायः पाते हैं। अलंकारों में सबसे अधिक प्रयोग तुलसीदासजी ने रूपक और उपमा का किया है—कहीं-कहीं रूपक और उपमा आपस में मिल भी गए हैं। तदनन्तर उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि का प्रयोग है।

वर्णनरीति अवसर के अनुसार कहीं तो परम कवितामयी हो जाती है और कहीं बिलकुल व्यावहारिक और सीधी-सादी। कारण यह है कि तुलसीदासजी ऊँचे विद्वान् और कवि भी थे और उन्हें लोक-व्यवहार का भी अच्छा अनुभव था। जहाँ वह प्रभु के गुणों का तथा उनके सौन्दर्य का वर्णन करते हैं, अथवा जहाँ वह प्रकृति की शोभा का दर्शन करते-कराते हैं। वहाँ भाषा में कविता स्वाभाविक रूप से फूट पड़ती है और जहाँ उन्होंने हमारे जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओं तथा कार्यों का वर्णन किया है वहाँ भाषा की व्यवहारानुकूल सीधी-सादी अथवा चलती-पुर्जी हो गई है। इस प्रकार की भाषा के उदाहरण हमको तुलसीदासजी के कथोपकथनों तथा हास्यस्थलों में विशेष रूप से मिलेंगे। "कह लंकेश कवन तैं बन्दर; मैं रघुबीर दूत दसकन्धर।"—रावण अंगद जी से पूछता है कि, "बन्दर, तू कौन है" और अंगद जी उत्तर देते हैं "मैं रामचन्द्रजी का दूत हूँ, रावण!" अंगदजी स्वयं

युवराज थे, तेजस्वी स्वभाव के थे और त्रिलोकीनाथ के दूत बन कर गए थे; वह दूत की मर्यादा को रखते हुए, धृष्ट रावण के धृष्टतापूर्ण प्रश्न का इससे अधिक शिष्ट और क्या उत्तर दे सकते थे? साथ ही, उत्तर की संक्षिप्तता के द्वारा ही रावणकी धृष्टता का भी उत्तर दे दिया। परन्तु कुछ लोग इसे लट्ठमार जवाब कह कर तुलसीदासजी की कथोपकथन-रीति पर आक्षेप करते हैं; अर्थात् उनका कहना है कि अंगदजी को इतना संक्षिप्त और मुँहफट जवाब नहीं देना चाहिए था। इस प्रकार के आक्षेप पात्र और परिस्थिति को समझे बिना ही कर दिए जाते हैं। जहाँ परिस्थिति दूसरे ढँग की है वहाँ इस तरह के उत्तर भी नहीं हैं जैसा कि हम रावण और हनुमान्‌जी के संवाद में, सुन्दर काँड में, देख सकते हैं। हनुमान्‌जी ने अशोक वाटिका उजाड़ दी है, राक्षसों तथा अक्षयकुमार का वध कर दिया है और फलस्वरूप ब्रह्मास्त्र द्वारा बाँधे जाकर वह रावण के सामने लाए गए हैं। रामचन्द्र जी के पक्ष की ओर से विरोध दिखाने का यह पहला ही अवसर है और इस पहले अवसर पर शत्रु के ऊपर इस बात का प्रभाव डालने की आवश्यकता है कि रामचन्द्रजी कौन हैं। सम्भव है कि इससे लड़ाई रुक जाए और रावण समझाने में आ जाए। साथ ही राम-पक्ष के किसी व्यक्ति की रावण से यह पहली ही भेंट भी है। अतः हनुमानजी अपना परिचय देने के लिए पहले रामचन्द्रजी का पूरा परिचय देते हैं और बाद में समझा कर कहते हैं—"तासों बैर कबहुँ नहिं कीजै, मोरे कहे जानकी दीजै" तथा एक बार फिर, "सुनु दसकंठ कहहुँ पन रोपी, राम-बिमुख त्राता नहिं कोपी।" अतः "मोहमूल बहु शूलप्रद, त्यागहुँ तुम अभिमान; भजहु राम रघुनायकहिं, कृपासिन्धु भगवान।" यहाँ लम्बा उत्तर देने तथा व्याख्या करने की आवश्यकता थी, अंगद के उत्तर में ऐसी कोई आवश्यकता नहीं थी।

इस थोड़े कथन का सारांश यही है कि, हम किसी भी दृष्टि से देखें, रामचरितमानस संसार के साहित्य में एक अद्‌भुत महत्त्व का ग्रन्थरत्न है। उसका महत्त्व जनता के लिए तो है ही, परन्तु तुलसीदास जी के लिए भी

उसका महत्त्व कम नहीं है। यदि तुलसीदासजी ने रामचरित मानस को बनाकर अपनी प्रतिभा द्वारा उसे अमरत्व प्रदान किया है तो रामचरितमानस ने भी तुलसीदासजी को अमर बनाया है। यदि तुलसीदासजी ने केवल रामचरितमानस ही लिखा होता, दूसरे ग्रन्थ न लिखे होते, तो भी उनका यश और माहात्म्य उतना ही विशाल होता जितना अब है। परन्तु यदि उन्होंने अन्य सब ग्रन्थ ही लिखे होते और रामचरितमानस न लिखा होता तो सन्देह किया जा सकता है कि उनकी कीर्ति कदाचित् इतनी व्यापक और इतनी चिरस्थायी न होती। रामचरितमानस के द्वारा तुलसीदासजी हमारे सामने कवि के अतिरिक्त और भी कितने ही रूपों में उपस्थित होते हैं। वह जीवन के प्रत्येक मार्ग में हमारे पथप्रदर्शक हैं। वह गृहस्थ हैं, परंतु विरक्त महात्मा भी हैं; समाज से उनका कोई नाता नहीं, तथापि वह सच्चे समाज सुधारक हैं; मत मतान्तरों-आदि के भेद से झगड़ते हुए अथवा कुमार्गगामी मनुष्यों के लिए वह कहीं मृदु और कहीं कठोर न्यायाधीश हैं; मनु-आदि ऋषियों की भाँति वर्णाश्रम धर्म के प्रतिष्ठापक तथा लोकमर्यादा के नियामक हैं; वह राजनीतिज्ञ हैं—संक्षेप में, वह हमारे गुरु भी हैं, सखा भी हैं और हैं, सब से बढ़कर, संसार के दुःखजाल के बीच शान्ति का वरदान देने वाले तथा ईश्वर का साक्षात्कार कराने वाले सिद्ध पुरुष। तुलसीदासजी कहीं गए नहीं हैं, वह अब भी हमारे साथ हैं; उनका रामचरितमानस मूर्तिमान तुलसीदास हैं; संसार के लोगों को जीवन जागृति और आनन्द का सन्देश देते रहने के लिए दोनों अमर हैं।

तुलसीदासजी और उनके रामचरितमानस की महिमा—गरिमा का यावत् अनुमान कर सकना हँसी-खेल नहीं है। एक छोटे से लेख में तो उसकी कल्पना ही क्या हो सकती है। इस महर्षि महाकवि का पाश्चात्य महानुभावों तक ने स्तोत्र गान किया है। प्रसिद्ध अँग्रेज इतिहासज्ञ सर विन्सेन्ट स्मिथ ने जो अपूर्व श्रद्धांजलि इन्हें और इनके ग्रन्थ को अर्पित की है उससे प्रत्येक हिंदू और भारतवासी का हृदय गौरव से भर जाना चाहिए।

कविता कौमुदी में उसका अनुवाद इस प्रकार दिया हुआ है—

"वह कवि हिन्दी-कविता-कानन में सब से बड़ा वृक्ष है। उनका नाम न तो आईन-ए-अकबरी में मिलेगा और न मुसलमान इतिहासकारों की पुस्तकों में, और न उनका पता किसी फ़ारसी इतिहासकार के बयान से तैयार की हुई किसी योरोपीय लेखक की पुस्तक में ही लगेगा। तो भी वे अपने समय में भारत में सर्वश्रेष्ठ पुरुष थे। यहाँ तक कि उन्हें अकबर से भी बड़ा कहा जा सकता है। क्योंकि लाखों स्त्री और पुरुषों के हृदय पर उन्होंने जो विजय प्राप्त की है वह उस बादशाह की जीती हुई कितनी ही लड़ाइयों से अधिक चिरस्थायिनी है ...।

"यह कवि तुलसीदास थे .।"

"जिस ग्रन्थ पर उनकी कीर्ति अवलम्बित है उसका नाम रामायण है......इस ग्रन्थ का ईश्वर-वाद ईसाई धर्म से इतना मिलता-जुलता है कि उसमें से बहुत से प्रसङ्ग 'राम' के स्थान में 'ईसु' रखने से ईसाइयों के लिए उपयोगी हो सकते हैं। ग्रियर्सन कहते हैं और ठीक कहते हैं कि किसी भी प्रार्थना-संग्रह में उन्हें स्थान मिल सकता है...... ..हिन्दी साहित्य में यह ग्रन्थ अद्वितीय है। इसके प्रभाव के विषय में कुछ कहना असम्भव है......।"

: ६ :

रामचरितमानस में सुन्दरकांड

रामचरितमानस सात कांडों में विभक्त है जिनके नाम हैं—बालकांड, अयोध्याकांड, अरण्यकांड, किष्किन्धाकांड, सुन्दरकाण्ड, लंकाकांड और उत्तरकांड। ये सातों कांड सम्पूर्ण रामकथा के विकास में सात अलग-अलग अवस्थाओं के परिचायक हैं। रामचन्द्रजी के जन्म से लेकर राज्याभिषेक तक

जिन सात मुख्य-मुख्य मार्गों में कथा का विकास हुआ है उन्हीं के अनुसार कांडों का भी विभाग किया गया है यह तो सामान्य उद्देश्य है जो प्रत्येक कथा के विकास में देखने को मिलता है। परन्तु यह बात बराबर ध्यान में रखनी चाहिए कि तुलसीदासजी उपन्यास लेखक की भाँति केवल कथा रस के आनन्द से तृप्त करना ही नहीं चाहते थे, लौकिक सुखके साथ-साथ हमारे पारमार्थिक सुख की ओर भी उनका लक्ष्य था। अतएव सात कांड मनुष्य के पारमार्थिक विकास की भी सात सीढ़ियाँ हैं। बालकांड का नाम उन्होंने "सन्तोष-सम्पादन" रक्खा है और उत्तर कांड का नाम "अविरल हरिभक्ति-सम्पादन" है। इस शृंखला में सुन्दरकांड का स्थान 'विमल ज्ञान-सम्पादन' का है।

यद्यपि रामचरितमानस में बालकांड, अयोध्याकांड आदि अधिक प्रसिद्ध हैं; परन्तु उपर्युक्त शृङ्खला पर दृष्टि डालने से मालूम होता है कि सुन्दरकांड का भी अपना अलग महत्त्व है। छोटा होने और लौकिक चरित्र तथा लौकिक चर्या की ओर अधिक अग्रसर न होने के कारण सुन्दरकांड सामान्य लोकरुचि की दृष्टि से अयोध्याकांड के बराबर चाहे न हो सके, तथापि यह हम जानते हैं कि प्रायः लोग इसका स्तोत्र ग्रन्थ की भाँति पाठ किया करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि एक रूप से सुन्दरकांड का महत्त्व दूसरे कांडों से अधिक है।

सुन्दरकाड का "विमलज्ञानसम्पादन" नाम मिथ्या नहीं है। इसमें लौकिक चरित्रों और लौकिक कार्यों की विशेष चर्चा नहीं है, उतनी से अधिक नहीं जितनी कि भगवान् को नररूप में चित्रित करने के लिए स्वाभाविक थी। भगवान् का नर-चरित्र भी यहाँ अधिक नहीं है, क्योंकि स्पष्ट नर-चरित्रों से उनका इसमें कोई सम्पर्क भी नहीं होता। इसमें न तो वह निषाद से नाव पर चढ़ाने के लिए प्रार्थना करते हैं, न जंगलों में रहने के लिए स्थान ढूँढते फिरते हैं, न स्त्री के आग्रह से हिरन को मारने के लिए दौड़ जाते हैं और न फिर स्त्री के खोए जाने पर विकल विरही के

रूप में विलाप करते-फिरते हैं। सुन्दरकांड में जो उनकी सत्ता है वह सांसारिक चंचलता से परे गम्भीर शान्त विकार शून्य स्थिरता की सत्ता है जिसमें परब्रह्म का भान करना कठिन नहीं है। नर-रूप के लौकिक व्यवहार में भी यहाँ उसी स्थिरता और मर्यादा के दर्शन होते हैं। लक्ष्मण में चंचलता दिखलाई देती है, वह कहते हैं कि समुद्र को सुखा दो; परन्तु सर्वज्ञ भगवान् मुस्करा कर निर्विकार भाव से केवल इतना ही उत्तर देते हैं - "धीरज धरो, ऐसा ही होगा।"

अखिल देवताओं के विजेता रावण का वध कराने में पहले यह आवश्यक था कि भगवान् के पूर्ण और असली रूप का ज्ञान करा दिया जाए। इसीलिए भगवान् में विकार आदि का लेश नहीं है। यही परब्रह्म का रूप है। अतएव हम इस कांड के आरम्भ में भी देखते हैं कि मंगलाचरण के प्रथम श्लोक में भगवान् का वर्णन "शान्तं शाश्वतप्रमेयमनघं निर्वाणशान्तिप्रदं ब्रम्हाशम्भुफणीन्द्रसेव्यमनिशं वेदान्तवेद्यं विभुं" कहकर किया गया है, दूसरे कांडों की भांति उनके रूप-आकार आदि का कथन करके नहीं। दूसरी बात यह है कि इस कांड में भगवान् स्वयं भी अपने सर्वशक्तिमान् रूप का प्रकाश करते हैं। दूसरे कांडों में उन्होंने अपने व्यक्तित्व को अपने मुख से इतना अधिक और इतने स्पष्ट रूप में प्रकट नहीं किया है, बीस पच्चीस पृष्ठों के इस कांड में उन्होंने कम से कम छै-सात स्थलों पर इस प्रकार अपने व्यक्तित्व का उल्लेख किया है, यथा—

सन्मुख होइ जीव मोहि जबहीं, जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं।
सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ, जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ॥
बचन काय मन मम गति जाही, सपनेहु बिपति कि चाहिय ताही।
जदपि सखा तव इच्छा नाहीं मोर दरसु अमोघ जग माहीं॥
—आदि।

दूसरों के द्वारा रामचन्द्रजी की महिमा का वर्णन तो तमाम कांड में ही भरा पड़ा है; जिसके उदाहरण हनुमान्-रावण का सम्वाद, रावण-विभीषण

का संवाद, राम-विभीषण का संवाद, शुक-रावण का संवाद आदि हैं। इस प्रकार "विमल ज्ञान" का मूल आधार सर्वशक्तिमान् का यथार्थ रूप दिखाना सुन्दर कांड का प्रधान पारमार्थिक उद्देश्य है।

परन्तु उद्देश्य इतने में समाप्त नहीं होता। उस ईश्वर को प्राप्त करने के लिए भक्ति ही सबसे सरल मार्ग है और भक्ति का आधार है सगुण-उपासना। भगवान् स्वयं कहते हैं—

सगुन-उपासक परहित, निरत नीति-दृढ़नेम।
ते नर प्रान-समान मम, जिनके द्विजपद-प्रेम॥

इस उपासना और भक्ति के सर्वश्रेष्ठ आदर्श भक्त शिरोमणि हनुमान्‌जी हैं; यहाँ तक कि रामजी यदि भवन हैं तो हनुमान्‌जी द्वार हैं। तुलसीदास जी को भी हनुमान्‌जी के द्वारा ही रामचन्द्रजी के दर्शन थे। हनुमान्‌जी सुन्दरकांड के मुख्यचरित्र हैं। वह भगवान के परम सेवक और अनन्य कार्य-साधक है। उनका बल, वेग अपार है। यदि कहा जाए कि वह भगवान् की ही एक शक्ति है तो अत्युक्ति नहीं होगी। परन्तु अपनी भक्ति की असीमता में वह अपने को अकिंचन समझते हैं और कहते हैं—

साखामृग की अति मनु साई, साखा तें साखा पैं जाई।
लाँघि सिन्धु हाटकपुर जारा, निसिचरगन बधि बिपन उजारा।
सो सब तव प्रताप रघुराई, नाथ न कछुक मोरि प्रभुताई।

महिमा और विनय के आगार स्वरूप ऐसे देवता का चरित्र किसके हृदय में भक्ति की उद्भावना नहीं करेगा? हनुमान्‌जी के सामने इस प्रकार श्रद्धा से झुककर हम हनुमान्‌जी के स्वामी के सामने स्वाभाविक रूप से ही झुक जाते हैं और उनके कुछ निकट पहुँच जाते हैं, क्योंकि भगवान् को भक्त प्रिय है और भक्त से भी अधिक भक्त का भक्त।

यही सुन्दरकांड का महत्व है और उसकी विशेषता है। ज्ञान-सम्पादन का प्रारम्भिक काम यहाँ इसी रूप में सिद्ध किया गया है—भगवान् की

पूर्ण महिमा दिखाकर और उनके प्रति भक्ति की सहज प्रेरणा करके। परन्तु कथा-विकास का अंग होने के कारण सुन्दरकांड लौकिक व्यवहार की व्यंजना से भी एकदम शून्य नहीं है, यद्यपि लौकिक व्यवहार में दुर्बल मानवी विकारों के दिखाने की यहाँ अधिक गुंजाइश नहीं है। भगवान् का रूप यहाँ पर पूर्ण शक्तिमान् स्थिर परिचालक का है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान का विभीषण से समुद्र पार करने के लिए राय माँगना एक ओर तो अभ्यागत के सत्कार की लोकमर्यादा का उदाहरण है और दूसरी ओर वह राजनीति की एक चाल भी है। विभीषण शत्रु पक्ष का एक विशेष व्यक्ति है और इस समय वह अपने पक्ष से रूठकर आया है। उससे शत्रु को जीतने में बहुत सहायता मिल सकती है—शत्रु के बहुत से भेद मालूम हो सकते हैं। अत: उसकी खातिर दिखाकर मिलाए रखना आवश्यक है, जिसके फल स्वरूप तत्काल ही उसका राजतिलक हो जाता है और उसे सलाहकार बना लिया जाता है। भगवान यह जानते हुए भी कि अन्ततः अपनी प्रभुता का प्रभाव दिखाए बिना समुद्र पार नहीं किया जा सकेगा, एक ओर तो मर्यादा पालन के लिए और दूसरी ओर विभीषण का मन रखने के लिए उसकी सलाह के अनुसार कार्य करते हैं। वैसे भी लोकानुभव की दृष्टि से सुन्दरकांड दूसरे कांडों की अपेक्षा कुछ विशेष हीन नहीं है। जितने से जीवनक्षेत्र को लेकर यह चलता उतने क्षेत्र के संसर्ग को चरितार्थ करने वाली अनेक अच्छी-अच्छी सूक्तियों से यह सुसम्पन्न है। उपर्युक्त राजनीतिक प्रसंग के ही दो एक उदाहरण द्रष्टव्य हैं, यथा—

"भय बिनु होइ न प्रीति।"

शठ सन विनय कुटिल सन प्रीती, सहज कृपण सन सुन्दर नीती।
ममतारत सन ज्ञान कहानी, अति लोभी सन विरति बखानी॥
क्रोधिहिं सम कामिहिं हरि-कथा, ऊसर बीज बये फल जथा।"
"काटे पै कदली फरै, कोटि जतन कर सीच।
विनय न मान खगेश सुनु, डाटेहि ते नव नीच॥"
"ढोल गँवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी।"

काव्य की दृष्टि से देखने पर हमको तुलसीदासजी की कविता के प्रायः सब मुख्य लक्षण सुन्दरकांड में मिलते हैं। अलंकारों में उपमा, रूपक आदि के उदाहरण यथेष्ट हैं जिनमें अवसर के अनुकूल नीति का पुट भी मिला होता है; रसाधार भावों के उदाहरण भी हैं, जैसे सीताजी का अपनी विरह-दशा का वर्णन; चरित्र-चित्रण में हनुमानजी और रामचन्द्रजी के उदाहरण दिए जा चुके हैं। चरित्र-चित्रण का उत्कर्ष यही है कि उससे पात्र के वास्तविक स्वभाव और कर्म का यथार्थ परिचय हो जाए। सुन्दरकांड पढ़कर हनुमान्जी की पूरी असलियत से हम बड़े स्वाभाविक ढँग से परिचित हो जाते हैं; रामचन्द्रजी का भी मूल, परन्तु यहाँ नया, रूप है उसे हम अच्छी तरह जान लेते हैं। थोड़े-थोड़े अंश में रावण तथा अन्य गौण पात्रों का भी कुछ परिचय होता है जो आगे लंका कांड में अधिक विकसित होता है। चरित्र-चित्रण के अन्तर्गत भावों की सूक्ष्म अवस्थाओं का भी कहीं-कहीं वर्णन है। सीताजी का विरहाकुल होकर अशोक से अंगार माँगना और अँगूठी को अँगार के धोखे से उठा लेना, फिर उसे पहचान कर चकित होना तथा हर्ष-विषाद के वशीभूत होकर मन में तरह-तरह के तर्क करना, छिपे हुए हनुमानजी के मुख से राम-गुण-गान सुनकर उल्लसित होना और हनुमान्जी के प्रकट होने पर विस्मय और संकोच से मुँह फेर कर बैठ जाना सूक्ष्म चित्रण का बड़ा श्रेष्ठ उदाहरण है।

काव्य के अंगभूत 'अद्भुत'-तत्त्व की, जिसे अंग्रेजी में romance कहते हैं, सुन्दरकांड में प्रचुरता है परन्तु प्रकृति वर्णन इसमें नहीं के बराबर है। यह शायद इसलिए कि बाल्मीकि के सुन्दरकांड का पूर्ण आधार लेकर तुलसीदासजी ने अपने सुन्दरकांड को अधिक बड़ा नहीं बनाना चाहा, क्योंकि उनका उद्देश्य यहाँ पर अपने प्रभु का असली रूप दिखाना तथा हनुमान् जी की महिमा का वर्णन करना ही था।

: ७ :

राष्ट्रभाषा का प्रश्न

पिछले पच्चीस-तीस वर्षों से, भारतीय राष्ट्रीयता की भावना के समुन्नत होने पर एक भारतीय राष्ट्रभाषा की वाञ्छा भी उसकी एक स्वाभाविक जीवन-समस्या बन गई है। राष्ट्रीय जाग्रति के उत्थान के साथ-साथ यह प्रश्न अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि भारत की राष्ट्रभाषा क्या हो; क्योंकि यह भी जाग्रति की समस्या का ही एक आवश्यक आधारभूत अंग है। राष्ट्र के भिन्न-भिन्न अंगों के पारस्परिक व्यवहार, प्रति संवादी सूत्रों के मिलाप और घनीकरण तथा विसंवादी सूत्रों की समंजसता के लिए एक ऐसी भाषा का होना जरूरी है जिसे सारा राष्ट्र आसानी से समझ सके। राष्ट्र यदि एक शरीर है और उसके भिन्न-भिन्न अंग उसकी इन्द्रियाँ, तो एक भाषात्व उसका मन है, जो सब इन्द्रियों का शरीर के हित के लिए उचित सहयोग कराता है। संसार के जितने भी समुन्नत राष्ट्र हैं सबको अपनी-अपनी राष्ट्रभाषा है; अथवा यों कहना चाहिए कि वे समुन्नत ही इसलिए हैं कि उनकी अपनी-अपनी राष्ट्रभाषा है। भारत की अभी तक कोई सर्वमान्य राष्ट्रभाषा नहीं हो पाई है; इसीलिए शायद भारत की पूर्ण राष्ट्रीयता में भी अभी कमी है वह सच्चे अर्थों में अभी राष्ट्र नहीं बन पाया है।

भारत में जो थोड़ी-बहुत जाग्रति अब तक हुई है उसमें एक सूत्रता के कार्य का श्रेय अँग्रेजी को मिलता है। परन्तु अँग्रेजी में दोष है। वह एक दम विदेशी भाषा होने के कारण दुरूह है। उसमें हिज्जे, उच्चारण और नए-अपरिचित व्याकरण की कठिनाइयाँ हैं। फिर, वह ऐसे शासकों की भाषा है जिन्हें भारत और भारतीयता से बहुत कम सहानुभूति है। अतः उसमें भारतीयों के लिए राष्ट्रीयता तत्त्व का अभाव है। इसके विपरीत कुछ-न-कुछ अराष्ट्रीयता को ही उससे प्रोत्साहन मिलता है, जो लोग थोड़ी-बहुत अँग्रेजी बोलना और उलटा-सीधा सूट पहनना सीख जाते हैं उनको

'तुम' के स्थान 'टुम', 'टूम' आदि बोलते हुए और किसी सीधे-सादे गरीब देहाती को 'ब्लेक निगर' आदि कहते हुए प्रायः लोगों ने सुना है। भारत में अँग्रेजी पढ़ने का अँग्रेजी पोशाक की नकल से और अँग्रेजी पोशाक की नकल का शासकोचित अँग्रेजी विचार-सरणि की नकल से कुछ स्वाभाविक सम्बन्ध-सा बना हुआ दिखाई देता है। क्या एक भारतीय भी अपने को अँग्रेजवत् समझने के मिथ्या अहंकार से भारत का हित कर सकता है? क्या कोई गुलाम भी झूठ-मूठ अपने को शासक के दल का नकली मोर बनाकर दूसरे गुलाम को फूटी आँखों देख सकता है? भारत में अँग्रेजी राज्य स्थापित हो चुकने के बाद उसके स्थिरीकरण पर विचार करते समय लार्ड मैकाले ने ठीक ही कहा था कि हिन्दुस्तानियों को अँग्रेजी सिखा दो और फिर सदियों तक उन्हें गुलाम बनाए रक्खो। अँग्रेजी ने देश में यदि कोई एक सूत्रता पैदा की तो उसने देश की राष्ट्रीयता पर भी कुठाराघात किया। अतः जिन लोगों ने पहले अँग्रेजी को देश के व्यवहार की व्यापक भाषा बनाने का प्रस्ताव किया था उन्होंने शायद भारतीयों के चिरबद्धमूल गुलाम-संस्कारों पर विशेष ध्यान नहीं दिया था।

अँग्रेजी केवल राजभाषा है। वह राष्ट्रभाषा नहीं है और न हो सकती है। राष्ट्रभाषा में जहाँ व्यापकता अभिप्रेत है वहीं उसमें राष्ट्रभावना के पोषक तत्त्वों का होना भी अनिवार्य है; और राष्ट्र तथा राष्ट्रीयता का संयोगसूत्र राष्ट्र देश की मौलिक संस्कृतियों में हुआ करता है। जो भाषा भारत देश के सांस्कृतिक अपनेपन की रक्षा कर सकती है—(रक्षा का क्या प्रश्न है? भाषा स्वयं संस्कृति की सहोदरा ही, अथवा उसी का एक अंग, है)—वही भारत की राष्ट्रभाषा बन सकती है। ऐसी ही भाषा के द्वारा देशांगों में एक सूत्रता और पारस्परिक सहानुभूति तथा भारतव्यापी एकोद्दिष्टता का विकास हो सकता है।

तब यह कहना पड़ता है कि भारत की राष्ट्रभाषा कोई भारतीय भाषा ही हो सकती है। व्यवहार की दृष्टि से उसमें हिज्जे, उच्चारण, व्याकरण

आदि की कठिनाइयाँ उतनी अधिक और उतनी व्यापक न होंगी जितनी किसी एक दम विदेशी भाषा को अपनाने से होती हैं, और उसका शब्दकोष भारतीय आवश्यकताओं के अधिक उपयुक्त रहेगा। राष्ट्रीयता की भी दृष्टि से, भारतीय भाषा बोलने वाले को झूठी हंस की चाल चलने का अवकाश उतना अधिक न मिल सकेगा।

भारत में अनेक भाषाएँ हैं। इनमें से किसे हम अपनी राष्ट्रभाषा बनाएँ। व्यवहार की उपयोगिता को देखते हुए, व्यापकता के उद्देश्य से, यह आसानी से कहा जा सकता है कि जो भाषा सबसे सरल और देश में सबसे अधिक प्रचलित होगी वही राष्ट्रभाषा बनने की अधिकारिणी है।

प्रान्तीय भाषाओं में एक राष्ट्रता के तत्व मिल जायेंगे। किन्हीं किन्हीं में तो काफ़ी अधिक। बँगला और मराठी भाषाओं ने भारतीय संस्कृति को बहुत कुछ संभाल-सुधार कर रक्खा है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि भारतीयता के नाते वंग और महाराष्ट्र देश परिवर्तन के युगों में बहुत समय तक देश के सामान्य शत्रुओं से प्रबल मोर्चा लेते रहे हैं और अपनी जातीय-राष्ट्रीय भावनाओं को वे निरन्तर जागरूक रखते रहे हैं। सचमुच ही यदि देखा जाए तो संस्कृति और राष्ट्रीयता के दृष्टिकोण से बँगाल या मराठी से अधिक उपयुक्त अन्य कोई भाषा राष्ट्रपद के लिए नहीं मिल सकेगी। परन्तु इन तथा दूसरी प्रान्तीय भाषाओं में, व्यवहार दृष्टि से बड़ी भारी त्रुटि अव्यापकता की है।

प्रान्तीय भाषाएँ अपने-अपने प्रान्तों में ही सीमाबद्ध हैं। राष्ट्र सीमा के दृष्टिकोण से उन्होंने अपना विस्तार नहीं किया है। अतएव किसी ऐसी भाषा की अपेक्षा में, जिसने प्रान्तों की परिधि को पार कर लिया है, प्रान्तीय भाषाओं का राष्ट्रीयभाषा बनने का दावा अधिक नहीं हो सकता। परन्तु हमें इतनी बात कहने की कोई जरूरत भी नहीं है। प्रान्तीय-भाषा-भाषी इस विषय में काफ़ी उदार रहे हैं और वस्तुस्थिति को समझ कर उन्होंने अपने प्रान्तों की भाषाओं को राष्ट्रभाषा बनाने का कोई

प्रस्ताव भी कभी पेश नहीं किया है।

भारत में केवल दो भाषाएँ ऐसी हैं जो प्रान्तों की परिधि से बहुत काफी बाहर निकल चुकी हैं और इसलिए 'राष्ट्रभाषा' पदवी के लिए आपस में प्रतिस्पर्धिनी कही जा सकती हैं। ये हैं - हिन्दी और उर्दू। ये किसी प्रान्तविशेष में सीमाबद्ध नहीं हैं। वैसे कहने को इन दोनों का स्थान संयुक्त प्रान्त है, पर संयुक्तप्रान्त से बाहर भी इन दोनों का प्रचार है। दोनों में तुलना करके देखा जाए तो हिन्दी अपने प्रचार में उर्दू से अधिक बढ़ी हुई है। संयुक्तप्रान्त, मध्यप्रान्त, राजपूताना, मध्यभारत, पंजाब, बिहार, ग्वालियर और बड़ोदा में यह फैली हुई है और गुजरात तथा बम्बई प्रान्त में भी इसका कुछ प्रसार है। केवल दक्षिण के कुछ स्थानों में अभी यह नहीं पहुँच पाई है। इसके विपरीत उर्दू का अधिकार केवल संयुक्त प्रान्त और पंजाब, भूपाल और हैदराबाद में है। हिज्जे और उच्चारण की दृष्टि से हिन्दी उर्दू की अपेक्षा अधिक सरल है।

हिज्जे और उच्चारण का सम्बन्ध तो लिपि से है, भाषा से नहीं। असल में, हिन्दी और उर्दू मूलतः दो भिन्न भाषाएँ हैं भी नहीं। यह हम जानते हैं कि भाषा और संस्कृति का घनिष्ट सम्बन्ध रहा करता है। हिन्दी कहने से हिन्द की संस्कृति की ध्वनि निकलती है। जब संस्कृति एक होती है तो उसकी भाषा भी एक ही होती है, और एक ही भाषा होने की दशा में उसके दो नाम प्रायः नहीं रक्खे जाते। एक ही भारतीय भाषा के द्विनामधारिणी होने की दशा में भी संस्कृतिबोधक नाम 'हिन्दी' ही है और यही नाम मौलिक भी है। मुग़ल दरबार ने इसी मौलिक नाम को अपनाया था; अथवा उसने ही, एक प्रकार से देश भाषा को यह नाम दिया था। 'उर्दू' का अभिप्राय 'लश्करी भाषा' से है जिस प्रकार 'टॉमी-इंग्लिश' कह कर हम उस असंस्कृत अंग्रेजी भाषा का बोध करते हैं जिसे गोरे रंगरूट आपस में बोला करते हैं उसी प्रकार उर्दू भी छावनियों की

भाषा थी, और उसका संस्कृत रूप हिन्दी था। अमीर ख़ुसरो और अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना की कविता की भाषा यही हिन्दी थी, असंस्कृत लश्करी भाषा नहीं।

इस प्रकार लश्कर और संस्कृत समाज के भेद से, 'हिन्दी' और 'उर्दू' एक ही भाषा के दो नाम थे। शिष्ट समुदाय की भाषा के संबन्ध में उर्दू नाम का प्रयोग तो बहुत बाद की चीज़ है जो जातियों की मानसिक विच्छेद भावना का उदय होने पर भी राजनीतिक प्रभेद के उद्देश्य से घटित किया गया है। जब तक मुसलमान, भारत में बस कर, भारत को अपना देश बना कर, भारतीय बने रहे —बाबर, हुमायूँ, अकबर, और शाहजहाँ की उत्तरोत्तर क्रम से अधिकाधिक गृह्यमाण भारतीय संस्कृति से कौन इन्कार करेगा? — तब तक 'हिन्दी'-'उर्दू' जैसे द्वित्व का प्रश्न सम्भव ही क्यों था यह तो मुसलमानों के ह्रासकाल में मुसलिम-राजवासना की स्पर्धा का फल हुआ कि उन्होंने बाद में, भारतीय होते हुए भी, पृथक्करण की पद्धति में सेमिटिक संस्कृति के तत्वों को अलग से प्रतिष्ठित करने की चेष्टा आरम्भ की। मुसलमानों के ह्रास का बीज भारतीय राजनीति में नूरजहाँ के आगमन के बाद से ही बोया जा चुका था जो औरंगज़ेब के ज़माने में एक विशाल वृक्ष का आकार धारण कर अच्छी तरह चारों ओर फैल गया। उधर, भारत में अंग्रेज़ों का भी पदार्पण हो गया था।

इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि मुग़ल-संस्कृति भी स्वयं शुद्ध सेमिटिक संस्कृति नहीं थी। वह सेमिटिक, ईरानी (या आर्य) तथा मंगोल संस्कृतियों का मिश्रण था। तभी यह सम्भव हो सका था कि मुग़लों ने भारत में बसने का संकल्प किया था और यहाँ बस कर वे भारतीय बन सके थे। अंग्रेज़ों की संस्कृति में ऐसी कोई बात न होने के कारण वे, अबसे तीन-सौ वर्ष पहले भारत में आकर भी, न तो भारतीय संस्कृति को अपना ही सके हैं और न उन्होंने यहाँ बसने का कभी स्वप्न ही देखा है।

राजनीतिक स्पर्धा में भारतीयता से अपना विच्छेद करके जिस सेमिटिक पृथक्‌ता को मुसलमानों ने अपनाए रक्खा वह, वास्तव में, कृत्रिम है। हिन्दू-मुसलमानों का विभेद शहरों में ही विशेष दिखाई देता है। परन्तु हिन्दुओं की भाँति मुसलमानों की भी अधिकांश जनसंख्या देहातों में ही रहती है। आप देहातों में जाकर देखिए। उनकी भाषा, रहन-सहन सारी संस्कृति भारतीय ही है। दोनों में कोई भेद नहीं है—आप ग्रामीणों को देखकर या उनसे बातचीत करके यह पहचान भी न सकेंगे कि उनमें कौन-सा मुसलमान है और कौन-सा हिन्दू। परन्तु, फिर भी यदि उर्दू के पक्ष में जो कुछ कहा जा सकता है उन सबको मान भी लिया जाए तो भी खुला प्रश्न यह रहता है कि—क्या भारत में भारतीय संस्कृति और तदुचित भाषा उसकी राष्ट्रीयता का साधन बनेगी, अथवा सेमिटिक संस्कृति, जो वर्तमान मुसलमानों और उनके पूर्वजों के लिए भी पूर्णतः स्वदेशी नहीं है और न थी?

आर्य और सेमिटिक संस्कृतियों का विरोध भारत में साम्प्रदायिकता का रूप धारण करके इस प्रकार बढ़ा या बढ़ाया गया, कि पिछले दिनों कुछ महानुभावों को उर्दू और हिन्दी के समझौते की, इन दोनों के बीच का कोई मध्य मार्ग ढूँढने की, आवश्यकता प्रतीत हुई। तब 'हिन्दुस्तानी' का नाम सुनाई पड़ा जिसमें 'हिन्दी' शब्द के व्यापकत्व की लाज निभाने का भी बहाना था। पर; 'हिन्दुस्तानी' शब्द की कल्पना ही उसकी सबसे पोच दलील है। 'हिन्दी' और 'हिन्दुस्तानी' शब्दों के अर्थ में क्या भेद है? क्या दोनों की व्याप्ति भी एकसी-ही नहीं है? ऐसी सूरत में हिन्दी को अपदस्थ करना, उसे उसकी व्याप्ति से विलग करना, साम्प्रदायिकता को ही एक दूसरा रूप देना नहीं है क्या? हिन्दी को हिन्दुओं की ही भाषा मानकर केवल उनका विरोध करने के लिए और, इस प्रकार साम्प्रदायिकता को एक भिन्न रूप में संतुष्ट करने के लिए ही ऐसा किया जाना सम्भव मालूम होता है।

यह हिन्दुस्तानी भाषा चीज क्या होगी ? कहा जाता है कि वह न हिन्दी होगी, न उर्दू। हिन्दी और उर्दू तो हिन्दुओं और मुसलमानों की भाषाएँ बना दी गई हैं न। हिन्दुस्तानी दोनों से ही भिन्न एक ऐसी वस्तु होगी जो जन साधारण की भाषा कहलाएगी। और जन साधारण की भाषा को बनाने वाले होंगे जनसाधारण नहीं, बल्कि हम और आप, हिन्दी और उर्दू के हामी और उर्दू और हिन्दी के विरोधी, विशेषतः हिन्दी के विरोधी। तो फिर यह एक नई ही भाषा होगी।

सिद्धान्त रूप से एक कृत्रिम भाषा तैयार करने का आयोजन एक बड़ी ही विरूप और अकांड कल्पना है। लाखों वर्ष के मानव जाति के इतिहास में आज तक कोई भाषा बनाई जाती हुई नहीं देखी गई। भाषाओं का सदा विकास ही होता है, वे स्वयं ही बनती हैं। फिर व्यावहारिक भाषा का बनाना तो और भी उपहास्य बात है, क्योंकि व्यवहारिक भाषा तो सदा बनी हुई ही रहती है—वह भविष्यत की वस्तु ही नहीं है। और जो व्यावहारिक भाषा होती है समाज में उसका कोई नाम भी रहता ही है। हमारी वर्तमान व्यावहारिक भाषा का भी नाम है 'उर्दू' अधिक व्यापक और राष्ट्रीय अर्थ में, 'हिन्दी'।

निष्पक्ष भाव से विचार करने पर समझदार व्यक्तियों को यही पता लगेगा कि 'हिन्दी' नाम साम्प्रदायिकता को दूर कर राष्ट्रीयता को पुष्ट करने वाला है। हिन्दी भाषा हिन्दुओं-मुसलमानों और अधिकांश प्रान्तों तथा राज्यों की व्यावहारिक भाषा है। वह अपेक्षाकृत रूप में सरल भी है। हिंदी में अपनाने की जितनी शक्ति है उतनी और किसी भाषा में नहीं—संस्कृत से लेकर अँग्रेजी, फारसी, अरबी, बंगला, मराठी और गुजराती के कितने ही शब्दों और प्रयोगों को इसने अपना अंग बना लिया है। इन बातों को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि और अधिक क्षेत्र प्राप्त होने पर उन क्षेत्रों के उपयुक्त भी यह अपने को न बना लेगी।

: ८ :

परमाणुवाद

पंचतत्त्वों—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—का सम्बन्ध भौतिक विज्ञान और रसायन-शास्त्र से है और इसमें सन्देह नहीं कि अपनी आदिम आवश्यकताओं की पूर्ति में सबसे पहले मनुष्य इन्हीं दोनों विज्ञान शाखाओं के तत्त्वों से, यद्यपि लक्ष्यहीन रूप में, परिचित हुआ होगा। मुक्के, नाखून, दाँत आदि से काम लेने के बाद जब उसने धीरे-धीरे ढेले या पत्थर, लकड़ी की शलाका, मुद्गर या गदा, तीर-कमान, बन्दूक-पटाखे और बम के गोले का प्रयोग सीखा तो वह आरम्भ से ही भौतिक और रासायनिक तत्त्वों को उपयोग में लाने लगा था। इसी भाँति जब वह केवल मात्र पैदल चलने या दौड़ने की अवस्था से बढ़कर तरह-तरह के यानों का, गुफाओं में या पेड़ों के नीचे सोने के बाद कच्चे-पक्के झोपड़ों या महलों का, और जिस किसी पशु के कच्चे मांस या कच्चे शाक-पात से बढ़कर विशेष पशुओं के उबाले या पकाए हुए मांस अथवा विशेष वनस्पतियों के संयोग से राँधे हुए व्यंजनों का, उपयोग करने लगा तब वह शुरू से ही भौतिक और रासायनिक और भौतिक शाखाओं से हुआ हो। अपने वर्तमान जीवन के दैनिक कर्तव्यों और उपयोगों में पल-पल और पग-पग पर हम रासायनिक और भौतिक विज्ञान के आश्रित हैं।

रसायन पदार्थ-विज्ञान है और भौतिक शास्त्र शक्ति-विज्ञान। रसायन द्वारा द्रव्यों के गुण, संगठन और योग की खोज की जाती है। भौतिक शास्त्र द्वारा हम प्रकृति की सञ्चालक शक्तियों की, अर्थात् उन शक्तियों को जिनके द्वारा द्रव्य प्रभावित होकर संचालित होता है, खोज करते हैं। पटाखा बनाने में भिन्न-भिन्न द्रव्यों के मेल से बारूद आदि जो नए यौगिक द्रव्य तैयार किये जाते हैं वे रासायनिक हैं; परन्तु उन द्रव्यों के योग से उनमें जो नई शक्ति पैदा होती है, जिसके कारण विस्फोट आदि होता है, वह

आंतिक है। स्याही-सोख कागज (bloting paper) किन्हीं विशेष रासायनिक योगों से बना है और उसका स्याही को अपने में खींचना एक विशेष भौतिक क्रिया है। पंचभूतों या पंचतत्वों में जो असाधारण शक्ति-संचालन दिखाई देता है वह भौतिक विज्ञान का विषय है। परन्तु पंच-भूत भी द्रव्य हैं और उनके अवयवों के संगठन आदि का विषय रसायन क्षेत्र है।

वैज्ञानिक और दार्शनिक दोनों ही सृष्टि तथा प्रकृति के आदि स्रोत का जहाँ तक उनकी सामर्थ्य है, पता लगाने को कोशिश करते हैं। परन्तु दोनों के तरीकों और दृष्टिकोण में कोई समानता नहीं है। एक केवल भौतिक तत्वों में ही जगत् के सारे रहस्य को ढूंढना चाहता है, तो दूसरा उसको मन या धारणा की उपज सिद्ध करता है। विज्ञान का धारणा से कोई सम्बन्ध नहीं। तथापि भारत में एक दर्शन-शाखा ऐसी हुई जिसने अध्यात्म और प्रकृति-विज्ञान को मिलाने की चेष्टा की है।

बताया गया है कि पृथ्वी, जल, वायु आदि भी द्रव्य ही हैं। हम देखते हैं कि द्रव्य भी दो प्रकार के होते हैं—मूल द्रव्य, अर्थात् वे जो स्वयं अन्य द्रव्यों के मेल से नहीं बने हैं, और यौगिक द्रव्य अर्थात् जो भिन्न-भिन्न द्रव्यों के मेल से बनते हैं। पृथ्वी, जल आदि मूल द्रव्य नहीं हैं और इनके संगठन को जानने की विज्ञान की प्रवृत्ति होती है। भारतीय सांख्य दर्शन बतलाता है कि सब द्रव्यों, समस्त प्रकृति, का आधार त्रिगुण सत्व-गुण, रजोगुण और तमोगुण हैं। जब तक ये तीनों अपनी सम अवस्था में रहते हैं, तब तक कोई सृष्टि नहीं होती। इनका एक दूसरे से संयोग होने पर सृष्टि होती है और उनको अलग-अलग मात्राओं की विभिन्नता से सृष्ट पदार्थों के भेद नानारूप बनते हैं तीनों गुणों का मेल जहाँ एक और रासायनिक पदार्थों की सृष्टि करता है वहीं दूसरी ओर वह उन्हें भौतिक संचार अथवा गति-शक्ति भी प्रदान करता है। इस प्रकार यदि दार्शनिक व्यवस्था के अनुसार यह जगत मन या धारणा—जो मन का हूं

एक विकार है—की उपज है तो मन स्वयं तीनों गुणों के मन से बना हुआ एक यौगिक तत्व है। भारतीय सांख्य दर्शन इसी प्रकार सृष्टि के संगठन और संचालन का रासायनिक भौतिक विश्लेषण करता है उसके आध्यात्मिक सिद्धान्त से यहाँ हमें कोई सरोकार नहीं है।

पाश्चात्य विज्ञान सब द्रव्यों के मूल में अणुओं और परमाणुओं को मानता है। परमाणु पदार्थ का वह छोटे से छोटा भाग है जिसके टुकड़े नहीं किए जा सकते। परमाणु मूल द्रव्य हैं और विज्ञान ने पता लगाया है कि सृष्टि में ६२ प्रकार के मूल द्रव्य अथवा परमाणु हैं। सृष्टि के समस्त पदार्थ इन्हीं ६२ प्रकार के परमाणुओं में से कुछ समान या असमान परमाणुओं के मेल से बने हुए हैं उदाहरण के लिए चाँदी शुद्ध द्रव्य है; अर्थात् वह एक ही प्रकार के परमाणुओं के संग्रह से बनी है; चाँदी का एक परमाणु चाँदी का वह छोटे-से-छोटा टुकड़ा है जिसके अन्य टुकड़े नहीं किए जा सकते। परन्तु जल हाइड्रोजन और आक्सिजन नामक दो शुद्ध द्रव्यों के परमाणुओं से बनता है और, इसलिए, यौगिक द्रव्य है। जिन ६२ मूल द्रव्यों का पता विज्ञान को लगा है, उनमें कुछ तो ठोस हैं। जैसे चाँदी, कुछ तरल हैं पारा, और कुछ गैस के रूप में हैं जैसे आक्सिजन, हाइड्रोज आदि।

यौगिक द्रव्य का सबसे छोटा भाग भी यौगिक ही होगा। यदि जल दो मूल द्रव्यों, हाइड्रोजन और आक्सिजन, के परमाणुओं से बना है तो जल का सबसे छोटा अंश भी इन्हीं दोनों परमाणुओं का योग ही होगा। इस सबसे छोटे अंश को अधिक तोड़ने से जो हासिल होगा वह जल का अंश नहीं, बल्कि आक्सिजन और हाइड्रोजन के अलग-अलग परमाणु होंगे। किसी यौगिक द्रव्य के उस सबसे छोटे अंश को जिसमें उस द्रव्य के अंश वर्तमान रहें, अणु कहते हैं; अर्थात् हमारे उदाहरण में जल का सबसे छोटा भाग हाइड्रोजन और आक्सिजन के परमाणुओं का सबसे छोटा योग है। इससे स्पष्ट है कि प्रकृति में परमाणु तो सबसे छोटा शुद्ध अथवा मूल द्रव्य है और अणु सबसे छोटा यौगिक द्रव्य।

जिस प्रकार सांख्य सिद्धान्त के अनुसार त्रिगुणों के भिन्न-भिन्न परिमाणों के मेल से असंख्य प्रकार के यौगिक द्रव्यों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार परमाणु सिद्धान्त में भी भिन्न-भिन्न संख्या में भिन्न-भिन्न परमाणुओं के मेल से प्रकृति के अखिल पदार्थों की सृष्टि होती है। हाइड्रोजन के दो परमाणु और आक्सिजन के एक परमाणु के योग से जल का एक अणु बनता है; परन्तु दो हाइड्रोजन परमाणु और दो आक्सिजन परमाणु मिलकर हाइड्रोजन पैरक्साइड का एक अणु बनाते हैं। इसी प्रकार आक्सिजन और कार्बन के एक-एक परमाणु से कार्बन मोनोक्साइड नामक ज़हरीला गैस बनेगा, परन्तु आक्सिजन के दो और कार्बन के एक परमाणु से कार्बन-डि-आक्साइड तैयार होगा।

अणु और परमाणु इतने सूक्ष्म द्रव्य हैं कि इन्हें ज़बर्दस्त से ज़बर्दस्त खुर्दबीन या अणुवीक्षण यंत्र के द्वारा भी नहीं देखा जा सकता। परमाणु अणु से स्वाभाविकतया बहुत छोटा होता है, क्योंकि किसी-किसी द्रव्य के अणु में बहुत से परमाणु होते हैं। कल्पना की गई है कि जल की एक बूँद को यदि हम पृथ्वी के बराबर मान लें तो उसका एक अणु एक छोटी गेंद के बराबर होगा और यदि उस अणु को पृथ्वी के आकार का मान लिया जाए तो उस अणु में का एक परमाणु वैसी ही एक गेंद के आकार का होगा। इस प्रकार जल की एक बूंद में कितने अणु या परमाणु होते हैं इसका अन्दाज़ा करना सामर्थ्य के बाहर की बात है। वैज्ञानिकों का विचार है कि चांदी के एक परमाणु का व्यास एक इंच के दस करोड़वें भाग के बराबर होता है।

परमाणुवाद को यूरोप में वैज्ञानिक रूप देने वाला जॉन डाल्टन (सन् १७६६-१८४४) था। परन्तु परमाणुओं का सिद्धान्त बहुत पुराना है। ईसा के लगभग चार सौ वर्ष पहले यूनान के १ ाक्रिट्स ने अ ना यह मतप्रकट किया था कि तमाम द्रव्य परमाणुओं के बने हुए हैं और ये परमाणु हर समय गतिशील रहते हैं। द्रव्यों के संगठन का प्रश्न उठाते

हुए अरस्तू ने पाँच मूल द्रव्यों—पृथ्वी, जल, वायु आकाश और अग्नि—को माना है, जो परमाणुओं की खोज के अगले कदम की प्रस्तावना मात्र है। साख्य पंचभूतों से आगे बढ़कर त्रिगुणों की खोज तक पहुँच गया था। उपनिषदों में भी, इस रूप में, परमाणुवाद के प्रारम्भिक चिन्ह पाये जा सकते हैं, जहाँ सब भौतिक पदार्थों के मूल-भूत पाँच द्रव्य - पृथ्वी, जल, तेज आकाश और वायु—बतलाए गए हैं। परन्तु, पृथ्वी, जल आदि ऐसे द्रव्य नहीं हैं जिनके विभाग न किए जा सकें। वे तोड़े जा सकते हैं, जिसका अर्थ यह हुआ कि जिस रूप में हम उन्हें देखते हैं उस रूप में वे नष्ट भी किए जा सकते हैं। इसलिये वे अनित्य हैं, नित्य नहीं हैं। अतएव, थोड़ा आगे चल कर उस छोटे-से-छोटे नित्य तत्व की जिज्ञासा स्वाभाविक हो जाती है जिसके विभाग न किए जा सकें।

भारत में न्याय, वैशेषिक और जैन दर्शनों में इन अविभाज्य तत्वों अर्थात् परमाणुओं की चर्चा की गई है, पर वैशेषिक दर्शन में उनकी विशेष मीमांसा हुई है। उसके अनुसार परमाणु चार प्रकार के हैं जो पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के मूल में हैं और जो चार प्रकार के इन्द्रिय-ज्ञान, अर्थात् रूप (चक्षु), रस (जिह्वा), गन्ध (नासा), और स्पर्श (त्वक् या त्वचा) को पैदा करते हैं। प्रत्येक प्रकार के परमाणु में पाँच सामन्य गुणों के अतिरिक्त उनके अलग-अलग विशेष गुण भी हैं पृथ्वी, जल, तेज, और वायु के लक्षण हैं। सृष्टि के समस्त पदार्थों में जो भिन्न-भिन्न गुण हमें दिखाई देते हैं वे उन पदार्थों के परमाणुओं के गुणों के कारण ही हैं। वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक कणाद मुनि ने वायु का एक, तेज (अग्नि) के दो, जल के तीन और पृथ्वी के चार विशिष्ट गुण बतलाए हैं।

परमाणु जब आपस में मिलते हैं तभी सृष्टि का आरम्भ होता है। संगठन की पद्धति में पहले दो-दो परमाणु मिल कर जोड़े बनते हैं, फिर इस प्रकार के तीन-तीन जोड़ों के समवाय बनते हैं, और इसी प्रकार क्रम

चलता है। एक अणु आकार में एक प्रकाशकण के छठे भाग के बराबर माना गया है जो दिखाई नहीं दे सकता।

परमाणुओं का आकार गोल माना गया है। परमाणु नित्य हैं। उनका कभी नाश नहीं होता। प्रलय के समय वे केवल एक-दूसरे से अलग हो जाते हैं। स्वभाव से वे निष्क्रिय होते हैं, परन्तु बाहरी सम्पर्क से वे सक्रिय हो जाते हैं। सृष्टि के समय उनमें ऊपर लिखे ढँग से सम्पर्क होकर स्पदन होने लगता है। सृष्टि की मूल प्रेरणा में ईश्वर की इच्छा का होना आध्यात्मिक विषय है, परन्तु वैशेषिक दर्शन का यह कथन कि ईश्वर की इच्छा द्वारा सर्वप्रथम अग्नि और पृथ्वी के परमाणुओं से विश्वांड की उत्पत्ति होती है, सृष्टिकर्म को भौतिक रूप में समझने का प्रयत्न है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक परमाणु से छोटे किसी अन्य तत्त्व की कल्पना असम्भव थी। परन्तु विज्ञान को चैन कहाँ? गरमी पाकर परमाणु एक दूसरे से अलग हो जाते हैं। अधिकाधिक गरमी दे-दे कर हम बर्फ से तरल जल, तरल जल से भाप, और भाप से फिर हाइड्रोजिन तथा आक्सिजन को अलग-अलग प्राप्त कर सकते हैं। पर क्या हम अधिकतम गरमी का उत्पादन कर सकते हैं? कौन जाने सूर्य के भीतर कितनी गरमी है, जो करोड़ों मील की दूरी से भी हमको यहाँ झुलसा देती है। आधुनिक विज्ञान कल्पना करता है कि सूर्य की भीतर की गरमी परमाणुओं तक को पिघला कर उनके भी टुकड़े कर सकती है।

सर विलियम क्रुक्स (१८३२-१९१९) ने अपने प्रयोगों द्वारा यह बतलाया कि काँच की एक वायुशून्य नलिका में वैद्युत लहर का प्रवेश कराने पर उस नलिका में ज्योतिःकणों की एक धारा दिखलाई पड़ती है। सन् १८९७ में सर जोजेफ टॉमसन ने बतलाया कि ये ज्योतिःकण ऋणकण, गर्भित (negative) हैं जो आकार में हाइड्रोजन परमाणु के एक हजारवें भाग से भी छोटे हैं और ये ही कण वास्तव में सब प्रकार के द्रव्यों के मूल आधार हैं। इन कणों को एलेक्ट्रन का नाम भी दिया गया है।

अनुमान लगाया गया है कि एलेक्ट्रन का व्यास परमाणु के व्यास के दस हजारवें भाग के बराबर होता है।

बिजली के सम्बन्ध में यह बात सुविदित है कि उसमें दो प्रकार की धाराएँ या लहरें होती हैं—अकरण या (negative) और सकरण या (positive) एक दूसरी के बिना दोनों अपना काम नहीं कर सकतीं। अतः गवेषणा द्वारा वैज्ञानिकों ने पता लगाया कि परमाणु में अकरण और सकरण, दोनों प्रकार के कण रहते हैं, जिससे परमाणु में स्पन्दनशक्ति या गतिशीलता पैदा होती है। कई अकरण कण या एलेक्ट्रन एक या अधिक सकरण कणों के चारों ओर भारी वेग से नाचते रहते हैं। इस सकरण मध्यस्थ अथवा केन्द्रक को वैज्ञानिक भाषा में प्रोटीन (protein) कहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक परमाणु एक सौर मंडल के समान है, जिसमें पृथ्वी, चन्द्रमा आदि सूर्य के चारों ओर वेग से घूमा करते हैं। परमाणु का प्रोटीन या सकरण केन्द्रक तो सूर्य के समान है और उसके अकरण कण या एलेक्ट्रन उसके ग्रह नक्षत्र आदि के समान। इन एलेक्ट्रनों की गति बड़ी आश्चर्यजनक है—तीस हजार मील प्रति सैकंड से भी अधिक। क्या हम कल्पना कर सकते हैं कि हममें से प्रत्येक के शरीर में परमाणुओं के रूप में, कितने असंख्य सौर मंडल भयानक गति के साथ अपनी क्रिया में संलग्न हैं ?

किसी परमाणु के भीतर कितने एलेक्ट्रन हैं, इससे उस परमाणु के गुणों का निर्णय होता है। उदाहरण के लिए हाइड्रोजन के परमाणु में एक ही एलेक्ट्रन होता है, परन्तु कैलसियम (Calcium) के परमाणु में बीस एलेक्ट्रन होते हैं। एलेक्ट्रनों और प्रोटनों की संख्या भिन्न-भिन्न प्रकार के परमाणुओं में न्यूनाधिक होती है। कार्बन के परमाणु में छै एलेक्ट्रन बारह प्रोटनों के केन्द्रक के इर्द-गिर्द चक्कर लगाते रहते हैं।

यहाँ यह कल्पना करने की बात है कि जिस परमाणु के भीतर बीस या अधिक एलेक्ट्रन बीस हजार मील प्रति सैकंड की रफतार प्रत्येक क्षण

झपटते ही रहते हैं उसमें कितनी अधिक शक्ति निहित होगी; तथा इसी भाँति का इस विश्व में भी, जो इस प्रकार के अनगिनत परमाणुओं से ठसाठस भरा हुआ है, कितनी निःसीम शक्ति का भंडार छिपा हुआ होगा। बतलाते हैं कि एक ग्रेन हाइड्रोजन के परमाणुओं का यदि एक साथ विस्फोट किया जा सके तो उस विस्फोट की शक्ति से २८ लाख मन बोझ को तीन-सौ फुट ऊँचा उठाया जा सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि हम द्रव्य का नाश कर सकें तो हम अपार शक्ति का संग्रह कर सकते हैं। परन्तु विज्ञान अभी तक ऐसा करने में सफल नहीं हुआ है। परमाणु को विच्छिन्न करने के प्रयत्न का अभी तक इतना ही परिणाम निकला है कि हम किन्हीं-किन्हीं परमाणुओं के कुछ एलेक्ट्रनों को उनसे अलग करके उन परमाणुओं के रूप को बदल सकते हैं और उन्हें दूसरे-दूसरे परमाणुओं का रूप दे सकते हैं। यदि हम एक तोला पारे के प्रत्येक परमाणु में से एक-एक प्रोटोन और एलेक्ट्रन को अलग कर सकें तो बाकी हमें सोना प्राप्त हो जायगा; यद्यपि यह सच है कि पारे के परमाणुओं का इस प्रकार विश्लेषण अभी नहीं किया जा सका है।

वास्तव में प्रकृति के भीतर कणों और परमाणुओं के संयोग और वियोग की यह क्रिया स्वयं ही होती रहती है। कुछ द्रव्यों के सम्बन्ध में पता चला है कि उनमें से हमेशा कुछ-न-कुछ परमाणु आप-से-आप विच्छिन्न होकर दूसरे द्रव्यों के परमाणुओं से मिलते रहते हैं, जिससे दोनों प्रकार के द्रव्यों में परिवर्तन होता रहता है। यही प्रकृति की रासायनिक क्रिया है और रसायन शास्त्र का मूल रहस्य है। रेडियम नामक पदार्थ अपने परमाणुओं के स्वाभाविक और निरन्तर विच्छेद के कारण बाद में केवल सीसा रह जाता है और उससे विच्छिन्न हुए कण दूसरे कणों में मिलकर "हैलियम" नामक द्रव्य की उत्पत्ति का हेतु बनते हैं। ऊपर पारे के उदाहरण में हम देख चुके हैं कि विज्ञान अभी तक उसके कणों को विलग करके सोना नहीं बना सका है, पर कौन जाने प्रकृति की विशाल प्रयोगशाला में

जो सोना बनता है वह इसी प्रकार पारे के परमाणुओं को विच्छिन्न करके नहीं बनता। हीरा, इतना मूल्यवान् पदार्थ, अपने मूल रूप में और कुछ नहीं, केवल कार्बन है, जिसे प्राकृतिक प्रयोगशाला ने केवल परमाणुओं का अदल-बदल करके इतना चमकीला और कठोर बना दिया है। कण (एलेक्ट्रन) और परमाणु के सम्बन्ध में इसी तत्त्व की खोज करके आधुनिक रसायनशास्त्र नित्य नए-नए पदार्थों का आविष्कार और निर्माण करता रहता है।

: ६ :

भारतवर्ष और सिनेमा

वर्तमान शताब्दी की प्रगतिशील वैज्ञानिक देनों में से सिनेमा एक प्रमुख देन है। संसार में चलचित्र, व्यवसाय के रूप में भी और आमोद के रूप में भी, अब तक स्थायी ढंग से प्रतिष्ठित हो चुका है। देखने में आ रहा है कि भारत भी अपने आज के वातावरण में इस मनोहर सौगात को स्वीकार करने में पीछे नहीं रहा है। पीछे ही नहीं रहा है, सो बात नहीं; वह इसे धीरे-धीरे अपने जीवन का एक स्वाभाविक अंग भी बनाता जा रहा है और उसने इसमें बहुत थोड़े समय के भीतर ही अच्छी उन्नति कर ली है। दर्जनों फिल्म-कम्पनियाँ इस समय तक हमारे देश में कायम हो चुकी हैं जिनमें से अनेक ने अच्छी प्रतिष्ठा हासिल कर ली है और कुछेक की कलाकृतियाँ तो अन्तर्राष्ट्रीय चलचित्र-प्रदर्शिनी में खूब सम्मानित भी हो चुकी हैं।

भारत में सिनेमा की लोक प्रियता का प्रमाण बड़े-बड़े नगरों में सिनेमा-भवनों की संख्या और उनमें समुदित होने वाली भीड़ से प्राप्त किया जा सकता है। और इस भीड़ में छोटे-बड़े, गरीब-अमीर, अपढ़-विद्वान्—रोज-रोज कुआ खोद कर पानी पीने वाले मजदूर, इक्के-ताँगे वालों तथा

लक्ष्यहीन आवारागर्दों और गुंडों से लेकर देश के सम्मान्य अभिजात-वर्ग, लक्षाधीशों, बड़े बड़े हाकिमों तक—सभी कोई देखने को मिलते हैं। स्त्रियाँ भी जाती हैं पर्दानशीन स्त्रियाँ तक—यहाँ तक कि स्त्रियों के लिए अलग से स्वतन्त्र प्रदर्शन तक किए जाते हैं। परन्तु दर्शकों की सबसे अधिक संख्या चवन्नी-क्लास वाले अद्ध-लोफरों की या शौकीन और निश्चिन्त विद्यार्थियों की ही प्रायः हुआ करती है। हम यह भी देखते ही हैं कि प्रत्येक सिनेमा-हाउस दिन के (अर्थात् "मैटिनी") प्रदर्शन से लगाकर रात के एक-दो बजे तक तीन-चार "शो" प्रतिदिन दिखा देता है। प्रत्येक सिनेमा हाउस में औसत की दृष्टि से पाँच-सौ दर्शकों के लिए स्थान रहता है। इस प्रकार प्रत्येक सिनेमा-गृह में मोटे अनुमान से लगभग डेढ़ दो हजार व्यक्ति प्रति दिन चल चित्र देखने के लिए पहुँचते हैं।

चल चित्रों के निर्माण में सबसे अग्रस्थान अमरीका का है। वहाँ इस कला की बहुत उन्नति की गई है। आधुनिक सभ्य जीवन के अन्य बहुत से पहलुओं में भी तो अमरीका ही सब से आगे है। वहाँ तो सिनेमा-निर्माण का एक उपनगर ही अलग बस गया है, जिसका नाम "हालिवुड" है। यह बात नहीं कि "हालिवुड" के अतिरिक्त अन्य स्थानों में चलचित्र बनाए ही नहीं जाते, परन्तु "हालीवुड" केवल सिनेमा-निर्माण की ही विशेषता का स्थान है। अकेले "हालिउड" में चलचित्र निर्माण करने वाली पचास से अधिक कम्पनियाँ हैं। जिन्हें "फीचर फिल्म" कहते हैं उनका प्रति वर्ष संसार में जितनी संख्या में निर्माण होता है उसकी आधी से अधिक संख्या केवल अमरीका से निकलती है। वर्ष भर संसार भर में बनाई जाने वाली १३५० "फीचर-फिल्मों" में से साढ़े-सात सौ अमरीका में बनती हैं। इसके बाद जर्मनी में २००, ग्रेट ब्रिटेन में १४०, रूस में १३० और फ्रान्स में ६० बनती हैं। शेष ७० संसार के अन्यान्य स्थानों में बनाई जाती हैं। इंग्लैण्ड में सिनेमा-निर्माण के मुख्य केन्द्र एलस्ट्री 'बोरहम वुड' और 'शेरहर्डस बुश' आदि हैं। भारतवर्ष में इस समय बम्बई इस दिशा में सब से आगे है।

भारतवर्ष के प्राकृतिक वैभव, यहाँ की भूमि की चित्रशबलता, यहाँ के नागरिक और देहाती जीवन का वैविध्य; यहाँ के राजघरानों, राजकीय जीवन और राजमहलों का बहुमुखी ऐश्वर्य तथा उनकी अपनी अपनी ऐतिहासिक परम्पराएँ; लोगों की वेषभूषा, रहन-सहन आदि की अनेकरूपता, अनेक वर्गों, जातियों धर्मों और प्रान्तों की विभिन्नताएँ और उनके पारस्परिक संसर्गों और सम्बन्धों की रूपरेखा आदि—ये सब इस देश की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनमें यहाँ फिल्म-व्यवसाय के लिये एक बड़े उज्ज्वल भविष्य की सम्भावना देखी जा सकती है। भारतवर्ष एक छोटे महाद्वीप की समता रखता है। अपने क्षेत्रफल में रूस को छोड़ कर शेष यूरोप की बराबरी करने वाले इस उर्वर महादेश की जनसंख्या समस्त संसार की जनसंख्या का दसवाँ या बारहवाँ भाग है। भारतीय जीवन के वर्तमान समस्या-बाहुल्य और उसके ऐतिहासिक तथा पौराणिक युगों के अक्षय भंडार में साहित्यिक प्रेरणा के कभी न चुकने वाले संख्यातीत स्रोत पाये जा सकते हैं। हमारा वर्तमान और प्राचीन साहित्य इसका प्रमाण देता है। भारत में सिनेमा को, इस प्रकार जहाँ एक, विशाल स्वतन्त्र क्षेत्र का विस्तार प्राप्त है वहीं उसके लिए विषय की निरन्तर अभिनवता की भी असीमता सहज उपलभ्य है।

व्यवसाय-दृष्टि से सिनेमा के पक्ष में काफी कहा जा सकता है। जिस व्यवसाय का स्वाभाविक सम्बन्ध जनता की व्यापक वृत्तियों और बहुमान्य जातीय तथा सामाजिक आवश्यकताओं का आश्रय ग्रहण कर मनुष्य की सहज-कौतुक-वृत्ति और आनन्द-वाञ्छा की तृप्ति से होगा उसकी माँग क्यों न अत्यधिक होगी। मनुष्य को दिन भर की सचिन्त व्यस्तता के बाद थोड़े-से आमोद, मन-बहलाव की आवश्यकता भी होती ही है। मन-बहलाव के तरीकों को सौंदर्य और कला विशेष आकर्षण प्रदान कर देते हैं। जब सिनेमा न थे तब नाटक मानव वृत्तियों और समस्याओं का, उन्हें सौन्दर्य और कला से परिवेष्ठित कर, प्रदर्शन किया करते थे। सिनेमा ने सौंदर्य, कला और रोमांस (romance) की चारितार्थता में अधिक सफल होकर नाटक

को धीरे धीरे अपदस्थ कर दिया । यह लोक-मनोविज्ञान की ही एक घटना थी । अपने समय में भी नाटक इतने लोक प्रिय न हो सके थे जितना कि आजकल सिनेमा हो गया है, क्योंकि नाटक-गृहों में दर्शकों के अभिजात और अनभिजात लोक वर्गों का विभेद अधिक व्यवहार्य रूप में आचरित हो पाता था । नगरों में प्रायः कोई सप्रतिष्ठ ढँग के स्थायी नाट्य-गृह न थे, अधिकतर नाटक-कम्पनियाँ घूम-फिर कर ही अपना प्रदर्शन करती थीं, वे जहाँ जहाँ जाती थीं । वहाँ वहाँ अपना अस्थायी भवन और मंच बना लेती थीं, उनके पास जीवन की बहुविधि परिस्थितियों के प्रदर्शन के लिए पर्दों आदि की असंख्यता असंभव थी और प्रत्येक कम्पनी का कौशल उसके अर्थ-सामर्थ्य के अनुसार उसके ही अच्छे या बुरे अभिनेताओं की क्रिया-कला से अविरुद्ध रहता था । नाटक को देखने और दिखाने में समय भी अधिक लगता है । सिनेमा ने इन सब कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर ली है । व्यवसाय की दृष्टि से लोकप्रियता की साधक यह विजय चलचित्र की अभ्युन्नति का एक अद्वितीय अवसर है । और यह अवसर उतना ही उज्ज्वलतर होता जायेगा जितना ही फिल्म-कम्पनियों का ध्यान कला और सौन्दर्य के साथ साथ मानव वृत्तियों तथा देश की जातीय, सांस्कृतिक और सामाजिक माँगों के सामञ्जस्य पर दृढ़ होता जाएगा ।

वर्तमान समय की अनेक समस्याओं के समाधान में सिनेमा-प्रचार से बड़ी सहायता मिल सकती है । इन समस्याओं में सबसे बड़ी समस्या देश के शिक्षित युवकों की बेकारी की है । अमरीका का फ़िल्म-व्यवसाय उस देश के ढाई-तीन लाख व्यक्तियों को आजीविका प्रदान करता है । भारतवर्ष के नवयुवकों को ऊँची शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी प्रायः पचीस तीस रुपये की क्लर्की के लिए दर-दर पर असहानुभूतिशील अहंकारी अफ़सरों तथा बड़े बाबुओं के तलुवे बरसों तक सुहलाने पड़ते हैं और क्लर्की मिल जाने पर आठ-आठ घण्टे की निरन्तर बैठक में अपने अमूल्य स्वास्थ्य की आहुति देनी पड़ती है । इसके विपरीत सिनेमा कम्पनियाँ अच्छे वेतन

देती हैं; अपने ही हित की दृष्टि से सिनेमा वाले नियोजक व्यवहार में दफ़्तरी नियोजकों की भाँति कटु और कठोर नहीं हो सकते; फिल्म-कम्पनियों के अभिनेताओं तथा अधिकांश अन्य कर्मचारियों का कार्य भी सहज व्यायाम और मनोविनोद के ढँग का रहता है। सिनेमा व्यवसाय की अभिवृद्धि के साथ देश में प्रदर्शन-गृहों की संख्या वृद्धि होना भी स्वाभाविक ही है। अमरीका में यदि अधिक फिल्म-निर्माण होता है तो वहां के प्रदर्शन-गृहों की संख्या भी बीस हज़ार से ऊपर है, जब कि सारे यूरोप के प्रदर्शन-गृहों की संख्या सत्ताईस हज़ार है। प्रत्येक ऐसे गृह में कम से कम पन्द्रह-बीस कर्मचारियों का औसत तो समझ ही लेना चाहिए। इस प्रकार ५००० प्रदर्शन-गृह लगभग एक लाख व्यक्तियों को जीविका दे सकते हैं। इसके अतिरिक्त इन गृहों से अनेक क्षुद्र व्यवसायियों को भी बड़ा अच्छा सहारा मिलता है। प्र येक गृह से स'लग्न दस-पाँच दुकानें और खोमचे पान-सिगरेट, सोडा, चाय, मिठाई-नमकीन आदि बेचने वालों के रहते ही हैं।

सिनेमा-प्रचार और विज्ञापन का बड़ा साधन है। वर्तमान युद्ध के समय सिनेमा द्वारा प्रचार के उदाहरण हमने देखे हैं। समसामयिक जीवन के नाना चित्रों को सर्वसामान्य जनता के सामने उपस्थित करके सिनेमा हमारे सामाजिक तथा गार्हस्थ जीवन में फैली हुई अनेक अप्रयोज्य रूढ़ियों एवं उनकी बुराइयों से हमको प्रभाव पूर्ण रीति से अवगत कराता है। इस प्रकार जो काम हमारी सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध में हमारे समाज-सुधारक तथा पत्रकार कदाचित बड़े लम्बे समय में कर पाते हों उसे सिनेमा लोक-रञ्जन की प्रेरणा के साथ सरलता से और शीघ्र कर सकता है। वर्तमान युग के राष्ट्रीय जीवन में हमारे देश के अर्द्धांग, हमारे महिला समाज, का पूर्ण सहयोग कुछ महानुभावों की राय में अत्यन्त अभीप्सित है परन्तु अभी तक हमारी महिलाओं का काम घर के भीतर रोटी पकालेने और बच्चों को पालने के अतिरिक्त प्रायशः और कुछ नहीं था, सामाजिक जीवन में उनका कोई भाग नहीं था—वे जैसे समाज का अ'ग ही नहीं थीं। पुरुषों के भी

विशाल, बहुमुखी जीवन से वे सर्वांशतः बहिर्गत ही थीं। रजतपट के चित्रों में हम स्त्री और पुरुष के पारस्परिक सम्पर्क को अधिक व्यापक, सामाजिक, रूप में प्रतिफलित होते देखते हैं। परोक्षरूप में इस सबसे दर्शकों को क्या इस सत्य की प्रेरणा नहीं मिलती कि पुरुष के विशाल जीवन में स्त्री की कर्त्तव्यता कहाँ तक उत्तरदायिनी बनाई जा सकती है? ऐसा समझना क्या एकदम ही मिथ्याचार होगा कि वर्तमान समय में जो स्त्री-शिक्षा की उन्नति हो रही है और परदे की प्रथा का धीरे धीरे बहिष्कार किया जा रहा है उसका कुछ न कुछ उत्तरदायित्व तो शायद सिनेमा की उन्नति पर भी है?

युद्ध के समय में सिनेमा ने युद्ध सम्बन्धी प्रचार-कार्य में काफी योग दिया है जब हम देखते हैं कि इसके द्वारा सफाई के महत्त्व और साधनों का, छूत वाले रोगों से बचने के उपायों का, कृषि के आधुनिक वैज्ञानिक तरीकों का, सन्देश देहातों तथा शहरों के असंख्य अपढ़ लोगों तक आसानी से पहुँचाया जा सकता है तो हमें सिनेमा की शिक्षण-सामर्थ्य और प्रचार-योग्यता में सन्देह नहीं रहना चाहिए।

परन्तु सिनेमा का सबसे बड़ा लाभ और उसकी सबसे अधिक शिक्षण-पढुता शायद इस बात में है कि वह घर-बैठे हमको भ्रमण करा देता है। भ्रमण के महत्व और लाभों से कोई व्यक्ति इंकार नहीं कर सकता। परन्तु सारे संसार का-विशेषतः उसके अति सुदूर, अगम्य अथवा दुर्गम एवं अन्यथा असम्भव स्थानों और प्रदेशों का भ्रमण किसी एक व्यक्ति के लिए, चाहे वह कितना ही समर्थ और समृद्ध क्यों न हो, असम्भव है। सिनेमा हमको ऐसे-ऐसे प्राकृतिक दृश्यों की सैर कराता है जिनकी हम प्रायः कल्पना भी नहीं कर सकते। वह हमारे सामने विभिन्न युगों के और विभिन्न देशों के राजभवन, सभाभवन, दुर्ग, युद्धादिक के चित्र उपस्थित करता है। वह एक साथ ही हमें जल, स्थल और आकाश की, तरह तरह के वाहनों सहित सैर करा देता है। सिनेमा द्वारा भिन्न भिन्न प्रदेशों से

परिचित होकर हमें वहाँ के जलवायु आदि का ज्ञान प्राप्त करते हैं; वहाँ निवास करने वाली भिन्न भिन्न जातियों के लोगों—उनके रूप-आकार, वेश-भूषा, रहन-सहन, घरेलू तथा सामाजिक आचार-व्यवहार आदि-से अवगत होते हैं। संक्षेप में, हम विश्व-जीवन का अन्तरंग ज्ञान हासिल करते हैं और विभिन्न जातियों, देशों-प्रदेशों आदि की अनेक इकाइयों के समन्वय से संघटित एक विशाल विश्वरूप इकाई का बोध करते हैं। हमें मालूम होता है कि असंख्य प्रकार के भेदों-अभेदों के भीतर भी मानव प्रकृति और मानव स्वभाव का अन्ततः एक ही रूप है। इस प्रकार सिनेमा हमको व्यावहारिक रूप में प्रकृति और मनुष्य के विकास, सामाजिक और राजनीतिक इतिहास, ज्ञान-विज्ञान, भूगोल आदि विषयों की सरस और प्रत्यक्ष शिक्षा देने का श्रेय धारण करता है।

सिनेमा ने, सिनेमा द्वारा प्रदर्शित हमारी दलित व्यथाओं और जीव-नाशाओं के लोक-साक्ष प्रत्यक्षीकरण ने, व्यक्ति को मानव बनाने का उपाय किया है—उसने व्यक्ति को मानवता की प्रामाणिकता दी है। प्रसिद्ध मनोविश्लेषक डा० फ्रायड के मतानुसार मनुष्य की अन्तःप्रेरणाओं का बलवत् नियंत्रण उसके भौतिक, शारीरिक तथा मानसिक (आध्यात्मिक) ह्रास का हेतु है। इस सिद्धान्त को वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में तथा तद्विशिष्ट चिकित्सालयों में मानसिक चिकित्सा के प्रयोगों द्वारा प्रमाणित करने की सफल चेष्टाएँ हुई और हो रही हैं। और, नित्यप्रति के जीवन में ही, यदि देखा जाय तो, जातियों का ललित साहित्य क्या इस तरह की प्रयोगशालाओं का लक्ष्य सिद्ध नहीं कर रहा है? नैमित्तिक भौतिक जीवन में रति, उत्साह, अद्भुत आदि से सम्बन्ध रखने वाली हमारी सहज वृत्तियाँ सामाजिक लज्जा आदि के प्रतिबन्धों के कारण, अथवा हमारी व्यवसायलीनता के कारण, सम्यक् रूप से फलीभूत होने का अवसर नहीं पाती हैं। साहित्य की प्रयोगशाला उन्हीं की सक्रीड़ता का प्रदर्शन कर, हमारे दबे हुए स्वप्नों को जागरित करके, हमारे गुप्त भार को हलका करती है। साहित्य द्वारा हमारे

विनोदित, मनोरंजित, होने का यही रहस्य है। यही रहस्य सिनेमा की लोकप्रियता का भी है। साहित्यिक प्रयोगशाला के लक्ष्य को वह कुछ कदम और आगे बढ़ाकर पूरा करता है। वह क्रियात्मक हो जाता है, जबकि साहित्य की प्रक्रिया कल्पना तक ही चरितार्थ हो पाती है। साहित्य ने भी जैसे अपनी इस कल्पनामूल अपूर्णता को समझ कर वृत्तियों के क्रियात्मक महत्त्व तथा उपयोग को अपनाने के लिए अपने ही आश्रय में अभिनयात्मक रचना, नाटक, की अवतारणा की थी। सिनेमा उस अवतारणा का ही अभ्युन्नयन है जो आधुनिक समय के विज्ञानोदय से सम्भव हुआ है। इस प्रकार मनोविश्लेषक आयुर्वेद-शास्त्रियों के सिद्धांत और लक्ष्य का पालन करता हुआ, हमारी सुप्त व्यथाओं के उत्सर्ग का मार्ग खोलकर, वह हमारे नैतिक, मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य का हेतु बनने की क्षमता रखता है।

सिनेमा द्वारा हमारी दबी हुई प्रवृत्तियों के उत्सर्जन में कुछ अतिरञ्जना पूर्ण नैतिक दृष्टिकोण रखने वाले महानुभाव किसी नैतिक और व्यावहारिक अवाञ्छनीयता का निर्देश कर सकते हैं। कभी कभी यह कहा जाता है कि नवयुवतियों को इसके द्वारा घर से भाग निकलने की प्रेरणा मिलती है और उनका मस्तिष्क सिनेमा द्वारा उपार्जित प्रेम कल्पनाओं तथा अद्भुत-कल्पनाओं में व्यस्त रहकर जीवन-सम्बन्धिनी अन्य आवश्यक चिन्ताओं के लिए अयोग्य होने लगता है। संक्षेप में सिनेमा नवयुवकों और नवयुवतियों को आवारापन सिखाता है। इस आक्षेप के उत्तर में न्यूयार्क के एक प्रसिद्ध डाक्टर महोदय कहते हैं कि सिनेमा वस्तुतः हमें भाग निकलने के लिए प्रेरणा नहीं देता, प्रत्युत वह हमारे भागने की प्रवृत्तियों को सहज में सन्तुष्ट करके हमें भागने से बचाता है। अमरीका के अनेक अनुभवी अध्यापकों का कहना है कि उनके स्कूलों के सर्वश्रेष्ठ विद्यार्थी प्रायः वे रहे हैं जो सिनेमा देखने जाया करते थे। सिनेमा के पक्ष-समर्थक यह तर्क कर सकते हैं कि सिनेमा हमारी निम्न सहज वृत्तियों को सन्तुष्ट कर देता है और उच्च वृत्तियों को प्रेरणा देता है। यदि सिनेमा न होता तो हममें से अधिकांश लोग उन

निम्न वृत्तियों को अन्य, सम्भवतः अनुचित और असामाजिक रूपों में, सन्तुष्ट करने की चेष्टा करते तथा हमारी उच्च वृत्तियाँ सदा दबी ही रहतीं अथवा उनका हमारे भीतर उदय ही न हो पाता।

तथापि किसी वस्तु के गुण ही गुण देख कर हमें उसके सम्भाव्य अवगुणों की ओर से आँखें बिलकुल ही नहीं मूँद लेनी चाहिएँ। यह जगत्प्रसिद्ध कहावत है कि कोई भी वस्तु सर्वथा निर्दोष नहीं हो सकती। यद्यपि यह सच है कि कभी कभी बहुत से गुणों के बीच में एकाध दोष नगण्य हो जाता है—"एकोहि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दो किरणेष्विवाङ्कः।"—फिर भी यदि एक ही दोष इतना प्रबल हो कि तमाम गुणों को दबा दे तो उसकी अवहेलना कैसे की जा सकती है? कहावत यह भी है कि एक मछली सारे तालाब को गन्दा कर देती है। चन्द्रमा के मनोहर किरण जाल में उसके कलंक (धब्बे) पर हम अवश्य ध्यान नहीं देते, परन्तु यदि चन्द्रमा के उदित होने पर समस्त पृथ्वी के प्राणियों के पेट में जोर का दर्द होने लगता तो भी क्या हम उसकी विशाल मनोहारिता और शीतलता की खातिर उसके इस चारित्रिक कलंक को भुला दे सकते थे?

भारतीय सिनेमा में, हमको देखना है, इस तरह के किसी भयावह कलंक की कोई सम्भावना तो नहीं है। प्रश्न भारतीय सिनेमा का ही है। क्योंकि जिस तरह भारतीय जीवन की कोई भी बात पश्चिम के अनुरूप नहीं है उसी प्रकार पाश्चात्य सभ्यता की भी अनेक बातें भारत की संस्कृति में सटकर नहीं बैठ पातीं। फलतः हम देखते हैं कि इस देश में जो दो वर्ग सिनेमा-पक्षीय और सिनेमा-विपक्षीय लोगों के दिखाई देते हैं उनमें प्रथम वर्ग अधिकांशतः उन महानुभावों का है जिन्होंने तथ्यों को असली या नकली पाश्चात्य रंगों के चश्मों से ही देखने का काफ़ी अभ्यास किया है और जिनमें भारतीय संस्कृति का अंश नहीं-सा रह गया है। इसके विपरीत दूसरे वर्ग में प्रायः वे "पुराने खयालों वाले," "दकियानूसी" लोग हैं जो आर्य संस्कृति के कुछ अवशेषों को उनके असली या नकली रूप में अभी थोड़ा-बहुत पकड़े हुए हैं।

भारतीय संस्कृति मूलतः अध्यात्म-संस्कृति है। पाश्चात्य संस्कृति एक दम भौतिक है। पश्चिमी रंग के कुछ हिन्दुस्तानी इस भेद को स्वीकार करते हुए भी आजकल के रोटी के सवाल में अध्यात्म के पचड़े को अनावश्यक, हानिकर, समझते हैं। यहाँ भौतिकता और अध्यात्म की तुलना का तो कोई अवसर नहीं है; पर यह सही बात है अध्यात्म के ये विरोधी भारतीय अध्यात्मवाद के मूल तत्त्व को समझने में अक्षम रहे हैं। यदि वे चेष्टा करके उसे समझ पाए होते तो शायद वे अपनी सम्मति में अधिक कट्टर नहीं होते। परन्तु यदि उनकी सम्मति किसी अंश में ठीक भी मान ली जाए तो भी यह स्वीकार करना होगा कि अपनी संस्कृति को त्याग देना अपने व्यक्तित्व को त्याग देना है। अपने व्यक्तित्व-मूल को खोकर हमारा जीवित रहना भी कठिन है। बकरी शेर या शेर बकरी बनने की चेष्टा कर क्या जीवित रह सकते हैं। पशु यदि एक दम मनुष्य बन जाए तो क्या वह जिन्दा रहेगा? मनुष्य पशु बनने की चेष्टा कर रहा है और इसके परिणाम में आए-दिन के विश्वकम्पी प्रलयंकारी युद्ध हम नहीं देख रहे हैं क्या? .... इतनी-सी तो सिद्धान्त की बात है।

कला की दृष्टि से और आचरण-व्यवहार की दृष्टि से भारतवर्ष का अपना निजी व्यक्तित्व है, और दोनों में ही भारतीय अध्यात्म-लक्ष्य की साधकता का संकेत है। भारत की अभिनय-कला में भारतीय जीवन और उसके सांस्कृतिक लक्ष्यों की अनुरूपता स्वाभाविक समझी जानी चाहिए। भारत में सिनेमा-कला का आगमन पश्चिम से हुआ है, और पश्चिमी कला ने ही जैसे हमारी इस कला के प्रारम्भिक आदर्श स्थिर किए हैं। परिणामतः हम देखते हैं कि हमारे अधिकांश सामाजिक चित्रों में केवल रहन-सहन के ढंगों का ही नहीं, प्रत्युत हमारे भाव-व्यंजन और अवयव-संचालन का भी, रूप प्रायः विदेशी छाप को भूरितया लिए हुए दिखाई देता है। यह अवश्य सौभाग्य की बात है कि इधर पिछले वर्षों से प्राचीन भारतीय इतिहास के धार्मिक तथा सांस्कृतिक चित्रों की ओर निर्माताओं की रुचि थोड़ी-सी

बढ़ी है, और ऐसे चित्रलोक प्रिय भी हुए हैं। परन्तु जब तक हमारे सामाजिक चित्र, जिनका स्वाभाविकतया सदा बाहुल्य रहेगा, जातीय रहन-सहन और भाव-व्यंजन के रूपों को ही प्रधानता नहीं देंगे तब तक हम अपने कलात्मक सांस्कृतिक जीवन और सामाजिक जीवन को निःसंशय नहीं समझ सकते। कला और जीवन के अपने व्यक्तित्व की ओर से निरपेक्ष बन कर हम धीरे धीरे आत्मघात के पथ पर अग्रसर नहीं होने लगेंगे क्या?

आचार-व्यवहार में जहाँ रहन-सहन के रूप सम्मिलित हैं वहीं उनमें चारित्रिक व्यक्तित्व का भी अन्तर्भाव होता है। रहन-सहन के विदेशी तरीकों को देख-देखकर हम तदनुरूप चरित्र का भी उपार्जन कर सकते हैं। हमारे जातीय चरित्र में हमारे पारिवारिक सम्बन्धों की गरिमा भरी हुई है, हमारे सामाजिक सम्बन्धों का उसमें समादर है। पश्चिमी जीवन के व्यावसायिक-व्यापारिक रूप में इस गरिमा और समादर का लोप है। भारतीय पिता, पुत्र, भाई, बहन, पति, पत्नी, अथवा फिर भारतीय पड़ोसी, राहगीर, अतिथि या आतिथ्य करने वाले गृहस्वामी की आचार-संस्कृति में उस प्रकार के पारस्परिक आचरणों की ज़रा भी कल्पना नहीं है जो पाश्चात्य व्यवहारों में देखने में आते हैं। पाश्चात्य आचरण में स्नेह, सहानुभूति, समादर आदि उदार भावनाओं की बड़ी कमी है और उसके पारस्परिक सम्बन्धों के रूप भी व्यावसायिक बुद्धि से ही निर्मित और संचरित होते हैं। व्यावसायिक व्यवहार की स्पष्टवादिता वहाँ पारस्परिक सम्बन्धों की भी स्पष्टवादिता बन जाती है। उदाहरण के लिए, वैवाहिक अथवा यौवन विषयक रति आदि के बारे में हम नहीं चाहते कि हमारे पुत्र या पुत्रियाँ पश्चिम सी स्पष्टवादिता की भावना को अपने चरित्र में ग्रहण करें और हमारे साथ उसकी स्पष्टता को व्यवहार में लाएँ। परन्तु जब वे देख-देख कर सीखेंगे तो व्यवहार में भी लाएँगे ही। पश्चिम के आचरण में, भले ही कहने के सिद्धान्त में न हो, प्राग्वैवाहिक स्वतन्त्र प्रेमों को प्रोत्साहन दिया जाता है—और वहाँ पुरुषों के विवाह तीस-पैंतीस वर्ष की आयु से पहले तो शायद

कम ही होते है। वहाँ चुम्बन, आलिंगन आदि बातें अधिक गोप्य नहीं हैं। क्या हम अपने जातीय चरित्र में इस बात को लाना चाहेंगे और अपने युवकों और युवतियों को इस बात की शिक्षा देंगे?—विशेषतः जबकि हम यह भी जानते हैं कि हम बहुत गरीब हैं और प्रेमिकाओं के साथ होटलों और सिनेमाओं के ठाट-बाट मे जाने-आने की हमारी हैसियत नहीं है। असंख्य माता-पिता अपनी सन्तानों को शिक्षा का खर्च ही न मालूम कैसे उठा पाते हैं। इसी भाँति हमें देखना चाहिए कि हमारी आतिथ्य की व्यापक भावना ने धर्मशालाओं का निर्माण किया था, होटलों का नहीं। और फिर क्या हम इस बात के लिए तैयार होंगे कि जब हम किसी मित्र के यहाँ जाकर उतरें तो वह कह दे कि आज तो कोई कमरा ही खाली नहीं है, अथवा उसके यहाँ से विदा होते समय वह हमें खाने-पीने आदि का बिल पेश करे। सिनेमा के चित्रों ने खाने-पीने के बिल भले ही न पेश करवाए हों, परन्तु उसमें अन्तर्लीन व्यावसायिक बुद्धि के गुप्त, अलक्ष्य या दुर्लक्ष्य, संस्कार से भी क्या वे सर्वथा अछूते हैं?

आचरणों के अभारतीय ढँग और निम्नतर वृत्तियों के अधिक उन्मुक्त रूपों के प्रदर्शन के पक्ष में फिल्म-निर्माता कह सकते हैं कि व्यावसायिक दृष्टि से ऐसे ही प्रदर्शनों के चित्र अधिक लाभप्रद होते हैं। ऐसा कहने वालों के लिए सीधा-सा उत्तर यह है कि जुआखोरी और व्यभिचार के अड्डे खोलना और भी अधिक लाभप्रद है, और उसमे खर्च और झंझट की भी कमी है। परन्तु वस्तुतः तो इन लोगों की युक्ति ठीक नहीं है। हम देखते हैं कि जब से कलापूर्ण धार्मिक चित्रों का निर्माण आरम्भ हुआ है तब से प्रदर्शन-गृहों में दर्शकों को टिकट-घर पर कई-कई रोज तक टिकट तक नहीं मिलते। हमारी जातीय संस्कृति अभी थोड़ी-बहुत जीवित है और जब उसे अपने अनुकूल वस्तु मिलती है तो वह उसे पहचान कर अपनाने के लिए दौड़ पड़ती है।

इसी प्रसंग में यहाँ यह भी देखा जा सकता है कि सिनेमा ने नाटकों

का ह्रास करके किसी-न-किसी अंश में हमारे चारित्रिक ह्रास के मार्ग को खोल दिया है। नाटक में नट या अभिनेता स्टेज पर काम करते हैं। वहाँ उनके सामने सब प्रकार के दर्शकों की भीड़ होती है। मनुष्य चाहे जैसा-कुछ भी हो, उसमें सामाजिक लज्जा का कुछ-न-कुछ अंश अवश्य होता है। नट भी मनुष्य ही होते हैं; और यह मानना स्वाभाविक होगा कि वे विभिन्न वर्गों के एक अपरिचित समुदाय के सामने उन सब चेष्टाओं को दिखाने में शायद झिझकेंगे जिन्हें एकान्त में अपनी किसी अन्तरंग गोष्ठी के भीतर वे कदाचित दिखा सकें। चित्रपट पर तो छाया-पुतलियाँ नाचती हैं, और नटों को लोगों के सामने नहीं आना पड़ता।

परन्तु सिनेमा के ये विविध चारित्रिक और सांस्कृतिक दूषण अनिवार्य नहीं हैं। यदि देश में अच्छी सेन्सर-पद्धति हो तो कोई कारण नहीं कि बुरे फिल्म निर्मित किए जा सकें। पर इस देश में अच्छे सेन्सर (Censor) की आशा करना व्यर्थ है। हमारे सेन्सरों की दृष्टि विशेषतः तो इसी बात पर रहती है कि प्रदर्शनीय फिल्म राजनैतिक दृष्टि से—जो कि हमारे वर्तमान शासकों के हितों की दृष्टि है—निर्दोष हों। यह दृष्टि भारत के हितों की दृष्टि नहीं हो सकती। इससे हम यह भी समझ सकते हैं कि हमारा वर्तमान भारतीय सिनेमा जाति प्रेम और देश प्रेम की चर्चा तो कभी कर ही न सकेगा। जाति प्रेम और देश प्रेम भी चरित्र तथा संस्कृति के ही अंग हैं। पुरुषत्व-विकासी इस अंग के अभाव और फैशनेबिल रति-विषयक आचरण के प्रोत्साहन में यह आशंका निर्मूल नहीं है कि कहीं धीरे-धीरे हमारी जाति यूनानी जाति न बन जाए। कायर तो हम हो ही चुके हैं।



: १० :

प्राचीन भारत में स्त्रियों का स्थान

आज का मानव प्रगतिशील है। भारत भी मानवता के नाते उस प्रगतिशीलता में संचरित हो ही रहा है। यह प्रश्न भिन्न है कि उसका संचार आगे की ओर हो रहा है अथवा पीछे की ओर। अवश्य ही बहुत सी बातों में देखने में आता है कि आज जबकि संसार के अन्य देश अपनी सामाजिक, राजनीतिक तथा नैतिक उन्नति की दौड़ में द्रुत गति से आगे बढ़ने का प्रयत्न कर रहे हैं उस समय भारत मानों "एबाउट टर्न" कर रहा है। स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों के विषय में हम स्पष्ट देखते हैं कि रामचरितमानस में किसी प्रसंग में आई हुई किसी चौपाई का कुप्रयोग करके श्रीतुलसीदास जी के नाम को लांछित करते हुए बहुत से भारतवासी आज भी यह कहते हुए नहीं चूकते कि "ढोल, गंवार, शूद्र, पशु, नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी।" आज भी राजपूताने में कहीं कहीं ठाकुर साहब की ठकुरानी गर्भवती स्त्रियों तक से इसलिए पर्दा करती हुई पाई जाती हैं कि गर्भवती के पेट में कहीं पुरुष गर्भ न हो, जिससे ठकुरानी का पर्दा भ्रष्ट हो जाए। स्त्री-शिक्षा के प्रसंग से अब भी बहुत से लोग यह कहते हुए पाए ही जाते हैं कि हमें अपनी औरतों से नौकरी नहीं करानी है। स्त्री-सम्बन्ध में हमारी व्यवहार-बुद्धि धीरे धीरे अन्ततः कितनी विपरीत-पथ-गामिनी बन गई इसका प्रमाण हमें उस प्रतिक्रियात्मक परिणाम में मिलता है जिसे हम आज के तरह तरह के नारी आन्दोलनों के रूप में देख रहे हैं। भूमि पर पटकी हुई गेंद की ऊर्ध्वगति की भाँति इस प्रकार के प्रतिक्रियात्मक आन्दोलनों में भी आवेश की असम्यक दृष्टि का विकार रहा करता है जो पुनः इस बात का प्रमाण बनता है कि गेंद को कितने जोर से और किस दिशा में पटका गया है। प्रचलित कहावत के अनुसार स्त्री और पुरुष यदि एक ही गाड़ी के दो पहिए हैं तो, फिर, इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं

रहती कि एक पहिए के विकारग्रस्त अथवा जर्जरित हो जाने पर गाड़ी की गति या तो किसी न किसी मात्रा में कुंठित हो जाएगी या एक दम बन्द ही हो जाएगी।

अब इसके विपरीत जरा प्राचीन भारत पर दृष्टिपात कीजिए। प्राचीन समय के सुखसम्पन्न, सुसमृद्ध, सुरक्षित भारत के नर-नारी यहाँ जन्म लेकर अपने को कृतकृत्य बनाते थे। यहाँ तक निराकार ब्रह्म, सच्चिदानन्द, तक यहाँ के स्वर्गाधिक सुख सौष्ठव से प्रलुब्ध होकर साकार बन और नर की संज्ञा ग्रहण कर अवतरित होने के लिए बाध्य होता था। जीवन के नियम सरल थे। जीवन की और समाज की गाड़ी के दोनों पहिए समान आकार धारण किए हुए, समान गति में, आगे से आगे द्रुतवेग से बढ़ते चले जाते थे, और तो क्या. श्मशान की भस्म लपेटने वाले भोले भंडारी बाबा विश्वनाथ ने भी अपने आप को "अर्धनारीश्वर" कहलाने में अपना गौरव समझा। भारत-भू की इस जीवन-परम्परा के उपलक्ष्य में ही मनु महाराज को कहना पड़ा—"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।" भारतीय जीवन का यह नियम इतना सार्वभौम और सार्वजनिक था कि उसकी अव-हेलना का दंड भी उसकी गुरुता के अनुरूप ही था। बेचारे अपराधी को इस नियम की अवहेलना के परिणाम में, केवल इस एक अपराध के पीछे, जीवन भर रोना पड़ता था दंडविधान था। कि —"यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वा तत्राफलाः क्रियाः।" यह एक अपराध ही जीवन भर के सारे नित्य नैमित्तिक कार्यों और पुण्य-धर्म आदि के आचरणों की इतिश्री कर देने के लिए पर्याप्त था।

मेमने को खाने की इच्छा रखने वाला भेड़िया अनेक बातें बना कर किसी न किसी तरह उसे अपने पंजे में फंसाने का प्रयत्न करता ही है। यही अवस्था हमारे समाज की है "स्त्री शूद्रौ नाधीतायामिति श्रुतेः" की आड़ में हम जो शिकार खेल रहे हैं वह संसार भर के इतिहास में अप्रतिम है। क्या वेदों में भी कहीं यह लिखा है कि स्त्रियाँ और शूद्र न पढ़ें। जिस देश

में दिग्विजयी शंकराचार्य जैसे महान् पंडितों को नीचा दिखा देने वाली मंडनमिश्र की पत्नी जैसी विदुषियाँ और गार्गी जैसी वेदविद्या पंडिताएँ हो चुकी हैं उसमें स्त्रीशूद्रौ नाधीतायाम् के ढंग की ढकोसलेबाजियाँ प्रचलित करना अपनी प्रकाशमान प्राचीनता का अपमान करना है। प्राचीन भारत में स्त्रियाँ वेदाध्ययन करके विदुषी बना करती थीं। शुक्राचार्य के आश्रम में बृहस्पति के पुत्र कच के साथ देवयानी तोता-मैना के किस्से-कहानी नहीं पढ़ा करती थी। उसको भी वही शिक्षा दी गई थी जिसको प्राप्त कर कच देवताओं का पुरोधा बनने का हौसला रख रहा था।

वैदिक साहित्य एवं लौकिक साहित्य के केवल अध्ययन में ही नहीं, बल्कि साहित्य निर्माण के गुरुतर कार्य तक में भारत के उस समृद्धिशाली युग में स्त्रियों का प्रमुख हाथ रहता था। तभी तो हमारे देश ने महाकवि पंडितराज हेमचन्द्र द्वारा सुप्रशंसित अवन्तिसुन्दरी-जैसी कोषनिर्मात्रियों और इन्दुलेखा, विज्जिका, सुभद्रा आदि जैसी निष्णात बुद्धिवाली कवियित्रियों को जन्म दिया था। तभी तो महाकवि राजशेखर को कहना पड़ा कि "पुरुषों की भाँति स्त्रियाँ भी कवि होवें। संस्कार तो आत्मा में होता है। वह स्त्री पुरुष के भेद की अपेक्षा नहीं करता। राजाओं तथा मंत्रियों की पुत्रियाँ वेश्याएँ और कौतुकियों, खेल-कूद दिखाने वालों, की स्त्रियाँ शास्त्रों में निष्णात और कवियित्री देखी जाती हैं।"

यही नहीं, हमारे यहाँ की स्त्रियाँ गणित तथा ज्योतिष जैसे शुष्क और जटिल शास्त्रों तक में निपुण होती थीं। भास्कराचार्य ने अपनी विदुषी पुत्री लीलावती के लिए "लीलावती"-नामक ग्रन्थ की रचना की थी। भला जिस देश की परम्परा में पशु-पक्षियों, कौवों और कुत्तों (काकभुशुंडि और सरमा), तक के शिक्षित तथा पंडित होने में बाधा नहीं थी उस देश की स्वामिनियों को अशिक्षित रहना पड़े, यह नासमझी की भी समझ के बाहर की बात है।

परम पंडित राजर्षि भर्तृहरि ने कलादि से विहीन मनुष्य को बिना

सींग-पूंछ के साक्षात् पशु की संज्ञा दी है। हमारे भारत की नारियाँ तो मनुष्यत्व की सीमाएँ पार कर देवत्व की कोटि तक पहुँच चुकी हैं। पुरुष को हम देव या देवता नहीं कहते, परन्तु स्त्री के नाम के साथ हम "देवी"-पद को जो डालते हैं जिससे हमारे कथन की पुष्टि होती है। अभिप्राय यह कि भर्तृहरि के कथन की चरितार्थता पुरुषों तक ही होती है, क्योंकि पुरुषवर्ग में ही साहित्यसंगीत-कलाविहीन व्यक्तियों की विशेष उदाहृति पाई जाती होगी। देवियों को वह कथन इसलिए लागू नहीं होता कि उसमें पुच्छविषाणहीन पशुओं के उदाहरण बहुत कम, या नहीं, मिलते होंगे, साहित्य के नाते कोषनिर्मात्रियों और कवियित्रियों के उदाहरण हम ऊपर देख चुके हैं। अब कला में देखिए, हमारे यहां अनिरुद्ध का चित्र बनाने वाली ऊषा की सखी जैसी चित्रकर्त्रियाँ अपने कला-कौशल से बड़े बड़े कलाविदों को लज्जित कर चुकी हैं। प्राचीन नाट्यमंच पर कुशीलवों में नट और नटी दोनों की गणना की जाती थी। बल्कि सूत्रधार की पत्नी के रूप में नटी अपने पति के साथ साथ मंच के कला प्रबन्ध की समान रूप से उत्तरदायिनी होती थी। होलिकोत्सव की फाग और बसन्त की लावणी का जन्म भी पुराना ही है। आजकल घरों के भीतर ढोलक और मंजीरे पर जो गीत गाए जाते हैं वे किसी अति प्राचीन परम्परा के ही प्रतीकावशेष हैं। स्त्रियों की नृत्य-गीतादि शिक्षा का शास्त्रीय प्रमाण यदि देखना हो तो महाभारत के विराट पर्व में देखिये। स्वयं महाभारत के प्रमुख योद्धा महाबली अर्जुन ने विराट कन्या को यह शिक्षा दी थी।

इसके बाद अब हम प्राचीन भारत की स्त्रियों के कर्मक्षेत्र के उस अंग की ओर दृष्टिपात करेंगे जो उन्हें कल्याणी पद से भी और ऊँचा उठा कर महाशक्ति के पद पर आसीन करता है। यह अंग नारी-हृदय-सागर की वाड़वाग्नि-वाला अंग है। यह वह ज्वाला है जो ऊपर की भस्म उड़ जाने के बाद निकलती है। तभी तो पुरुष ने उसे समग्र अधिकार देकर अपने वामांग में प्रतिष्ठापित किया था।

देवासुर संग्राम हो रहा है। रण-चण्डी का प्रकांड तांडव हो रहा है। तलवारों की चमचमाहट और खनखनाहट से समस्त विश्व कांप रहा है। उसी अवसर पर महाराज दशरथ के रथ की धुरी टूट जाती है। पास ही में बैठी हुई महारानी कैकेयी भला यह कैसे देख सकती थी। वह महालक्ष्मी क्षण भर में चंडी का रूप धारण कर लेती है। अपने हाथ को ही रथ की धुरी बना देती है। धन्य है वीरबाला, धन्य है वीरजाया, धन्य है वीरजननी, क्या तुम्हारी समता किसी देश की भी, किसी समय की भी, कोई रमणी कर सकती है। मशाल लेकर भी यदि देखा जाए तो स्त्री-समाज ही क्या, पुरुष-समाज में भी ऐसे उदाहरण मिलने कठिन हैं।

पारमार्थिक आचरण में भी स्त्रियों का स्थान पुरुष की अपेक्षा कम उज्ज्वल नहीं है। पुरुष यदि कठोर तपःसाधना अथवा कष्टसाध्य कर्मकांड में रत होकर अपने पारमार्थिक लक्ष्य की ओर अग्रसर होता था तो स्त्री उसकी साधना मुख्यतः घर के भीतर करती थी, कारण कि स्त्री का मुख्य कार्य क्षेत्र भी घर के भीतर ही था। आजकल हम कुछ भी कहें, परन्तु स्त्री को प्रकृति ने ही गृह की अधिष्ठात्री बनाया है। और गृहस्थ जीवन ही तो सामाजिक जीवन की नींव है, वही उसकी कुंजी भी है। किसी समाज के अन्तर्गत उसके गार्हस्थ जीवन में विशृंखलता उत्पन्न होने से उस समाज में भी विशृंखलता उत्पन्न हो जाना अवश्यम्भावी ही है। कर्मकांड के सम्बन्ध से यज्ञादिक के प्रतीकों अथवा मूर्तिपूजा द्वारा पुरुष देवोपासना तथा परमार्थ-साधना में प्रवृत्त होता था, परन्तु स्त्री के लिए भी इसी प्रकार की कर्मयोजना होने से गृहचर्या विशृंखलित होती थी। अतः उसके लिए गृहस्थ की सुशृंखला और परमार्थ-साधना के तत्वों को एकीकृत करके एक-पंथ-दो-काज की सिद्धि की गई थी और एतदर्थ स्त्री के लिए उसके पति को ही उसका उपास्यदेव बनाया गया था। पति ही स्त्री का परमेश्वर था। उसके ध्यान, धारणा, समाधि, ईश-प्रणिधान सभी पति-पूजा पर अवलम्बित थे। इस प्रकार के समन्वित परमार्थ-आचरण और गृहस्था-

चरण की अवहेलना को इस लोक में तो निन्दित किया ही जाता था, परन्तु अवहेलना करने वाली स्त्री को परलोकगत होकर भी, मरणोपरान्त भी, "शृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते" के कठोर नियम के अनुसार गीदड़ की योनि में जाना पड़ता था और कुष्ठ आदि पापरोगों को भोगना पड़ता था।

उपर्युक्त कर्म-योजना में आजकल के जो तथाकथित प्रगतिगामी महानुभाव पुरुषवर्ग के आधिपत्यपूर्ण स्वार्थ एवं अत्याचार की गन्ध देखते हैं उनकी दूषित मनोवृत्ति में स्त्री और पुरुष किसी अविभाजनीय जीवन-योग में समीकृत परस्पर-समानांगों के रूप में नहीं बल्कि दो विपक्षी दलों के रूप में देखे जाते हैं। "शृगालयोनिं प्राप्नोति" आदि को देख कर नाक-भौं सिकोड़ते समय वे यह भूल जाते हैं कि अ-स्त्रीपूजक पुरुष के लिए भी "सर्वा तत्राह्यफलाः क्रियाः" कहा गया था।

स्त्री और पुरुष को दो विपक्षी वर्गों में रखना अत्यन्त ही आवश्यक है क्या? हम जानते हैं कि सृष्टि में स्त्री के बिना पुरुष और पुरुष के बिना स्त्री का रहना नहीं हो सकता। सृष्टि जीवन का यह रूप विरोध का नहीं बल्कि सामंजस्य-समन्वय का रूप है। जिन विरोधी भावनाओं की कल्पना कर स्त्री और पुरुष को हम दो स्वतन्त्र वर्गों में रख देते हैं उनका हेतु हमारे सामाजिक जीवन का वर्तमान विकृत रूप है जो आधुनिक अर्थवाद के घोर अभ्युदय के कारण बनिया-रूप बन गया है, जिसमें हम पारस्परिक संबन्धों और भावनाओं तक को व्यावसायिक बुद्धि से सन्तुलित करने की चेष्टा करते हैं। अन्यथा, क्या हम यह नहीं देख सकते कि जिस युग में नारी पूजा और पति पूजा को आधार मान कर "अफला क्रिया" और "शृगालयोनि" की बातें कही जाती थीं, उस युग में स्त्री-पुरुष के वर्ग-विभाजन और परस्पर विरोध के आन्दोलन क्यों नहीं उठे। वस्तुतः आजकल के विरोधदर्शी महाशय आजकल के जीवन-विकारों को ही आदर्श मान कर जीवन के समस्त अंगों को उन विकारों के अनुरूप घटित करना चाहते हैं, जबकि होना यह

चाहिए कि भारती जीवन के स्रोतीभूत मूलतत्वों को समझकर हम अपनी वर्तमान विकृतियों को यथाशक्ति दूर करने का प्रयत्न करें। फलतः ये विरोध-पक्षी महानुभाव यह देखना भूल जाते हैं कि भारत का पुराना युग अध्यात्मिक युग था। जीवन के तमाम वाह्य आचरणों के होते हुए भी मनुष्य का वास्तविक दृष्टिकोण पारमार्थिक था। और यह दृष्टिकोण व्यक्ति को ही नहीं सम्पूर्ण समाज को चरितार्थ होता था। अतः उस समय यह भी होता था कि कम प्रतिपन्न बहुल जनता के लिए जीवन के हितकर आचरणों को नियम-निर्देश का रूप दे दिया जाता था। इसीलिए भर्तसनामूलक अतिशयोक्तिपर्ण "अफलाः क्रियाः" या "शृगालयोनिं प्राप्नोति" जैसे नियमादेश आचरण की स्थिरता के लिए उपयोगी बनाए जाते थे।

उस पारमार्थिक दृष्टिकोण में मनुष्य चिरन्तन शान्ति का अभिलाषी होकर जगन्नियन्ता की खोज में रहा करता था। उसका लक्ष्य स्वर्ग, बैकुंठ अथवा मोक्ष रहता था। परन्तु यह लक्ष्य सुलभ नहीं था। घोर तपस्यादि करने पर भी ईश्वर के दर्शन नहीं होते थे। अपनी खोज में तत्पर पुरुष सर्दी के मौसम में ठंडे जल के भीतर एक पैर से खड़े रहते थे अथवा वृक्षों पर उलटे लटकते थे। जिस परम अभिलक्ष्य के लिए पुरुष स्वयं इतने कष्ट उठाता था वह क्या स्त्री के लिए भी वांछनीय नहीं था। परन्तु, साथ ही, स्त्री के सुकोमल अंग क्या उसे इस कठोर तपःसाधना के योग्य बनाते थे। ऐसी अवस्था में परमार्थ लक्ष्य और गृहस्थ-संचालन के कर्तव्यों का इस प्रकार समन्वय करते हुए कि वह स्त्री के शारीरिक सामर्थ्य की अपेक्षा, और रीतिमूलक कोमल मनोवृत्तियों के सहयोग, द्वारा निर्वाह योग्य बन सके यदि तत्कालीन समाज ने उसकी सुकोमलता पर योग की भारी गठरी न लाद कर पति सेवा से ही "पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते" कह कर उसके लिए स्वर्ग-प्राप्ति की सुविधा करदी तो क्या बुराई की? बुराई की कि उसके गौरव की प्रतिष्ठा की? मोक्ष-प्राप्ति के परम साध्य तक में अपनी सहधर्मिणी बना कर उसकी यात्रा को अपनी यात्रा की अपेक्षा

अधिक सुखसाध्य बनाना पुरुषवर्ग के हाथों स्त्री पूजा का ही एक रूप है, जिससे जीवन और समाज में स्त्री के महत्व को अतिरिक्त प्रेरणा प्राप्त होती है। इसीलिए हम यह भी देखते हैं, जो दूसरे देशों के इतिहास में प्रायः नहीं दिखाई देता, कि महिमा के द्योतक विशिष्ट नामों की कल्पना हमारे प्राचीन समाज ने अधिकतर दम्पति के रूप में ही की है, जिसका पहला अंग स्त्री को रक्खा गया है, जैसा कि सीताराम, राधाकृष्ण, उमाशंकर के उदाहरणों में यहाँ तक कि प्रकृतिपुरुष, देवी-देवता, स्त्री-पुरुष आदि समासों तक में—देखा जा सकता है, हमें भूलना न चाहिए कि स्त्री के बिना पुरुष तक की अधिकांश परमार्थ-चर्या अधूरी रहती थी, स्त्री के बिना बहुत से याज्ञिक कर्म निष्पन्न नहीं हो सकते थे। सीता की अविद्यमानता में राम को अश्वमेध के अवसर पर सीता का स्वर्ण-प्रतिमा बनवा कर अपने वामांग में बिठानी पड़ी थी।

आज सती-प्रथा के मध्ययुगीन वृत्त को लेकर कुछ विपक्षी तत्कालीन समाज पर छींटे उछालते हुए हिन्दू समाज में सर्वतो-व्याप्त किसी प्रकार की नारी-तिरस्कार की भावना का कलंक लगाने की चेष्टा करते हैं। परन्तु भारतीय संस्कृति के परम मान्य और अति प्राचीन प्रबन्ध रामायण को देखिए। महाराज दशरथ स्वर्गवासी हो गए हैं और राम-लक्ष्मण वन को चले गए हैं, परन्तु क्या महासती कौशल्या ने अपने को अग्नि में भस्मसात् कर दिया है? अथवा क्या सुमित्रा और कैकेयी भस्म हो गई? हम तो यहाँ तक देखते हैं कि स्वयं मर्यादा पुरुषोत्तम ने बालि की विधवा तारा को अति कातर देखकर उसे सुग्रीव के सुपुर्द कर दिया है। पति के उपरान्त अपने को भस्म-सात् कर देना ही यदि स्त्री का धर्म समझा जाता तो क्या मर्यादा पुरुषोत्तम ही तारा को जल मरने के लिए बाध्य न करता। इसके विपरीत, हम तो देखते हैं कि स्वयं मनु महाराज ने स्त्रियों के लिए पति के बाद भी जीवित रह कर स्वर्ग-प्राप्ति का विधान बतलाया है, सती-प्रथा का दुरुपयोग तो समय के प्रभाव से यवन-काल में होने लगा था, परन्तु मध्ययुग की इस बर्बर अमानु-

धिक प्रथा में भी एक बात तो अवश्य ही दर्शनीय है, वह यह कि मध्य-कालीन युग तक में स्त्री की आबरू का स्त्री पुरुष के जीवन में सब से अधिक मूल्य था इतना कि उसके लिए मां कुछ तक का बलिदान किया जा सकता था। पहले पुरुष अपने प्राणों की आहुति देता था और फिर स्त्री गुंडे दस्युओं के हाथों में पड़ने की अपेक्षा जीवित जल जाने की क्रूर मृत्यु तक को अच्छा समझ कर अपने प्राण त्यागती थी। अकेली पद्मिनी की मर्यादा का मूल्य सहस्रों वीरों और सहस्रों वीरांगनाओं के प्राणों से—राजपाट का तो कहना ही क्या कम नहीं था। निस्सन्देह जहाँ स्त्री की मर्यादा का इतना मूल्य होता था वहीं सती या जौहर की प्रथा का भी पालन होता था, अन्यथा तो राजघरानों तक की महिलाएँ कुधर्मियों को भेंट तक कर दी जाती थीं। इसमें सन्देह नहीं कि सती की प्रथा अत्यन्त क्रूर प्रथा थी। परन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि उसका स्वरूप अपने मूल में जौहर का ही स्वरूप था जिसके अभ्यन्तर में नारी-पूजा की भावना को इतना महत्व प्रदान किया गया था कि प्राणान्त के बाद स्त्री के मृत शरीर तक का अपमान करने का दुराचारी के लिए कोई अवसर नहीं रखा गया था। यह बात भी याद रखने की है कि इस सम्मान-रक्षा के यज्ञ में स्त्री को जलना बाद में पड़ता था, पहले तो उसका पति ही उमंगभरे हृदय से उसकी सम्मान-रक्षा के निमित्त उसे वैधव्य प्रदान करता था। अतः इस प्रथा की कठोरता के विषय में हम जो चाहें सो कहें, परन्तु उसके माहात्म्य पर कालिख लगाना सूर्य के प्रकाश को विलीन करने की चेष्टा है। इस प्रकार की कालिख हम तभी लगाते हैं जबकि आज हम स्वयं कायर और घोरतया इन्द्रिय-निरत बन कर आचारहीन भी हो गए हैं और स्त्री की आबरू को मूल्यहीन बनाकर उसके लिए अपने प्राण देने की कल्पना तक नहीं कर सकते।

वर्तमान समय की पर्दा प्रथा भी हिन्दू समाज पर दोषारोपण का एक हेतु बन जाती है। परन्तु सती या जौहर प्रथा की भाँति यह भी

प्राचीन भारत की वस्तु नहीं है। जैसा कि सर्वविदित है, मुसलमानों के इस देश में प्रतिष्ठित हो जाने के बाद हिन्दुओं ने इसे उनसे सीखा है। जो लुटेरे भारत में शताब्दियों तक लूट मार के उपद्रव करते रहे हैं उन्होंने लूटमार के दुगु'ण को पहले आपस में ही सीखा और विकसित किया होगा। अरब की जंगली जाति में दूसरे के धन-जन-स्त्री आदि का कोई महत्व नहीं था और मौका लगने पर एक दूसरे का सब कुछ बलपूर्वक छीन लेना ही उनका पेशा था। अपनी सम्पत्ति और अपनी स्त्री को तो सब कोई ही—पशु-आदि भी—सुरक्षित रखना चाहते हैं परन्तु अनुत्पादक व्यवसाय-विहीन अरब भूमि की परिणामतः असंस्कृत जाति में धन-जन-स्त्री का कोई सामाजिक मूल्य न था। सम्पत्ति तो उनके पास थी ही क्या; हां, अपनी स्त्री को दूसरों से छिपा कर रखना उनके लिए आवश्यक था। इस रूप में उनके लिए जो स्वाभाविक बात थी वह मध्य युग के भारतीय शासकों की भी प्रथा होने के कारण कुछ तो धीरे धीरे विजित भारतीयों के लिए अनुकरणात्मक मर्यादा की भी वस्तु बन गई और कुछ विजेताओं की लुटेरी वर्बरता के कारण हिन्दुओं के लिए भी उसी प्रकार आवश्यकता की वस्तु बन गई जिस प्रकार वह अरबी देशों में मुसलमानों के लिए थी। प्राचीन भारत के लोग निठल्ले बेकार लोग न थे; सब व्यापार-निरत थे, सुख-समृद्धि से परिपूर्ण थे, किसी को किसी वस्तु का विशेष अभाव न था और इसलिए किसी को किसी से ईर्ष्या करने की जरूरत न थी, उनका समाज-संगठन दोष रहित और अति विकसित ढंग का था। फिर, उस समय में जिस किसी के द्वारा जिस किसी की स्त्री के अपहरण का, और उसके फल स्वरूप पर्दा-प्रथा का प्रश्न ही कैसे उठ सकता था? सुचारु सामाजिक संगठन के कारण स्त्रियां अपने गृह कार्यों में निरत रहती थीं, गृहविहीन रेगिस्तानी जंगलों की औरतों की भाँति खानाबदोश होकर घूमने और पद-पद पर निर्लज्ज कामुकों और साहसिकों को प्रलुब्ध करते रहने की उनके लिए गुंजायश ही न थी। व्यवसायहीन लुटेरों की भाँति अपहृत स्त्रियों को बेचने का पेशा

स्वीकार करने की भी प्राचीन भारतीयों को जरूरत न थी। परिणामतः प्राचीन भारत में स्त्री को 'अर्द्धाङ्गिनी', 'गृहस्वामिनी' आदि बनने के बाद पुरुष के विश्वास का पूरा उपहार मिलना स्वाभाविक था, जिसके कारण उस समय में पर्दा-प्रथा की कल्पना तक उपहास्य बन जाती है। जो लोग पर्दा प्रथा की चर्चा लेकर हिन्दूसमाज-मात्र को कलंकित करना चाहते हैं उन्हें परिस्थितियों और चारित्रिक विकास की अवस्थाओं को देखने-समझने के लिए अपनी आँखों को खोल कर रखना चाहिए। वर्तमान समय में पर्दा प्रथा कुछ तो परम्परा के कारण अवशिष्ट है, कुछ हमारे चारित्रिक ह्रास के कारण उपयोगी भी समझी जाती है, कुछ किन्हीं-किन्हीं कारण परिस्थितियों के प्रभाव से वह स्वयं ही कम भी होती जा रही है।

आधुनिक युग में स्त्रियों की सबसे बड़ी मांग उनकी कानूनी स्थिति की है। जिस स्त्री ने जीवन भर अपने पति के साथ रह कर बिताया है, जो उसके दुःख में रोई है और उसके सुख में सुखी हुई है, आज वह अपने पति की सम्पत्ति में से कुछ भी नहीं पा सकती। जो सम्पत्ति उसने अपने पति के साथ कष्ट झेल कर कण-कण करके संचित की है उसी से वह अत्यन्त वंचित कर दी जाती है। परन्तु प्राचीन भारत में यद्यपि उसके लिए बाल्यकाल में पिता, यौवनावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र की संरक्षता में रहने की आज्ञा थी, तथापि वह आज की नारी की तरह असहाय नहीं थी। स्त्री का धन पृथक् होता था जो उसे यथावसर अपने पिता एवं पति के घरों से मिला करता था। इस धन पर दूसरे का अधिकार नहीं होता था। हो भी कैसे सकता था? पिता के यहाँ का मिला हुआ दान तो कुमारी-पूजन का एक अंग होता था। यह कहाँ तक उचित है कि किसी देवता को कोई वस्तु भेंट करके उससे फिर वापिस ले ली जावे। यही नहीं, संरक्षकों को आदेश था कि स्त्रियों को सदैव वस्त्राभूषण से सत्कारपूर्वक परितुष्ट रक्खें, देखिए—

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैः नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥

अन्यथा, "शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्" के नियमानुसार वह कुल सर्वनाश को प्राप्त हो जाता था, क्योंकि—

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम् ।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥

इतना ही नहीं ! स्त्री धन का अपहरण करने वाले पापियों के लिए तो मनु महाराज ।

स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति बान्धवाः ।
नारीयानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगतिम् ॥

आदि कह कर घोर अधोगति की सजा सुना रहे हैं ।

सारांश यह है कि प्राचीन भारत में स्त्रियों की धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक सभी स्थितियाँ अपने उच्चतम आसन पर थीं । उस समय का स्वर्ण लेख हमें बतलाता है कि —

उपाध्यायान्दशाचार्या आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥

भला जहाँ इस तरह के नियम बने हुए हों वहाँ की स्त्रियों की उच्च स्थिति के बारे में भी कुछ सन्देह किया जा सकता है ? यह स्पष्ट है कि घर में क्या, और समाज में क्या, स्त्रियों का परम समादरपूर्ण स्थान था । स्त्री के ऊपर पुरुष का पूर्णतः अधिकार होते हुए भी स्त्रियों का इतना सम्मान होने के कारण ही वह युग हमारा स्वर्णयुग है । पुरुष ने उस समय अपने आप को "श्रीमान्" की पदवी से विभूषित किया था, परन्तु इस उपाधि में भी पहले "श्री" रूपिणी स्त्री ही विद्यमान है । क्या किसी अन्य देश ने भी हमारे समान स्त्रियों को सम्मान दिया है ?

———

: ११ :

भारतवर्ष की भिक्षुक-समस्या

आज का संघर्षमय संसार नाना प्रकार की समस्याओं से व्याप्त है। जिधर दृष्टि डालते हैं उधर ही समस्याओं की गुत्थियाँ उलझी हुई दिखाई देती हैं। जीवन का प्रत्येक क्षेत्र समस्याओं से भरा हुआ है। वैयक्तिक, गार्हस्थ, सामाजिक तथा राष्ट्रीय समस्याओं के उपलक्ष्य में आर्थिक धार्मिक और सांस्कृतिक समस्याओं की गिनती नहीं है। इन सब प्रकार की समस्याओं को सुलझाने के लिए हमारे आजकल के समाज-नेता प्रयत्न-शील हैं। इन समस्याओं के बीच मे भिक्षुक समस्या हमारे सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन की एक समस्या है।

भारत में यह भिक्षुक समस्या एक अत्यन्त विकट रूप धारण किए हुए है। आज भारत में जिधर देखिए उधर भिक्षुक ही भिक्षुक दृष्टि-गोचर हो रहे हैं। शहर-शहर में, गाँव-गाँव में, गली-गली में भिखमंगे दर-दर भीख माँगते फिर रहे हैं, जो दानियों की दया या उनकी मूर्खता अथवा फिर उनकी मिथ्या धर्मभीरुता से अपना पेट पालते हैं। जो देश दुनिया भर के लोलुपों के लिए सोने की चिड़िया बना हुआ है उसके भीतर भिक्षुकों की इतनी भयावनी संख्या देखकर उसकी समृद्धि के सम्बन्ध में तरह तरह की असमंजस और विरोधी कल्पनाएँ पैदा होती हैं।

सन् १६०१ की गणना में भिक्षुकों की संख्या बावन लाख थी। तब से अब तक यह न मालूम और कितनी बढ़ गई होगी। क्योंकि भिक्षुकों की वृद्धि केवल पैदाइश से ही नहीं होती, वह संक्रामकता से भी होती है। पद दलित भारतवर्ष में, जहाँ लोगों के लिए काम की कमी है, निकम्मे और आलसी व्यक्तियों की कमी नहीं हो सकती। ऐसे लोगों के लिए परिश्रम किए बिना ही खा पी सकने तथा मौज से रहने का जीवन हजार प्रलोभनों की जगमगाहट के साथ उपस्थित होता है। दुनिया के तमाम

व्यवसायों में केवल भिक्षुक-व्यवसाय ही ऐसा है जिसके लिए किसी विशेष तैयारी की भी आवश्यकता नहीं होती। कबीर के दो एक पद रट लेने, शरीर में धूल-गर्द भर लेने तथा बाल बढ़ा लेने से ही एक कर्महीन व्यक्ति मोक्ष-व्यवस्था का व्यापारी बन जाता है—वह एक हजार रुपये में या एक पैसे में संसार के संतप्त मनुष्यों को मोक्ष या स्वर्ग का टिकट देने का अधिकारी हो जाता है। भिक्षुकवृत्ति को पोषण देने में पापलिप्त जनता की मोक्ष कामिनी दयार्द्रता का मूल बीज ही हेतु बनता है। और, इस बात को देखते हुए क्या सचमुच हम भिक्षुक वर्ग की अकर्मण्यता और हराम खोरी का दोष दे सकते हैं? भिक्षुक यदि बिना परिश्रम के भोजन, वस्त्र तथा ऐहिक सुख कमाना चाहता है तो दानी बिना सद्वृत्तिता के प्रयास के विश्व के सबसे ऊँचे काम्य को हस्तगत कर लेने की धृष्टता करता है। और यदि न्याय दृष्टि से देखा जाए तो, दानी और दान पात्र के इस पारस्परिक व्यवसाय में दानपात्र ही विशेष रूप से हमारे साधुवाद और बधाई का पात्र सिद्ध होता है। वह अपने अप्रयास व्यवसाय के प्रयासोपार्जनीय फल को, दान-द्रव्य को, प्राप्त करने में सफल हो जाता है, परन्तु भारतवर्ष के दानी अभी तक भवमुक्त न हो सके।

मोक्ष-साधना सच्चे भारतीय जीवन का चरम साध्य है—भारतीय-संस्कृति और भारतीय-विचारधारा का केन्द्रबिन्दु है। इसीलिए भारतीय आश्रम-व्यवस्था में सन्यासावस्था व्यक्ति के ऐहिक जीवन की चरमावस्था थी। सन्यासाश्रम की स्थिति-रक्षा का भार गृहस्थाश्रम पर था। सन्यासी-जीवन आध्यात्मिक भिक्षुक-जीवन था। परन्तु सन्यासी के भारवहन में गृहस्थ को मलाल करने का कोई मौका न था; क्योंकि समय आने पर आत्मसाधना के लिए आज का प्रत्येक गृहस्थ आगामी कल का भिक्षुक सन्यासी था, और यह सन्यास-धर्म गरीब से लेकर अमीर तक—चक्रवर्ती राजाओं तक—प्रत्येक का कर्तव्य था।

भारतीय समाज पुरातन युगों से ही अध्यात्म-जीवन और मोक्ष-साधना

के इस लक्ष्य का सूत्र पकड़ कर ब्रह्मनिष्ठ उद्योग-परम्परा में अपनी आस्था बनाए आ रहा है। पुराने युगों में इस उद्योग का भार उन लोगों पर था जो ब्रह्म दर्शन और ब्रह्म शक्ति के उपार्जन की विशेष प्रवृत्ति तथा योग्यता रखते थे। ये लोग ब्राह्मण कहलाते थे, जो समाजहित के लिए चरमशक्ति का उपार्जन करते हुए, ऐहिक सुखों की ओर से निरपेक्ष होकर, आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करते थे। अपनी ऐहिक निरपेक्षता में जीविकोपार्जन के उद्योग की न तो उनमें प्रवृत्ति ही हो पाती थी और न उसके लिए उनके पास समय ही था। उनके जीवन धारण की नपी-तुली आवश्यकताओं का भार समाज पर ही था। भारतीय समाज के सर्वप्रथम और सही भिक्षुक ब्राह्मण थे। इसके बाद जैन और बौद्ध समाजों के भिक्षु भी इसी आध्यात्मिक रूप में उपस्थित होते हैं। परन्तु समय के चक्र में धीरे धीरे समाज की आध्यात्मिक वृत्ति में विषमता आने लगी और ब्राह्मणों की भी ब्रह्मसाधना लुप्त होती गई; परन्तु भिक्षावृत्ति, उनके जर्जर शरीर की भाँति, उनके साथ लगा रही। आज भी असंख्य ब्राह्मण अकर्मण्य और तेजोहीन बने हुए, शक्तिहीन आशीर्वाद-दान के अधिकार को गाँठ बाँध कर, भिक्षावृत्ति से अपना उदर पालन कर रहे हैं। यही क्यों, इतरजातीय व्यक्ति भी भिक्षा-वृत्ति को स्वीकार करते समय अपने को ब्राह्मण बतलाने में भी अपना लाभ समझता है। तुलसीदल अथवा गंगा जल के नाम से किसी प्रकार का पानी बाँटते फिरना, रक्षाबन्धन के दिन राखी बाँधने पहुँच जाना, महीने में पन्द्रह दिन भोज-निमन्त्रण की प्रतीक्षा में बैठे रहना, फिर मन्दिरों में देवता के चढ़ावे पर गृद्ध-दृष्टि रखना अथवा पौरोहित्य की गरिमा धारण कर विवाहादिक शुभ अवसरों पर यजमान की उदारता का मुँह ताकते रहना, आदि ही इन सच्चे-झूठे ब्राह्मणों की वृत्ति है जो भिक्षावृत्ति से भिन्न नहीं है। देश के एक अति सम्भ्रान्त ब्राह्मण सज्जन ने एक अवसर पर ठीक ही कहा था कि आजकल के ब्राह्मण के दो ही मुख्य काम हैं—रसोई बनाना और भीख मांगना। सन् १६०१ की जनसंख्या गणना में इन अशक्त

ब्राह्मण भिक्षुकों की संख्या सम्मिलित नहीं है, क्योंकि ये लोग भिक्षुक होते हुए भी अपने को भिक्षा-व्यवसायी कहलाना स्वीकार नहीं करते। इनको भी सम्मिलित कर लेने पर हमारे देश की भिक्षुक-संख्या न मालूम कितनी अधिक बढ़ जाएगी।

ब्राह्मणत्व और भिक्षावृत्ति के इस परम्परागत अभिन्न सम्बन्ध से भिक्षा-वृत्ति के साथ दानी की धर्मभीरुता, पुण्यार्जन, कर्त्तव्य-भावना का भी एक स्वाभाविक सम्बन्ध हो गया है। इसीलिए प्रत्येक प्रकार के भिक्षुक में थोड़े-से आध्यात्मिक शब्दों के लटके, कोई इधर उधर के भजन तथा आशीर्वचन की व्यावसायिक सामग्री हमें अधिकतर देखने को मिलती है।

जिस प्रकार भिक्षुकों की संख्या है उसी प्रकार भिक्षु-वर्गों की संख्या में भी हमारे देश की भूमि काफी उर्वरा है। भारत में जितने प्रकार के धर्म-सम्प्रदाय मिलेंगे उतने ही प्रकार के भिक्षुक भी मिलेंगे। इन साम्प्रदायिक भिक्षुकों में भिन्न-भिन्न श्रेणियों की गरीबी और अमीरी दिखाई देती है। परन्तु इनमें ग़रीब से ग़रीब भी भूखा नहीं मरता और अमीरों का तो कहना ही क्या! भारतवर्ष में ऐसे ऐसे महन्त और मठाधीश मिलेंगे जो अच्छे-ख़ासे राजाओं तक को खरीद सकने की सामर्थ्य रखते हैं। इनकी श्रेणी से कुछ भिन्न प्रकार के वे अभिजात गृहस्थ भिक्षुक हैं जो अपने को तीर्थों के पंडे बनाए हुए हैं। असाम्प्रदायिक भिक्षुकों में बहुत से ऐसे मिलेंगे जो सम्प्रदायों के आदर्श पर गेरुआ कोपीन अथवा तहमद तथा चीमटा, कमंडलु या रुद्राक्ष आदि धारण करके और चन्दन या राख से अपने शरीरों को पोत कर लोगों को बहकाते फिरते हैं। कुछ लोग सार्वजनिक अवसरों या स्थानों, जैसे मेले या तीर्थ आदि, पर तपश्चर्या का ढोंग रच कर काँटों या कीलों की शय्या पर लेटने-बैठने का प्रदर्शन करते हैं या पंचाग्नि तपते हुए दिखाई देते हैं। आजकल एक नए फैशन के कुछ ऐसे भिक्षुक भी देखने में आने लगे हैं जो अपने साथ एक स्त्री को लिए हुए नगरों में घूमते हैं और अपने को अभिजात परदेशी बतलाते हैं—

ऐसे कि जिनके पास किसी दुर्भाग्यवश खाने-पीने को या अपने सुदूर देश में वापिस लौट जाने के लिए एक कौड़ी भी नहीं बच रही है। इन सबके अतिरिक्त उन गलिहारे भिक्षुकों की संख्या तो गणनातीत है जो किसी आध्यात्मिकता का ढोंग तो नहीं रचते, परन्तु जो फटे-मैले चीथड़ों से अर्द्धाच्छादित अपने तथा अपने बच्चों के शरीरों और पेट की दमनीयता की अपील लिए हुए हर किसी के सामने एक पाई या मुट्ठी भर नाज के लिए गिड़गिड़ाते फिरते हैं। अन्ततः हमको वे लोग मिलते हैं जो अपाहिज और एकदम निराश्रय हैं लँगड़े, लूले, कोढ़ी, अन्धे आदि—जो अपनी शारीरिक तथा मानसिक हीनता के कारण स्वयं कमा-खाने में सर्वथा असमर्थ हैं और दूसरों की दया पर ही सर्वथा निर्भर हैं। कदाचित् ऐसे ही भिक्षुकों की दशा पर कवि 'निराला' ने लिखा है—

"मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता।
दो टूक कलेजे के करता, पछताता वह आता॥"

पुराने समय के और आज के भिक्षुक वर्गों मे कितना अन्तर आ गया है। पुराने समय में भिक्षुक, अपनी आध्यात्मिक वृत्ति और सामाजिक शांति का उद्देश्य रखता हुआ, समाज का सबसे आदरणीय व्यक्ति था। बड़े-बड़े सम्राट् उसकी पूजा करते थे। आज का भिक्षुक धूर्त है, चोर है, व्यभिचारी है, समाज के लिए भार स्वरूप है और हर किसी का घृणास्पद है। किसी श्रेणी का भी भिक्षुक हो, उसका जीवन न तो भौतिक विकास का जीवन कहा जा सकता है और न आत्मिक विकास का ही। समाज का उससे कोई भी उपकार नहीं होता। उसको दिया हुआ दान तमोगुण दान है। देश, काल और पात्र को ध्यान में रख कर दिया गया दान सात्त्विक दान कहलाता है। परन्तु आज का भिक्षुक देशकाल और वृत्ति के अनुरूप पात्र नहीं है। अबसे शताब्दियों पहले से उसने अपने को इतना विगर्हित बना रक्खा है कि हमारा धर्माधार पुराण-साहित्य तक उसके बारे में कहता है—

"धूर्त लोग तरह तरह के वेश बना कर और शिर पर जटा तथा शरीर

पर मृगचर्म धारण करके मनुष्यों को धोखा देते फिरते हैं। मनुष्यों के बीच में नग्न, निर्लज्ज, गधे इस रूप में घूमते हैं। क्या ये लोग रागादिक वृत्तियों से मुक्त हो गए हैं ? यदि शरीर में धूल या राख लपेटने से मोक्ष मिल सकता है तो कुत्ता, जो रात-दिन मिट्टी में लोटता है, क्या मुक्त हो जाता है ? यदि गंगा स्नान से मुक्ति मिलती है तो प्रत्येक क्षण गंगा में स्नान करने वाले मकरादि जन्तु मुक्त हो जाते हैं क्या ?"

राष्ट्रीय दृष्टि से वर्तमान भिक्षुक हमारे राष्ट्र शरीर का एक गलित अंग है। सन् १९४२ के अगस्त आन्दोलन के समय महात्मा गान्धी का ध्यान इस ओर गया था और उन्होंने सुझाया था कि आज यदि हमारे देश का साधु-समाज, भिक्षुक-समाज, राष्ट्र सेवा में तत्पर हो जाए तो अद्भुत कार्य हो सकता है। हम देख चुके हैं कि पुराने साधुओं, ब्राह्मणों और सन्यासियों का यही लक्ष्य रहता था। निस्सन्देह ही गृहस्थों की अपेक्षा साधुओं और भिक्षुओं का समाज अधिक निश्चिन्त और शरीर से समर्थ है। अतः उसके पास समय की भी कमी नहीं है। पारिवारिक उत्तर दायित्वों का अभाव होने से उसके लिए समस्त देश या राष्ट्र ही उसके परिवार का रूप बन जाता है। देशीय या राष्ट्रीय समाज ही से उसका पालन भी होता है।

कोटिसंख्य राष्ट्रव्रती आध्यात्मिक साधकों का एक दल, जिसको राष्ट्र की इतनी लगन हो कि उसे भोजन-वस्त्र कमाने की चिन्ता का भी अवसर न हो। कितना भाग्यशाली हो सकता है वह देश, जिसमें इस प्रकार का भिक्षुक-समुदाय विद्यमान हो ! भारतवर्ष में सब प्रकार के भिक्षुकों की संख्या तो एक करोड़ से भी अधिक होगी। परन्तु आलस्य, पाखंड, इन्द्रिय-लोलुपता और मिथ्या दम्भ ने इनको इतना ग्रस्त कर रक्खा है कि, राष्ट्र का अभ्युत्थान तो किसे कहते हैं, राष्ट्र की सर्वतोमुखी अवनति ही इनका प्रत्यक्ष और परोक्ष लक्ष्य बना हुआ है। ये देश में व्यभिचार और वर्णसंकरता फैलाते हैं; देश के जीवन में से सच्ची आध्यात्मिकता का विनाश करके ये इसमें अन्धविश्वास, निरवलम्बता और पुरुषार्थहीनता की वृद्धि करते हैं;

जातीय और चारित्रिक शिक्षा के प्रथमाधार, हमारे स्त्री समाज, के अधिकांश को इन्होंने ही जड़ बना रक्खा है; और देश का अरबों-खरबों धन इनके झोलों या तहखानों में मिट्टी बना हुआ पड़ा है। इसीलिए भारत का भिक्षुक समुदाय आज उसकी एक विकट समस्या बना हुआ है।

भारत में यदि कभी भारतीय राज्य हुआ तो शायद इस समस्या का हल अधिक कठिन न होगा। एक सहानुभूति-विहीन विदेशी शासन की अपेक्षा देशी शासन को अपनी अवनतिमूलक परिस्थितियों का उपाय ढूँढ निकालने की चिन्ता स्वाभाविकतया अधिक होगी ही। उदाहरण के लिए, उस समय यह किया जा सकता है कि प्रत्येक तन्दुरुस्त भिक्षुक के लिए सैनिक-शिक्षा और सैनिक-कर्म अनिवार्य कर दिया जाए। भीख माँगने वाली औरतों और बच्चों से काम कराने के लिए घरेलू धन्धों के ढंग के राजकीय उद्योग विभाग खोले जा सकते हैं। कुछ प्रकार के अपाहिजों से अवश्य कोई काम नहीं कराया जा सकता। ऐसे लोगों के लिए राज्य की ओर से ही आश्रय स्थान यदि खोल दिए जाएंगे तो वहाँ उनके भोजन-वस्त्र के अतिरिक्त उनकी चिकित्सा तथा मानसिक उन्नति की भी कोई-न-कोई व्यवस्था की जा सकेगी जिससे उनके भीतर आत्म-गौरव तथा मानवता के गुणों का विकास हो सकेगा।

संसार के उन देशों में जहाँ स्वराज्य है भिक्षुक समस्या का अभाव है। इंग्लैंड, अमरीका आदि देशों में भीख माँगना अपराध है। भारत में भारतीय राज्य तो अभी न मालूम कितने दूर के भविष्य की बात है। तब तक यहाँ की वर्तमान परिस्थितियों में इस समस्या का क्या समाधान है? निस्सन्देह शासन की ओर से इस समस्या पर ध्यान दिए जाने की कोई सम्भावना नहीं है। अन्यथा क्या अभी तक उस पर ध्यान न दिया जाता? अभी तो यदि देश वासी ही इसे अपनी समस्या समझें तो कदाचित् किसी अंश में कुछ परिणाम निकल सकता है। हम लोगों की धर्म भीरुता में परिवर्तन होने की आवश्यकता है। हमारी अध्यात्म-चेतना बिलकुल विकृत

हुई पड़ी है। भौतिकतावाद के अपरिमित घोर स्वार्थ के साथ उसका असमंजस मेल करने के बजाए या तो हम अध्यात्म-चर्चा को बिलकुल ही त्याग दें या हम उसे अपनी सात्विक जीवन-चिन्ता में कोई सच्चा स्थान दें। आत्म प्रवंचना की अनर्थकारी माया को त्याग कर फकीर को दिए गए एक पैसे से अपने पापों को धो डालने या ईश्वर सामीप्य का टिकट खरीदने की अर्थहीन कामना से छुट्टी लें। हमारी मनोवृत्ति की इससे अधिक क्या विडम्बना देखने को मिल सकती है कि एक ओर तो हम भिखारी को पैसा देते हैं, अथवा किसी अ-भिखारी जरूरत मन्द की जरूरत से हमदर्दी करते हैं और दूसरी ओर उसे तुच्छ और क्षुद्र समझते हुए उसके प्रति प्रायः तिरस्कार और घृणा के भाव को भी प्रदर्शित करते हैं। हमारी सच्ची पुरानी संस्कृति में भिक्षुक का नाम अतिथि था, जिसका हम आदर किया करते थे। आज का भिक्षुक वैसा अतिथि नहीं और हम वैसे गृहस्थ नहीं।

परन्तु आज के भिक्षुक यदि वैसे अतिथि नहीं हैं तो उसका उत्तर-दायित्व हम सब के ऊपर ही है, अपने भीतर से अध्यात्म-लक्ष्य के सात्विक आर्य-लक्षण को तिरोहित कर जब हमने अपने को हीन बना लिया तभी हमारा भिक्षुक भी इतना हीन और घृणास्पद बन गया। देखा जाए तो आज हम सब ही आर्य-मानवता के लिए कलंक-स्वरूप हैं। यदि हम अपनी वृत्तियों में कुछ भी सात्विकता ला सकें तो इसमें सन्देह नहीं कि हम अपने भिक्षुक समाज की मनोवृत्ति को भी अधिक समुन्नत बना सकते हैं। हमें कठोर बनने की आवश्यकता नहीं है। अपाहिजों की असहाय अवस्था पर कौन-सा ऐसा हृदय हीन होगा जिसे तरस न आए और जो उनकी सहायता न करना चाहे। परन्तु जातीय दृष्टिकोण में, केवल व्यक्ति पर क्षणिक दया दिखाने से उद्धार नहीं होता। हमारे देश के धनी और सद्वृत्त सज्जन, शेष जनता की यथा सम्भव सहायता ग्रहण करके, यह कर सकते हैं कि वे स्थान स्थान पर ऐसे निवासालय बनवाएँ जिनमें ये अपाहिज भिखमँगे

न केवल आश्रय ही पा सकें बल्कि जहाँ उन्हें सफाई सुथराई से रहने के अभ्यास के साथ साथ मानवता के गौरव का भी स्वाभाविक वातावरण तथा जीवन-पाठ मिल सके। देश के समस्त आश्रय विहीन अपाहिजों को इस प्रकार के आलयों में लाने की विशेष चेष्टा की जाए। इन्हीं आलयों में, उनके कर्मचारियों के रूप में, देश के बहुत से निराश्रय परन्तु तन्दुरुस्त भिक्षुकों को भी खपाया जा सकता है। ये तन्दुरुस्त भिक्षुक अपनी आलस्य-वृत्ति के कारण आलयों में स्वेच्छा से जाना नहीं चाहेंगे। इसके लिए भीख देने वाले महानुभावों का सहयोग अपेक्षित होगा, जो भीख देने से इन्कार करके भिक्षुकों को आलयों में पहुँचवाने के लिए यथाशक्ति तत्पर रहें। इस काम में सबसे बड़ी सहायता नगर-नगर में फैली हुई सेवा-समितियों और स्काउट-संस्थाओं के द्वारा मिल सकती है, जो अपनी अनेक प्रवृत्तियों में एक प्रकार के भिक्षुक-डिपो स्थापित करने को भी स्थान दे सकती हैं। आजकल के जगह जगह फैले हुए ढोंग-पूर्ण अनाथालयों आदि की बुराइयों पर ध्यान देते हुए यदि खूब सोच विचार करके भिक्षुकों के आश्रमों की यदि कोई योजना देश में बने तो क्या वह नई नई धर्मशालाओं और मन्दिरों के बनवाने से अधिक धार्मिक, उपयोगी और सच्चे राष्ट्रीय महत्त्व की वस्तु न होगी।

परन्तु धर्म का ढोंग रचने वाले सम्पन्न धूर्त भिक्षुकों का तो एक दम बहिष्कार करने से ही काम चलेगा। मन्दिरों और मठों और साधुओं और सयानों के पास स्त्रियों को जाने देने की प्रथा बन्द होनी चाहिए। तीज-त्योहारों तथा विवाहादि उत्सवों में हमारी दान वृत्ति का रूप व्यक्तियों को भिक्षा देने के स्थान में ऊपर बताए हुए ढंग के आलयों को सहायता देना बने तो उससे सच्ची मनुष्य-सेवा, राष्ट्र सेवा और ईश्वर-सेवा होगी।

जब तक उक्त प्रकार के आलय नहीं खुलते हैं तबतक भिक्षुक-वृत्ति के नियन्त्रण के और भी कुछ उपाय किए जा सकते हैं। यथा, नगरों की सेवा-समितियां जनता की विश्वास भाजन बन कर यथार्थतः निराश्रय भिक्षुकों

को किसी प्रकार के 'पास' या बिल्ले या कोई अन्य चिन्ह इस ढंग से प्रदान करें कि वे स्थानान्तरित न किए जा सकें और भिक्षा देने वाले सज्जन इन चिन्हों को देख कर ही भिक्षुकों को भिक्षा दें। भिक्षा का रूप द्रव्य न होकर विशेषतः भोजन या इस प्रकार का वस्त्र हो जो बेचा न जा सके।

यदि भिक्षुक-समस्या पर देश के सामाजिक सचमुच गौर करना चाहें तो और भी कितने ही उपाय ढूँढे जा सकते हैं। परन्तु यह सब तभी हो सकता है जब इस प्रश्न पर सामाजिक रूप से, सामाजिक दृष्टिकोण रखते हुए, प्रत्येक व्यक्ति विचार करे।

: १२ :

भारतवर्ष के तीर्थस्थान

भारतवर्ष में असंख्य तीर्थ हैं और प्रतिवर्ष पर्वों के अवसर पर, हजारों क्या, लाखों की संख्या में भारतीय जनता इन तीर्थों की यात्रा करती है। जिन दिनों में पर्व होते हैं उन दिनों रेलों में स्थान नहीं मिलता, शहरों में इक्के-ताँगों के किराये बढ़ जाते हैं, देहाती मार्गों में बैलगाड़ियों की चहल-पहल बढ़ जाती है तथा पगडंडियाँ उल्लसित पदचारियों की विविध-भाव-चेष्टा-विभूषित, कहीं लम्बी और सघन और कहीं विरल, पंक्तियों से शोभायमान हो जाती हैं। और, तीर्थस्थानों में देखिये तो ऐसा लगता है कि जाति का सोया हुआ जीवन मानों एकदम उमड़ पड़ा हो। तरह-तरह की वेषभूषाएँ दिखाई देती हैं, हर तरफ और हर समय पदसंचार होता रहता है, तरह-तरह की ध्वनियाँ प्रति दिशा से प्रत्येक क्षण सुनाई देती हैं; जीवन और उमंग के विलास के मनुष्य के पास कितने अनायास रूप हैं इसका वहाँ एक साथ अनुभव होता है। कोई गा रहा है, कोई नाच रहा है, कहीं व्याख्यान होते हैं, कहीं खेल दिखाये जाते हैं, कहीं कोई जल में गोता लगाने के बाद भगवान

का स्मरण कर रहा है तो कहीं कोई जलक्रीड़ा का आनन्द भी ले रहा है, कोई चाट के दोने या जलेबी उड़ा रहा है तो कोई अपनी मित्र-मण्डली के साथ चहल-क़दमी करता हुआ मूँगफली टूँग-टूँग कर बातचीत और गप्पाष्टक और दृश्यदर्शन का एक साथ आनन्द ले रहा है, कोई बच्चों को अच्छे-अच्छे कपड़े पहना कर सैर कराने ले जारहा है और उनके मचलने पर उनसे हुज्जत करता हुआ उनके लिये खिलौने या पकौड़ी खरीद रहा है तथा कोई अपनी हैसियत के अनुसार किसी ऊँची या नीची दुकान पर अपनी पत्नी के लिये साड़ी या ब्लाउज़ या लहँगे के कपड़े का भाव कर रहा है। यहीं कभी-कभी उचक्कों के भी उत्सव हो जाते हैं और जब कहीं किसी की जेब कट जाती है तो उसे खेद तो होता ही है परन्तु इसके कारण साधारणतया वह अपनी सामान्य उल्लासवृत्ति को एक दम क्षुद्र नहीं बन जाने देता। तीर्थों में मेला होता है। यहाँ छोटे और बड़े, औरत और मर्द, धनी और निर्धन, शहरी और देहाती सबको एक निश्छल और अहेतुक उल्लासवृत्ति का अनुधावन करते देख जीवन की एकरूपता और उसके स्रोत का सच्चा आभास मिलता है और उसके सहारे मानवता की एकरूपता का पता चलता है।

संसार की प्रत्येक सभ्य जाति के थोड़े बहुत तीर्थ या पुण्य-स्थान देखे जाते हैं। हिन्दुओं, मुसलमानों, बौद्धों, जैनियों, ईसाइयों सभी के कोई न कोई पुण्य-स्थान हैं। सबसे अधिक संख्या हिन्दुओं के तीर्थस्थानों की है। तीर्थों के उदय का सम्बन्ध मनुष्य की मौलिक धर्मवासना और धर्मवाञ्छा से है अतः हम यह भी देखते हैं कि इन तीर्थों का सम्बन्ध प्रायः जातियों के धर्म-प्रवर्त्तकों अथवा देवताओं या वेदात्माओं से है। 'तीर्थ' शब्द का अर्थ है 'जो तार दे' या 'पार लगा दे'। नदियों के तटों पर 'तीर्थ' उसी स्थल को कहते हैं जहाँ नदी के पार जाने की सुगमतायें होती हैं। धार्मिक जीवन के सम्बन्ध में 'तीर्थ' शब्द का प्रयोग लाक्षणिक है, जैसे शिक्षा में भी 'तीर्थ' की उपाधि उसको दी जाती है जिसने किसी विषय की अन्तिम

परीक्षा उत्तीर्ण करली हो और जो, फिर दूसरे शिक्षार्थियों को उस विषय में पार लगाने, उस विषय के अन्त तक पहुँचा देने, में भी समर्थ हो। धर्म की चेतना मुख्यतः आध्यात्मिक रहा करती है। धर्म का सम्बन्ध हमारी आत्मा और परमात्मा से रहा करता है। आत्मा से ही परमात्मा की सिद्धि है; यदि हमारी आत्मा से हमारा अनुराग है तो तर्क द्वारा परमात्मा हमारा चरम प्रेय हो जाता है। वही हमारे धर्म का अभिलक्ष्य हो जाता है। और चूँकि भौतिक जीवन और आत्म-जीवन (अध्यात्मिक जीवन) में भेद दिखाई देने लगता है, यहाँ तक कि किसी समय भौतिकता आध्यात्मिकता की विरोधिनी तक हो जाती है, अतः इस भौतिकता के पार होकर आत्मता, परमात्म-देश, को प्राप्त करना धर्म का लक्ष्य बनता है। इसी से भौतिकता को, इस संसार को, 'संसार-सागर', 'भव-नदी' आदि नामों द्वारा "सागर" या "नद" की उपमा हमारे साहित्य में दी गई है। दूसरी जातियों में पुण्य-स्थानों के सम्बन्ध में इस प्रकार की तीर्थ-भावना हो या न हो, परन्तु आर्य-जाति के धर्म में तो यह प्रधानरूप से निहित है।

तीर्थों और मेलों का भी सहज पारस्परिक सम्बन्ध है। जब तीर्थों के उद्देश्य से किसी पुण्यस्थान में जाया जाता है तो वह प्रायः किसी पर्व के अवसर पर होता है; और ऐसे अवसर पर तीर्थस्थल में हमेशा एक छोटा बड़ा मेला जुड़ जाता है। भारत में मेलों का सम्बन्ध भी अधिकतर धर्म से ही है। हिन्दुओं के बहुत से मेले तीर्थों और पर्वों से भिन्न स्थलों तथा अवसरों पर भी होते हैं; परन्तु इस तरह के मेले भी प्रायः धर्म के किसी-न-किसी आध्यात्मिक अथवा सामाजिक पहलू पर ही आश्रित रहते हैं। यह मेले प्रायः त्यौहारों के अवसरों पर होते हैं जिनका उद्भव अधिकांशतः हमारी जातीय संस्कृति की किसी-न-किसी धर्म-प्रधान घटना से होता है। हिन्दुओं के मेलों में आनन्द और उत्सव की भावना प्रधान रहती है। तीर्थ का मेलों के साथ सहज सम्बन्ध हो जाने से इस बात की सूचना मिलती है कि हमारी संस्कृति में धर्म कितने उत्सव को

वस्तु है। यह इसीलिए कि धर्म हमको भव-नदी से पार लगाने वाला है। यह बात गौर करने की है कि तीर्थों के मेलों का सम्बन्ध हमारे आध्यात्मिक धर्म से ही विशेष रूप से है, सामाजिक धर्म से उतना नहीं।

हमारे बहुत से बड़े-बड़े तीर्थ स्थान अधिकतर नदियों या जलाशयों के तटों से संलग्न हैं। प्राचीन समय में नदियों के किनारे बड़े-बड़े नगर तो बने ही थे, परन्तु नगरों के बनने से भी पूर्व उन्मुक्त प्रकृति के एकान्त में जलादिक की सुविधा तथा जीविकोचित सामान्य खेती बारी के लक्ष्य से नदी-नदादिक के समीपस्थ प्रदेशों में ही हमारे बड़े-बड़े ऋषियों की तपोभूमियाँ और कुलपतियों के आश्रम रहा करते थे। देखने से पता लगेगा कि हमारे अनेक वर्तमान तीर्थ इन्हीं प्राचीन तपोभूमियों और आश्रमों के स्थानों में अवस्थित हैं। प्राचीन समय में जो महर्षि अथवा तपस्वी अपनी ज्ञानगरिमा, तपश्चर्या अथवा ब्रह्म साक्षात्कार में बहुत ऊँचे उठे हुए होते थे उनके यहाँ उपयुक्त अवसरों पर दूसरे-दूसरे महात्मा, साधु एवं जिज्ञासु ब्रह्मचर्या के लिए एकत्रित हुआ करते थे और एक मेला सा (सम्मिलन या सम्मेलन) वहाँ बन जाता था। तीर्थों के उदय के इस मूल में ही उनके साथ संलग्न धर्म-भावना का रहस्य है। जलाशय के तीर्थ पर भवनागर के तीर्थों के इस स्वाभाविक सम्पर्क से ही उन-उन स्थानों का नाम भी तीर्थ ही पड़ गया जो अभी तक चला आता है।

सम्मिलन के उपयुक्त अवसरों का निश्चय दो-तीन बातों से हुआ होगा; यथा जनसंचार की सुविधा, जीविकोपायों (खेती-बारी आदि) से निवृत्ति के होने के बाद फुर्सत का मिलना, आश्रमों में अनध्याय का समय, तथा कतिपय ऐसे विशेष अवसर जिनमें धर्मवासना की विशेष प्रेरणा अन्य बातों को कुछ देर के लिए गौण बना देती होगी। जन संचार की सुविधा की दृष्टि से हम देखते हैं कि बरसात में तीर्थयात्राएँ प्रायः नहीं होतीं; परन्तु उसके बाद विजयादशमी और दीपमालिका के उत्सवों से निवृत्त होने पर कार्तिकी पूर्णिमा का बड़ा भारी पर्व मनाया जाता है और जलाशयों के तीर्थों की

जबर्दस्त यात्राएँ की जाती हैं। कार्तिकी पूर्णिमा का धार्मिक या आध्यात्मिक महत्व जो कुछ भी हो, इतना तो देखा ही जा सकता है कि कई महीनों के विराम के बाद जहाँ धर्म व्यग्रों के आध्यात्मिक जीवन के लिए तीर्थसेवा वैसे भी आवश्यक हो जाती है वहीं शरद् ऋतु में जनसंचार सुगम और आनन्दवर्धक हो जाता है, जल निर्मल और स्वास्थ्यप्रद होता है तथा लोग अपनी खेतीबारी आदि के कामों से भी निबट चुके होते हैं। धर्म-वासना-प्रधान अवसरों में ऋषियों द्वारा किये जाने वाले यागादिक के अवसरों अथवा फिर ग्रहण-आदि जैसे अवसरों की गणना की जा सकती है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न कारणों से निर्धारित अवसरों पर तीर्थ-सेवा को एक कर्तव्य का सा रूप दिया गया है। अर्थात् वर्ष में कम-से-कम अमुक अमुक अवसरों पर तो मनुष्य को अपने चरम लक्ष्य का स्मरण कर अपने अध्यात्महित की चेष्टा करनी ही चाहिए। अन्यथा तो तीर्थ यात्रा या तीर्थवास के लिये किसी भी समय का निषेध नहीं है। पार लगने की भावना जब भी मनुष्य में जागरूक हो जाये तभी तीर्थ-सेवा की जा सकती है। पुराने जमाने में इस तरह की समय-विधानरहित तीर्थयात्रायें की ही जाती होंगी और उनकी अवशिष्ट रूढ़ि के रूप में अब भी हम देखते हैं कि प्रायः लोग वर्ष में कभी भी भारतवर्ष भर की यात्रा के लिये निकल पड़ते हैं।

'ग्रहण' – पर्व के उल्लेख से यहाँ मिस्टर ऐल्डस हक्सले की एक बात याद आगई। मिस्टर हक्सले इंग्लैण्ड के एक लब्ध प्रतिष्ठ वर्तमान लेखक हैं और कहा जाता है कि वह भारतवर्ष से थोड़ी-बहुत सहानुभूति भी रखते हैं। वह एक बार भारत आए थे और उन्होंने सूर्यग्रहण के अवसर पर गंगाजी में लाखों हिन्दुओं को स्नान करते देखा था। इस पर उन्होंने अपने एक लेख में भारत की अज्ञान जनता पर तरस खाते हुए जिज्ञासात्मक ढँग से पूछते हुए लिखा था कि ये लोग लाखों की संख्या में सूर्यदेव की रक्षा करने के लिए तो इतने व्यग्र हैं परन्तु भारत को बचाने के लिए कितने लोग प्रयत्नशील हो पाएँगे।

मिस्टर हक्सले का ऐसा लिखने में जो कुछ भी उद्देश्य रहा हो, उनकी इस युक्ति से हमारे समझने के लिए दो नतीजे निकल सकते हैं। एक तो यह कि हमारी धार्मिक संस्कृति में से संगठन का रूप निकल जाने से उसके मौलिक आदर्श विलुप्त हो गए हैं। दूसरा यह कि संगठन और संगठनमूल आदर्शों के इस विलोप के कारण आजकल के समृद्ध विदेशियों को हमारे जातीय आचरणों को उपहास्य और असभ्य समझ कर दुनिया के सामने हमारी दुरालोचना करने का सुलभ अधिकार प्राप्त हो जाता है। मिस्टर हक्सले ने सम्भव है यह बात हमारी हितभावना से ही कही हो परन्तु दुनिया के सामने उनका लेख जिस रूप में हमारा विज्ञापन करता है उससे किसी विरोधी लक्ष्य की, हमारे अहित की, सिद्धि हो सकती है। जिस प्रकार कोई धूर्त कामुक किसी सरल असहाय बालिका को चरित्र भ्रष्ट करके, बाद में उसके गर्भिणी होने पर, अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा या सभ्यता के विज्ञापन में उसे "छिनाल" कहकर उसका तिरस्कार कर दे उसी प्रकार आज के सभ्य कहलाए जाने वाले विदेशी भी हमारी असहाय अवस्था में छल-फरेब से हमें गुलाम बना लेने और धीरे-धीरे छल-फरेब से ही हमारे मानसिक और नैतिक चरित्र को अच्छी तरह भ्रष्ट कर लेने के बाद आज हमारे आचरण को मूर्खतापूर्ण और हमारी गुलामी को हमारी नपुंसकता कहकर उद्घोषित करते हैं।

तीर्थ में जाकर और जल में खड़े होकर सूर्य को बचाने का भाव उपहास्य नहीं है; परन्तु उस भाव के अन्तर्निहित मर्म को भुला न देने से आचरण की जो रूढ़िमात्र रह जाती है वह उपहास्य बन जाती है। हम प्रायः जानते हैं कि हमारे यहाँ धर्म का रूप हमारे जीवन के छोटे-से-छोटे कर्म में भी क्यों व्याप्त था। व्यक्तिगत सामाजिक, राष्ट्रीय तथा आध्यात्मिक, प्रत्येक ही दृष्टिकोण से जो जो बातें उपयोगी पाई गई वे धर्म के व्यापक रूप में सामाजिक तथा जातीय व्याप्ति को प्राप्त करा दी गई थीं। कारण यह कि धर्मप्राणता हमारे पूर्वजों का जीवन थी, हिन्दुओं से भिन्न

दूसरी जातियों में जिसका रूप आजकल धार्मिक साम्प्रदायिक, कट्टरपन में देखा जाता है। अतः विज्ञान, दर्शन आदि के तत्वों को किताबी नुस्खों के रूप में केवल विशेषज्ञों के वाद-विवाद की वस्तु न रख कर हमारे महर्षियों ने उन्हें अबोध, अपढ़ जनता के हित के लिए धर्म के नाम पर सार्वजनिक बना दिया था। उदाहरणार्थ, यदि हमारे पूर्वजों ने 'विटामिनों' का आज-कल का सा अनुसन्धान करके देखा होता कि टोमाटो मानव स्वास्थ्य के लिए अति हितकर पदार्थ है तो उन्होंने जाति भर के स्वास्थ्य के संगठन की दृष्टि से यही विधान किया होता कि प्रत्येक दिन अमुक समय अमुक रूप से इतने या उतने टोमाटो का अमुक भगवान को भोग लगा कर प्रसाद ग्रहण करना प्रत्येक मनुष्य का धार्मिक कर्त्तव्य है, क्योंकि अमुक भगवान को टोमाटो अति प्रिय है और वह टोमाटो का भोग लगाने वाले अपने भक्त को सब रोगों से मुक्त रखते हैं। ग्रहण के समय सूर्य या चन्द्रमा की किरणें शरीर पर पड़ना मानव स्वास्थ्य के लिए अहितकर है और जल के भीतर उनका प्रभाव कम होता है। यही कारण है कि भारत में कितने ही समझदार लोग ग्रहण को देखना चाहते हैं तो वे आकाश की तरफ आँखें न उठा कर किसी थाली या बरतन में पड़ते हुए ग्रहण के प्रतिबिम्ब को देखते हैं—अर्थात ग्रहण के प्रतिबिम्ब को भी दर्पण आदि तक में न देख कर पानी में देखा जाता है। ग्रहण-सम्बन्धी धार्मिक विधि-निषेध के मूल में यह केवल एक वैज्ञानिक रहस्य है। इसके अतिरिक्त और कई रहस्य भी हो सकते हैं। यह लेख ग्रहण के ऊपर नहीं है, अतः तमाम रहस्यों पर विचार करने की भी यहाँ आवश्यकता नहीं है। कहने का अभिप्राय केवल यही है कि हमारे धार्मिक कृत्यों में जीवन सम्बन्धी उपयोगिताओं का जातीय लक्ष्य निहित है। तीर्थों में जातीय लक्ष्य राष्ट्रीय लक्ष्य भी बन जाता है। अन्यथा ग्रहण के अवसर पर हम अपने घर में ही पानी के हौज या टब के भीतर भी बैठे रह सकते हैं। क्या कारण है तब कि हम गंगास्नान को ही जाते हैं? गंगा के तट पर

असंख्य सूर्यरक्षकों के बीच में अपने को पाकर अपने जातीय देवता सूर्य की रक्षा के बहाने जातीय हिन्दुत्व की भावना का जरा-सा भी अंकुर प्रच्छन्न रूप में भी क्या किसी के हृदय में नहीं उदित होगा !

इसमें संदेह नहीं कि आचरणों के रूढ़िबद्ध हो जाने पर उनके मौलिक महत्व के विस्मरण के साथ-साथ उनमें से संगठन के तत्वों का भी बहुत कुछ ह्रास हो जाता है। ऐसी सूरत में वे अधिकतर निरर्थक से भी दीखने लगते हैं। आज यदि औसत तीर्थयात्री से पूछिए कि वह किस लिए तीर्थस्थान को जाता है तो वह उत्तर देगा कि जीवन में किए हुए अपने पापों को धोने तथा संसार से मोक्ष पाने के लिए। रूढ़ि के प्रभाव में संसार से मुक्ति पाने की भावना वास्तविक न रह कर केवल एक मौखिक वचनमात्र रह गई है। यही बात तीर्थस्नान द्वारा पाप धुल जाने और मुक्ति पा जाने की है। मुक्ति या मोक्ष मनुष्यजीवन का चरम लक्ष्य है परन्तु वह केवल कल्पना-सिद्ध फल नहीं है, मनमोदक के रूप में ही उसका स्वप्न देख लेने से उसकी प्राप्ति नहीं होती। वह एक साध्य है जिसके लिए साधनों की आवश्यकता होती है। हमारे धर्म ने इसलिए जीवन के प्राप्य चतुर्वर्ग—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—की खोज की है। चतुर्वर्ग की इस तालिका में मोक्ष तो चरम है ही—उसके बाद कुछ पाने को नहीं रहता, परन्तु पिछले तीन फलों धर्म, अर्थ और काम का नामोल्लेख भी यथाक्रम किया गया है। जब तक काम अर्थात् वासना का अस्तित्व रहता है तब तक मोक्ष नहीं मिलता। अतः मोक्ष से पहले वासनाओं को हासिल कर लेना, उनसे तृप्ति पा लेना, आवश्यक हो जाता है। और, वासनाओं की सम्यक् तृप्ति अर्थ अथवा द्रव्य के बिना नहीं हो सकती। अतः वासनातृप्ति के लिये पहिले धन अथवा अर्थ होना आवश्यक है। परन्तु अर्थ और काम के अनुधावन में जब तक धर्म का सहयोग नहीं होगा तब तक उसमें समाजस्थिति के लिए उद्वेगजनक होने का बड़ा भारी संशय बना रहेगा। साथ ही आध्यात्मिक तत्व से बहिर्गत हो जाने के कारण वह अनुधावक के लिए भी मोक्षप्रद न हो

सकेगा। उसमें वासना, निरन्तर वासना—की ही उत्पत्ति होती रहेगी। अतः धर्म का उपार्जन अर्थ और काम की प्राप्ति से भी पहले आवश्यक हो जाता है। इस रूप में देखने पर मालूम होता है कि चरम जीवनफल, मोक्ष, से पहले के तीन फल अपने क्रम और योग में वस्तुतः मोक्ष के साधन ही हैं। तीर्थयात्री रूढ़िबद्ध होकर जब केवल मोक्ष की कामना प्रदर्शित करता है तो हम उसे मूर्ख या धूर्त समझते हैं।

आचरण जब इस प्रकार अपने उद्देश्य और प्रक्रम से विरत होकर एक निर्जीव रूढ़ि का रूप धारण कर लेता है तो निस्सन्देह वह बहुत कुछ अर्थहीन हो जाता है। तीर्थस्नान में स्नान कर लेने भर से पापों के धुल जाने की भावना में अतिशय पाप करने को ही प्रोत्साहन मिल सकता है, और वस्तुतः हम मोटे-मोटे सेठों की प्रवृत्ति में तो देखते भी हैं कि अपने व्यापारिक जीवन में दुनिया-भर के छल-फरेबों से रुपया जोड़ कर अन्त में एक धर्मशाला या मन्दिर बनवा देने के धर्म द्वारा वे अपना स्वर्ग का टिकिट रिजर्व करा लेने की कल्पना कर लेते हैं। इसी प्रकार दुनियादारी के अच्छे-बुरे दाँव-पेच में ही बुड्ढे और जर्जर होकर हम मरते समय पाँच आने में गोदान का पुण्य कमाकर, या यदि हम कुछ सम्पन्न हैं तो तुलादान आदि द्वारा, अपना परलोक सुधार लेने की आशा कर लेते हैं। हिन्दुओं के ही कतिपय बाद के धर्मग्रन्थों में इस प्रकार के रूढ़िबद्ध, अर्थहीन आचरणों की तीव्र आलोचना की गई है। कहा गया है कि यदि कोरे गंगास्नान से ही स्वर्ग मिल सकता है तो सबसे पहले मगरों-मछलियों आदि को स्वर्गप्राप्ति होगी जो हर समय ही गंगा-स्नान करते रहते हैं। इसी प्रकार भस्म रमाने वाले अकर्मण्य साधुओं पर आक्षेप करते हुए बतलाया गया है कि धूल लपेटना ही यदि स्वर्गप्राप्ति का उपाय है तो सर्वप्रथम कुत्तों, गधों तथा धूल में लोटने वाले अन्य जन्तुओं को ही स्वर्गलाभ होगा।

हम जब धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की कारण-कार्य-परम्परा की आलोचना कर अपनी वृत्तियों और आचरणों में असंगठित हुए तभी हमारे सामाजिक

और जातीय-राष्ट्रीय संगठन का भी ह्रास हुआ। आजकल हम मोक्ष का नाम लेते है ठीक वैसे कि अभ्यासवश ईश्वर का नाम भी ले लेते हैं, परन्तु मोक्ष वस्तुत: हमारा साध्य नहीं रह गया है। धर्म तो फिर रहेगा ही कैसे? सही मायने मे देखा जाय तो हमारे 'काम' तक का रूप विकृत हो गया है, काम भी हम में नहीं रह गया है। काम या वासना के रूप में जो वस्तु हमारे जीवन में दिखाई देती है वह वस्तुतः काम नही, काम का प्रेतमात्र है। अब तो अर्थवाद का युग है और अर्थ ही केवल हमारे जीवन का साधन और साध्य है। परन्तु अर्थवादी युग के संघर्ष ने अर्थोपार्जन को भी सामान्य जनता के लिए निषिद्ध कर रक्खा है और इस अर्थवाद का पैशाचिक आवेश जब से हमारे पाश्चात्य हितैषियों के सभ्य पदार्पण इस देश मे हुए थे तब से तो अति दुर्रतिक्रम हो उठा है। हम अपनी चारित्रिक कमजोरी को अस्वीकार नहीं करते। वह न होती तो हम ने अपने घर में किसी को टिकने ही क्यों दिया होता। परन्तु इससे कौन इन्कार करेगा कि इस कमजोरी मे जो कुछ त्रुटि थी उसको हमारे इन हितैषियों ने पूरी करने में कोई कसर नहीं रख छोड़ी। हमको सर्वाङ्ग में नङ्गा करके, भूखा मार कर, एक दूसरे से लड़ा कर, निरस्त्र करके राज-कृपा के छोटे-छोटे प्रलोभनों द्वारा व्यक्तियों और उप-जातियों मे पारस्परिक स्पर्द्धा, डाह और जलन पैदा करके तथा कोट-पतलून की इज्जत सिखाकर उन्होंने हमें हमारी संस्कृति तथा जातीयता और हमारे सजातीयों से घृणा करना भी बड़ी बारीकी के साथ सिखा दिया। साथ ही अत्यन्त आश्रयहीन, पंगु और कर्महीन भी बना दिया। इतना सब कर लेने के बाद हक्सलेजी हमें चुनौती देते है कि अपने देश की रक्षा करो, गुलामी से निकलो। उनकी इस चुनौती का व्यङ्ग में यही अर्थ नहीं है क्यों कि, देखें तो अब गुलामी से कैसे निकल पाते हो। और वास्तव में हम गुलामी से कहाँ निकल पा रहे हैं। देश के चिथड़े-चिथड़े करके अपनी किन्हीं मजबूरियों से अंग्रेजों ने जब भारत को छोड़ा तब से हम अपने गुलाम चरित्र के उस कुत्सित रूप का विस्तार कर रहे हैं जिसका अंग्रेजों के सामने भी हमने ऐसा प्रदर्शन न किया था।

और तुर्रा यह कि फिर भी यदि हमारी गुलामी के संस्कारों में कहीं कोई कमी रह गई है तो उसे भी निर्मूल कर देने की चेष्टा एक साँस में ही चल रही है। हमें दिखाया जाता है कि सूर्य की रक्षा के लिये तीर्थों में जाना छोड़ दो; यह मूर्खता और उपहास की बात है। हाँ, अर्थहीन रूढ़ियों में बुराइयाँ ही अधिक हैं; परन्तु फिर भी उनमें कहीं कुछ अच्छाई का लेश भी है। यदि किसी दलितावस्था में भी आज हिन्दुत्व, हिन्दु-जाति का नाम कायम है तो वह हमारे तीर्थों-पर्वों और त्यौहारों की बदौलत ही है—बढ़िया लहजे में अँग्रेजी बोलने का प्रयत्न करने वाले कोट-पतलूनधारी अक़लमन्द गुलामों की बदौलत नहीं। जितनी संख्या में ये अपढ़ देहाती वर्ष में अनेक बार तीर्थयात्रा करते हैं उतनी संख्या जिस दिन हमारे देश में आजकल के से अक्लमन्द भारतीयों की हो जायगी उस दिन बस क्लबों होटलों और बँगलों के ड्राइङ्ग रूमों में अक्लमन्दी की बहसें ही हुआ करेंगी, हिन्दू-जनता के दर्शन नहीं होंगे। तीर्थादिक-सम्बन्धी हमारी रूढ़ियों में यद्यपि अब मौलिक आचरण का काल ही शेष रह गया है पर, साथ ही, उनके मौलिक आदर्श, संगठन का भी कङ्काल शेष है। यहाँ एक मनोरञ्जक सच्ची कहानी याद आती है जो हमारे कथन को बड़ी अच्छी तरह उदाहृत करती है।

इलाहाबाद के एक प्रमुख अमरीकन पादरी ने एक बार किसी गरीब देहाती को बहका कर और झूठे प्रलोभन देकर ईसाई बना लिया था। उसको कोई पुरानी उतरन का सूट और टूटा हुआ एक टोप पहनने को दे दिया गया जिससे वह व्यक्ति अपने को "साहब" समझने के अहङ्कार से भी सम्पन्न हो गया था। परन्तु उसे ईसाई बने हुये बहुत थोड़ा ही समय हुआ था जबकि कोई हिन्दू पर्व आ गया। वह ईसाई अपने पुरातन संस्कारवश गङ्गास्नान को जाने लगा। इस पर पादरी साहब ने उसे गन्दे पानी में सबके सामने नंगे होकर नहाने की निर्लज्ज असभ्यता पर एक जोरदार लेक्चर पिला दिया। तब गँवार ईसाई ने उन्हें तुनुक कर उत्तर दिया "वाह साहेब,

हम इसाई हुइ गवा तो का हम आपन धरम क बिकाय दीन्ह। परब क दिवस तो हम जरूर ही गंगा-सनान करब।"

यहीं हम कङ्कालशेष तीर्थ-धर्म की महिमा तथा अपने पूर्वजों की सुदीर्घ संगठन-दृष्टि को देख सकते हैं, और देख सकते हैं कि हमारी रूढ़ियाँ और हमारे अन्ध-विश्वास भी विलायती अक्लमन्दी की तराजू से तौल कर फेंक देने की वस्तु नहीं हैं। हक्सले साहब या उनके स्वर्गीय दूसरे लोग पहले तो हमारे जातीय आचरणों को कालक्रम द्वारा अर्थहीन रूढ़ियों में दलित करा देते हैं और अब हमें उनको घृणा करना सिखाते हैं ताकि हम, जो कि जातीय रूप में भारतीय तो रहे ही नहीं हैं, अब हिन्दू भी न रह जाएँ! क्यों नहीं ये हक्सले और हक्सले और होक्सदे अपनी जातीय मूर्खताओं पर दृष्टिपात करते और अपने लोगों को सिखाते-समझाते? जिन लोगों ने आजकल के शैतानी अर्थवाद को पैदा करके विश्व में उसी की पूजा की प्रतिष्ठा की है और अपने आचरण द्वारा खुदा के बेटे का अपमान जिनसे अधिक और किसी ने नहीं किया, जिन्होंने ईश्वर का और अध्यात्म का इस संसार से पूर्णतया निष्कासन कर दिया है, क्यों वे ही लोग गिरजाओं में इकट्ठे होते हैं और क्रास को पवित्र मानने का ढकोसला करते हैं? इसी-लिए कि गिरजारूप अर्थकंकाल और "टिकटिकी" के नाम—संकेत द्वारा आज वे अपने को इतना संगठित बनाए हुए हैं। जुमे की नमाज मस्जिद के पुण्यस्थल की भीड़-भाड़ में ही क्यों पढ़ी जाती है? ईश्वर का स्मरण तो घर में भी अच्छा हो सकता है, वहाँ शायद ज्यादा अच्छा; परन्तु बात यह है कि मस्जिद में जाने वाली जनता अपने जातीय संगठित रूप में मुसलमान होती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि तीर्थों का हमारे लिए जातीय महत्व है। शायद कुछ क्षीणातिक्षीण धार्मिक-आध्यात्मिक महत्व भी उनका स्वीकार किया जा सके। जब कभी एक, आधी अथवा दो शताब्दी में अर्थवाद के पिशाच का नाश होगा और मनुष्यता पुनः जीवन के सच्चे सुख के लिए

आतुर होगी उस समय हमें अर्थवादी पशुओं की भाँति शून्य पर स्थित होकर नितान्त अरण्यरोदन नहीं करना पड़ेगा। हम केवल रूढ़ि और नामों की ही भित्तियों से भी अपने पीछे मुड़ कर देख सकेंगे और अपनी संस्कृति के आश्वासन को ग्रहण कर एक परिचित की भाँति उसके मार्ग पर अग्रसर हो सकेंगे। हमारे देश में असंख्य तीर्थ, हमारे जीवन में असंख्य पर्व और त्यौहार, हैं। हमारे आध्यात्म-धर्म के ये इतने-इतने प्रतीक हमको जीवन के एक क्षण में मार्ग दिखाने में समर्थ हो सकेंगे। तुलसीदास ने चित्रकूट में राम के दर्शन पा लिए थे और सूरदास ने ब्रज के करील-कुञ्जों में कृष्ण को देख लिया था। आध्यात्मिक दृष्टि से आज भी हम भारत में देख सकते हैं कि हमारी, अपढ़ अबोध, गंवार जनता जिसके पास धर्म की रूढ़िमात्र ही रह गई है, हमारे देश के सभ्य और बुद्धिमान गुलामों से अधिक ईश्वराश्रयिणी और इसलिए अधिक सरल, संतोषी, कष्टसहिष्णु, छलविहीन और एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति रखने वाली है।

परन्तु रूढ़ि के पक्ष में इतना कहने का यह अर्थ नहीं है कि हम रूढ़ियों को और अधिक रूढ़ होने दें। आज यदि हम अपने को कुछ जागा हुआ समझते हैं तो अपनी रूढ़ियों में भी प्राण-प्रतिष्ठा करने की चेष्टा करें। संगठन के मूलमन्त्र को अपने प्रत्येक पर्व, प्रत्येक त्यौहार, प्रत्येक मेले और प्रत्येक तीर्थ की नस-नस में जगा दें। तीर्थों के मेलों में हम प्राय: किन्हीं साधुनामधारी व्यक्तियों को तो उपदेशादि के व्याख्यान देते-दिलाते सुन लेते हैं, परन्तु राष्ट्रनेताओं का ध्यान अभी तक इन तीर्थों की ओर क्यों नहीं गया जहाँ कि जाति और राष्ट्र के प्राण-बिन्दु किसी निर्मलतर मनोभूमि पर स्थित होकर छलछला पड़ने के उत्सव के लिए एकत्रित होते हैं? क्यों नहीं हमारे राष्ट्रनायक पर्वों के अवसरों पर तीर्थ में पहुँच कर धर्म और मानवता और राष्ट्रीयता के ऐक्यभाव को उस सरल मस्तिष्क वाली जनता के सामने समझाते? इसमें सन्देह नहीं कि यदि हमारे प्रमुख नेता इन स्थानों में जाएँ तो समस्त सम्मिलित जनता

उनके दर्शनों की इच्छामात्र से ही उन्हें सुनने के लिए इकट्ठी हो जाएगी और उनके उपदेशों के असर को बुद्धिमानों की अपेक्षा अधिक सचाई तथा गहराई के साथ ग्रहण करेगी। इस जनता को सिखाया जा सकता है कि ग्रहण के अवसर पर तीर्थस्नान करते समय वह ईश्वर से प्रार्थना करे कि "हे भगवन तू सूर्यदेव की रक्षा कर ताकि वह अनन्त समय तक हमें अत्याचारियों से मोर्चा लेने की शक्ति देता रहे। यद्यपि हम निहत्थे हैं तथापि हमें विश्वास है कि सूर्य भगवान् से ओज प्राप्त कर हम किसी भी ज़ालिम के सामने सिर नहीं झुकाएँगे, किसी के दुर्वाक्य को सहन नहीं करेंगे तथा हमेशा अपनी जाति और धर्म और राष्ट्र को स्वतन्त्र बनाने और स्वतन्त्र रखने की चेष्टा करते रहेंगे। हमारे इस ध्येय को प्राप्त करने में जितने भी कष्ट हमें सहने पड़ेंगे उन्हें सूर्य भगवान् की कृपा से हम हँसते-हँसते सहने के लिये तैयार रहेंगे क्योंकि हम आर्य सन्तान हैं।" यदि इस तरह की कुछ जातीय प्रार्थनाएं हमारी अन्धरूढ़ियों को सहारा लगा दें तो साल में अनेक बार उनकी पुनरावृत्ति बहुत शीघ्र ही हमारे जातीय चरित्र का रूप परिवर्तनकर हम में एक ऐसी शक्ति का उत्थान कर सकेगी कि फिर हक्सले-वर्ग के लोगों को हमारी गुलामी और सूर्यरक्षा की मूर्खतापूर्ण भावना पर अधिक दिनों तक तरस नहीं खाना पड़ेगा।

: १३ :

इन मुसलमान हरिजनन पै
कोटिन हिन्दू वारिये।

जब हम गोस्वामी के कथन "राम ते अधिक राम के दासा" को ध्यान में लाते हैं तब हमें भारतेन्दुजी की ऊपरवाली उक्ति में बिलकुल अतिरंजना

नहीं मालूम होती; क्योंकि परम सत्ता के सम्बन्ध में यह वेदान्त-प्रतिपादित सत्य है कि "पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुच्यते पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।" और तब "पूर्ण" के लोक में विचरण करनेवाला तथा पूर्ण के व्यापार एवं सम्पर्क में निरन्तर मग्न रहनेवाला स्रष्टा कवि क्यों न उसी रँग में रँग जाएगा। इसीलिए, इस प्रकार का हरिभक्त अवश्य ही इतर जनों का सिरमौर है—उसके समक्ष करोड़ों व्यक्तियों की कोई गणना नहीं है। उस सूर्य की प्रभा असंख्य खद्योतों की सम्मिलित ज्योति से अगणितगुण अधिक है। अरबों-खरबों जुगनूओं का अभाव, अभाव प्रतीत नहीं होता; परन्तु एक सूर्य का क्षणिक ग्रास भी संसार को उद्विग्न कर देता है। अतएव हम एक को उपास्य बनाते हैं, दूसरे असंख्यों को उपेक्ष्य। क्या हुआ जो भास्कर दूर है, और क्षणिकाभ निकट। जिसमें सत्य का प्रकाश है वही हमारे नयनों का तारा है।

इस विषय पर आगे विचार करने के पहले दो-एक बातों को स्पष्ट कर देने की आवश्यकता प्रतीत होती है। प्रथम यह कि, अपनी उक्ति में भारतेन्दुजी "हिन्दू" शब्द को निर्विशेषण रखते हैं, जिससे यह सूचना मिलती है कि वह हरिभक्त के विपरीत सांसारिक व्यक्ति को दृष्टि में रख रहे थे। दूसरी यह कि, "इन" शब्द से कृष्णभक्त की ध्वनि निकलती है। तथापि यह कथन लगभग सभी मुसलमान कवियों पर लागू हो जाता है क्योंकि कुछ समय पूर्व तक हिन्दी और उसके कवियों की कविता ईश्वर की भक्ति के प्रकाश में ही अपना मार्ग निश्चित और प्रशस्त करती थी। हमारे अधिकांश कवि, निर्गुण वाले या सगुण वाले किसी-न-किसी रूप में भक्त ही रहे हैं; यहाँ तक कि ऐतिहासिक काल-विभाजन में हिन्दी-साहित्य का एक विशिष्ट युग भक्ति का युग कहलाता है। तीसरी अवलोकनीय बात यह है कि अनेक व्यक्तियों को इस बात पर क्षुभित होते हुए भी देखा गया है कि इस कथन के द्वारा बहुत से मुसलमान कवियों को "सस्ती ख्याति" प्रदान कर दी गई है। अनेक हिन्दुओं की कविता इन मुसलमानों की

कविता से बहुत ऊँची होने पर भी उन हिन्दुओं को इन कवियों की तुलना में एक छोटा सा भी स्थान नहीं दिया जाता। पर, यह सत्य को उसकी ऊपरी सतह से, धूलि पटल के आवरण में को, देखना है, वस्तु की दिखावट को महत्व प्रदान करना है—उसके अन्तस् का उसके वास्तविक गौरव का, मूल्यांकन नहीं है। वास्तव में, कवि के व्यक्तित्व और उसकी परिस्थितियों को ध्यान में रक्खे बिना उसकी कविता के सम्बन्ध में कभी उचित निर्णय किया ही नहीं जा सकता। देखा जाए तो इन बातों के ध्यान द्वारा ही कवि का हृदय, उसका सच्चा अन्तःकरण, उसका मस्तिष्क सब कुछ, हमारे नेत्रों के सामने आता है और इन्हीं बातों के समालोचन द्वारा किसी कवि की लघुता या गुरुता का यथार्थ बोध किया जा सकता है। अतः मुसलमान कवियों को इस प्रशंसा से ईर्ष्यालु या क्षुब्ध होने के पहले यदि हम उनकी कठिन परिस्थितियों का अनुमान करलें तो हम कदाचित इनके विपरीत नहीं बल्कि पक्ष में ही अपना निर्णय देंगे।

हिन्दी-साहित्य-शिशु ने अपना प्रथम नेत्रोन्मीलन हिन्दू-यवन-संघर्ष के मेघों के नीचे किया था, उसके कानों का प्रथम परिस्पन्द हिन्दू मुसलमानों की रणभेरी के भैरव नाद और जूझते हुए योद्धाओं के सिंह-गर्जन से हुआ, उसके मृदुल गात्रों को लोहितोष्ण समरांगण के उन्मद झंझावात का दुलार मिला। क्योंकि मुसलमानों के आगमन के आसपास ही कुछ विद्वान् हिन्दी के उदय का भी समय मानते हैं। संघर्ष और पारस्परिक मनोमालिन्य के इस युग में दोनों जातियों का एक-दूसरो के प्रति अविश्वास तथा उस अविश्वास से उत्पन्न परस्पर उपेक्षा का प्राबल्य होना अति स्वाभाविक है। उत्तरकाल में पराजित और अपमानित हिन्दू बदले की ताक में रहते थे। शत्रुओं के काव्य-संगीत उन्हें रुचिकर कैसे हो सकते थे। समय की गति के साथ यवन-शासन पर दृढ़ता प्राप्त करते जाने पर भी एवं विजित और विजेताओं का पारस्परिक सम्पर्क बनते जाने पर भी समय-समय पर कट्टर शासकों की कूटनीति अन्य राजनीतिक कारणों से मिल कर

लोगों के हृदयों के बीच में आवरण खड़ी करती रही। ऐसे कठिन समयों में मुसलमान कवियों ने हृदय जोड़ने का जो सफल प्रयत्न किया वह सर्वथा प्रशंसनीय है।

इन कवियों को जितना भय हिन्दुओं के द्वारा अपनी बात का न सुने जाने का था उससे कहीं अधिक अपने धर्म-मदान्ध जातिभाइयों के द्वारा "काफिर" की उपाधि दिए जाने का था, क्योंकि यवनों का तो आदि-पदार्पण ही काफिर की बुतपरस्ती को नष्ट करने के लिए हुआ था। उनको हिन्दू-धर्म की प्रत्येक पद्धति अन्धविश्वास की परम्परा और सत्पथ-विभ्रम की शृंखला विदित होती थी। उनकी इसी क्षण-क्षण वर्धमान कट्टरता ने वर्षों उनके हम्माम के पानी को दुर्लभ भारतीय ग्रन्थों को जला-जला कर गर्म करवाया, अनेक 'हकीकतों" को अपनी धर्मप्रियता पर समय से पूर्व ही परलोक का दर्शन करवाया, हिन्दुओं पर हिन्दू होने का कर लगाया और न जाने क्या क्या करवाया। ऐसे समय में जिस अनुपम साहस ने जिस धर्मवीर से यह कहलवाया कि—

लाखों गौएँ तेरी अब फिरती हैं मारी मारी।
लगन तुझसे ही लगी नन्द दुलारे आ जा॥

वह क्यों न हमारी कृतज्ञता का, धन्यवाद का, पात्र बनेगा। और, जब हम देखते हैं कि वह व्यक्ति सैयद कासिम अली है, एक मुसलमान है, तो हमारा हृदय सहसा कह उठता है—"तुझे लाखों प्रणाम।"

भौतिक-लौकिक यातना का जो खतरा उनके सिर पर मंडराता था वह तो था ही, परन्तु सबसे कठिन और दुर्जेय बात तो यह थी कि अपने इस कार्य में मुसलमान कवियों को अपनी सहज, प्रकृति जाति की स्वभावज पद्धति-परम्परा, पर भी विजय पानी होती थी। यह विजय पाना कितना कठिन है इसका किंचित् अनुमान यह देखते हुए किया जा सकता है कि हिन्दू कवियों में कदाचित् ही किसी ने अपनी से भिन्न संस्कृति के सम्बन्ध में ऐसी भाव-भरित सरस कविता की हो। अस्तु; हमारा हृदय द्रवित और

कंठ गद्गद् हो जाता है जब हम यह अनुभव करते हैं और कहते हैं कि मुसलमानों ने इस प्रकार की विजय प्राप्त की है—अपने पौरुष से और सतत क्रियमाण प्रयत्न से। उनके लिए यह अन्धे के हाथ बटेर लगना नहीं था, बल्कि पर्वत के गुप्त रत्न खोजना था। क्योंकि काबुल के बागों की सैर से दिल बहलाने वाले और बुलबुल के तरानों में स्वर मिला कर गाने वाले पूर्वजों के अरब-प्रिय रक्त को दायभाग में पाकर भी भारतीय खग बनकर "कालिन्दी-कूल कदम्ब की डारन" बसेरा करने की इच्छा रखना और दर्द के स्वर में "का सँग फाग मचाऊँ री" का अफसोस करना इन कवियों की देव-दुर्लभ आत्म-द्युति का प्रसार ही है। ये कवि आशिक माशूक की दिल-लगी की दिल्लगी को छोड़ कर यकरंग के साथ "साँवलिया मन भाया रे" की मार्मिक अनुभूति करने लगे। मयखाने की मस्ती भूल कर फाग की बहार लेने लगे, और तब मौजदीन अपनी मौज में मधुमती भूमिका के आत्मिक प्रकाश को उंडेलने लगे और बोले "अंसुवन को अब रंग बनो है, नैन बने पिचकारी।"

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन मुसलमान कवियों के समस्त भाव भारतीय जामा पहन चुके थे। उनकी आत्मा सम्प्रदाय के क्षुद्र बन्धनों को तोड़कर विशालता में सुशोभित हो गई थी। उनकी कविता उनके मनोवेगों का उद्‌गार थी, जिसका अभिप्राय दूसरे शब्दों में यह हो जाता है कि इन कवियों के मनोवेग भारतीय प्रकाश से प्रदीप्त होकर उस ही प्रकाश का वितरण भी करते थे। इन कवियों की मनोवृत्ति ही ऐसी हो गई थी कि "आशिकाना" व्यवहारविचार उनके ध्यान ही में नहीं आता था। नजीर की भाँति सभी कवियों की यह मनोदशा थी कि "जब आशिक मस्त फ़कीर हुए तब क्या दिलगारी है बाबा", प्रेम की सांसारिकता और उसका मुलम्मा उनके लिए हेय हो गए थे, उनके लौकिक प्रेम की ईश्वरीय प्रेम में परिणति हो गई थी। यह सब यहाँ तक हुआ कि मंसूर ने दिव्य अनुभूति की इन शब्दों में व्यंजना की कि "कहै मंसूर मस्ताना, मैंने हक

दिल में पहचाना। वही मस्तों का मयखाना, उसी के बीच आता जा।" और तब बाजिन्द की आत्मा ने महामिलन की प्रज्ज्वलित स्पृहा में प्रण किया. "कर जोगिन को भेस सकल जग डोलिहौं। ऐसो मेरे नेम 'पीव पिव' बोलिहौं।" यहाँ ये कवि अपनी परम्परा—ईश्वर को माशूका बनाकर और स्वयं आशिक बन कर इश्क करने की पद्धति को सर्वथा भूल कर शुद्ध भारतीय परिपाटी के माधुर्यभाव के उपासक हो गए। मीरा में और इनमें अन्तर नहीं रहा। इस माधुर्यभाव की पराकाष्ठा हमें ताज के संकल्प में मिलती है जब वह कहते हैं—"राधा के वल्लभ कृष्ण वल्लभ हमारे हैं।" सपत्नी-भाव का लेश भी होने का यहाँ अवसर ही कहाँ है? हृदय के नहीं, आत्मा के इस चरम आनन्द में, विस्मृतिमयी स्मृति की इस गुदगुदी में, ससीम की असीम में परिणति हो जाती है, जिसमें, बुद्धि के बन्धनयुक्त बाधक विचारों को स्थान ही कहाँ रह जाता है। जिस महासागर में सभी जलकणिकाएँ एक समान मिल कर, एक रूप धारण करके, एक ही सत्ता का अंग बन जाने को अनिर्वचनीयता प्राप्त करती हैं वहाँ इन सांसारिक तुद्रताओं को कौन पूछेगा? हाँ तो, दिव्य आनन्द की इन तरंगों में इन कवियों ने इतना अवगाहन किया कि वे अपनी जाति को भी भूल गए। ताज कहती हैं—

सुनो दिलजानी मेरे दिल की कहानी तुम
दस्त ही बिकानी बदनामी भी सहूँगी मैं।
देवपूजा ठानी मैं निमाज हूँ भुलानी, तजे,
कलमा कुरान सारे, गुननि गहूँगी मैं।
साँवला सलोना सिरताज सिर कुल्ले दिये,
तेरे नेह दाग में निदाघ ह्वै दहूँगी मैं।
नन्द के कुमार, कुरबान तेरी सूरत पै,
हौं तो मुगलानी हिन्दुआनी ह्वै रहूँगी मैं॥

इस प्रकार यह निश्चय हो जाने पर कि उनकी कविता सात्विक मनोवेगों की व्यंजना होने के कारण कविता की शुद्ध पदवी की अधिकारिणी है, हम इन कवियों के कवि-कर्म की कठिनता का अनुमान लगाते हैं। यह बात सर्वसम्मत है कि जीवन के सत्य चित्रण से साधारणीकरण करा देने वाली कविता ही सर्वश्रेष्ठ कविता कहला सकती है। हम यहाँ यह देखेंगे कि इस कार्य में इन कवियों को किन-किन बाधाओं का सामना करना पड़ा और इन्होंने उन्हें विजित करने के लिए किन-किन उपायों का अवलम्बन लिया।

किसी भी विषय का ऐसा वर्णन करना कि वह सर्वग्राह्य हो सके और सब पर एक सा प्रभाव डाल सके—यह उसी दशा में सम्भव है जबकि कवि अपने विषय का पारदर्शी हो, उसका कोना-कोना झाँक आया हो, जब कि वह विषय उसके व्यक्तित्व का ही एक अंग बन गया हो। क्योंकि बिम्बग्रहण कराए बिना पाठक को कवि की सहजानुभूति का सहानुभव नहीं हो सकता, और बिम्बों की अप्रतिहत श्रृंखला के बिना हृदय पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं हो सकता। अतएव कवि के लिए ऐसे चित्रांकण करने की शक्ति, सामर्थ्य या परिस्थिति का होना नितान्त आवश्यक है। अब, इस दृष्टि से इन कवियों पर विचार करने से उनकी प्रतिकूल परिस्थिति का पता लगता है, क्योंकि उन्हें अपनी कविता में सदा ऐसे जीवन का चित्रण करना पड़ा है जिसके वे दर्शक रहे थे, अभिनेता नहीं। अब यह दर्शक के कौशल की बात है कि वह ऐसे जीवन का भी सजीव चित्रण कर सके। मुसलमान कवियों में से अनेक ने इसमें सफलता पाई है। इसका कारण यह है कि उन्होंने सदा प्रेम-कथानक चुने; चाहे वे निर्गुण-पंथी कवियों की कल्पित कथाएं हों, चाहे कृष्णभक्त कवियों की प्रचलित अवतार-गाथाएं। प्रेम के इन कथानकों में विस्तृत और व्यापकता की महान् सामर्थ्य निहित है। रसराज के इस भाव में सारे संसार को एक साथ हिला देने की शक्ति है। इस सार्वजनीन भावना में हिन्दू-मुसलिम-पृथक्करण का लेश तक नहीं है।

इस प्रकार इस भाव का आश्रय लेकर इन कवियों ने एक महान् बाधा का निराकरण कर लिया। क्योंकि जब हम "राम की बहुरिया" कबीर को "साहब" के आगमन की प्रतीक्षा में घर-बार साफ करते हुए देखते हैं और "हम घर आये हो, राजा राम भरतार" अतएव "दुलहिनी गावहु मंगलाचार" का मधुमय राग अलापते निहारते हैं तो हम उन्हीं की भाँति गद्गद् और रोमांन्वित हो जाते हैं। इसी प्रकार दरिया साहब की "साहब मेरे राम हैं, मैं उनकी दासी" और "बाबुल कैसे बिसरा जाई" आदि में आत्मा की पुकार सुनते हैं तो हमारी भी उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाने की इच्छा होती है। निर्गुण-मार्गियों के उपर्युक्त प्रकार के परमात्म-प्रेम के समान ही अथवा उससे भी अधिक, सगुणोपासकों के कृष्ण-प्रेम से हमारा हृदय आकर्षित, प्रभावित और द्रवित होता है, क्योंकि इस अवस्था में पाठक के रति-भाव की तृप्ति के लिए उसे एक बुद्धिगम्य, हृदयग्राह्य मूर्ति का आलम्बन मिल जाता है और तब, सूरदास जी के कथनानुसार, उसका न तो "निरालम्ब मन चक्कृत धावै" और न उसका मन सर्वथा अदृश्य "सांई" के लिए तड़पता ही है। इस स्थिति में तो वह महबूब के साथ ही अपने ऐसे महबूब के दर्शन का आनन्द लाभ करता है जो—

आमत अनन्द भरे, कन्द छबि वृन्दवत

मन्द गति आवत मुकुन्द मधुबन ते।

और तब वह उनके स्वागत के लिए "यारी साहब" की सलाह से "विरहिनी मन्दिर दियना बार" के अनुसार कार्य करके, यारी साहब के समान ही, "हों तो खेलौं पिया संग होरी" के उत्साह में उस प्रियतम के लिए हृदय-मन्दिर को सजाता है जिसके बिना रसखान के साथ ही वह अनुभव करता है कि "चित चैन नहीं चित चोर चुरायो"; और प्रियतम के पदार्पण पर काजी अशरफ महमूद के स्वर में आनन्द-विभोर हो गा उठता है—

"मेरे प्राण भलावन आये, मेरे नैन लभावन आये।"

इन भक्त कवियों के समान ही प्रेमाख्यानक कवियों ने भी इसी युक्ति का आश्रय लिया। जायसी, कुतबन आदि अनेक कवि अपने प्रेम के आख्यानों से जनता के हृदयों पर जादू-सा डाल रहे थे। वैसे तो इन कवियों की कथाएँ परमात्मा की ओर संकेत करती हैं और फलत: महत्वपूर्ण हो जाती हैं; पर यदि ऐसा गुण न भी होता तो भी अपने विशेष गुण, प्रेम के चित्रण, के कारण वे उसी प्रकार जनता के गले का हार बनी रहतीं। जब अपनी भावुकता में जायसी लिखते हैं—

यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव।
सकु तेहि मारग उड़ि परै, कन्त धरै जहँ पाँव।

तब ऐसा कौन सहृदय होगा जो इसके प्रभाव से अछूता बच सकेगा। जायसी की पद्धति के अनेक कवि हुए हैं जिन सबने इसी प्रकार भावमयी पंक्तियाँ लिखी हैं। पर इस विषय को अधिक बढ़ाने का यहाँ अवसर नहीं है।

कुछ मुसलमान कवि ऐसे भी हुए जिन्होंने प्रेम-कथानक नहीं लिखे हैं, तो भी वे भारतीय जनता को उतना ही आकर्षित कर सके हैं। ऐसे कवियों में अमीर खुसरो का नाम सब से पहले लिया जा सकता है। इन्होंने विशेषतया ऐसे चमत्कारपूर्ण वर्णन किये हैं जो हमारा ध्यान बरबस अपनी ओर खींच लेते हैं। प्रथम तो इन्होंने उन पदार्थों को लिया जो मुसलमानों के ही समान हिन्दुओं के भी व्यवहार की वस्तु, थे, जैसे पानी, आग, भुट्टा, काजल आदि; दूसरे उनका वर्णन ऐसी सरसता और सजीवता से किया कि वह अपने प्रभाव में किसी प्रकार कम न रहा। क्योंकि जब पाठक कवि को "मुँह से मुँह मिला रस प्यावत" कहते हुए सुनता है तो वह भी सखी के समान ही विस्मय-विमुग्ध होकर पूछता है -"ऐ सखि साजन?" पर जब उसे उत्तर मिलता है,—"ना सखि आम" तो इस आशा-विरुद्ध उत्तर की अद्‌भुतता उसमें एक विशेष आनन्द का सृजन करती है। इस प्रकार के कवि भी एक व्यापक प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ हुए।

यदि ये कवि नाटक लिखते तो कवि के परोक्ष में रहने के नियम से लाभ उठा कर अधिक सफलता प्राप्त कर लेते, क्योंकि इस प्रकार व्यक्तित्व के प्रदर्शन से उत्पन्न त्रुटियाँ उनके सम्मुख उपस्थित न होतीं। पर उन्होंने प्रबन्ध-काव्य लिखे हैं जिनमें उन्हें सामने आना पड़ा। समक्ष आने की इस अवस्था में यदि पाठक यह अनुभव करे कि कवि हममें का नहीं है तो वह उसकी ओर से मुख फेर लेगा—उसकी कविता को हृदयंगम करना तो बहुत दूर की बात है। इस संकट से बचने के लिए इन कवियों ने अपने निर्मल हृदय की झाँकी के थोड़े-बहुत प्रदर्शन से अपना मार्ग प्रशस्त किया। उनके हृदय के ईर्ष्या-द्वेष आदि से रहित होने के कारण वे इस कार्य में प्रभावपूर्ण भी हो सके। उनके वचन एक हिन्दू के मुख से निकले हुए वचन के समान ही होते थे; अतएव हिन्दू पाठक को उनके व्यक्तित्व की विभिन्नता का आभास भी नहीं मिलता। "दीन दरवेश" के उपदेश—"सबका साहब एक, एक मुसलिम इक हिन्दू" में भ्रातृभावना की जो सरिता तरंगित हो रही है उसमें हिन्दू-मुसलमान सभी के हृदय समान रूप से अवगाहन कर सकते हैं।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि ये कवि तो स्पष्ट ही योग-मार्गियों के विरुद्ध प्रचार करते थे, फिर उनकी कविता हिन्दुओं का विनोद कैसे कर सकी। बात यह है कि यह तो एक प्रकार की अखाड़े की कुश्ती थी, जिसका सामान्य जनता से कोई सम्बन्ध न था। ऐसी कुश्ती में एक मल्ल के विपरीत दूसरा होगा ही - दर्शक इसका बुरा न मानेंगे। वे तो तभी बुरा समझेंगे जबकि पहलवान के दाँव उन्हें ही गिराने में प्रयुक्त होने लगें। तात्पर्य यह कि ये कवि हिन्दू-धर्म के विरुद्ध कहीं भी कोई भावना प्रकट नहीं करते।

इनके अतिरिक्त कुछ और छोटी-मोटी युक्तियाँ भी उन्होंने काम में लीं जिससे उनका कवि-कर्म कृतकृत्य हो गया। संक्षेप में, इन कवियों ने अपनी कथाओं का सारा वातावरण और उनकी सारी परिस्थितियों को

भारतीय ही रक्खा, पात्रों के नाम-धाम, ग्राम, वन, पदार्थ, व्यवहार आदि सब भारतीय थे। अतएव हिन्दू पाठकों के सामने कोई ऐसा सांस्कृतिक पार्थक्य उपस्थित न हो सका जिससे वे अपने को उसके ग्रहण में असमर्थ-सा पाते। बरसों से यहाँ बस जाने से मुसलिम जनता भी इन सब से इतनी परिचित हो चुकी थी कि ये कथाएँ अपनी सरसता में उनके लिए अग्राह्य नहीं रही थीं, और कल्पित कथाएं तो केवल नामकरण की विभिन्नता ही रखती थीं, उनके कार्यकलाप और उनकी भावस्थितियाँ आदि तो सब मानवता से ही सम्बन्ध रखने वाले थे। इसके अतिरिक्त इनकी कथाओं के सभी मुख्य पात्र हिन्दू रहे। कम-से-कम नायक तो विशेषतः हिन्दू ही होते थे। फिर, आरम्भ से ही इन नायकों के लिए कवि की अपरिमित सहानुभूति रहने के कारण पाठक को इस ओर ध्यान देने की आवश्यकता और गुञ्जायश ही नहीं होती थी कि ये कथाएँ मुसलमान की कृति हैं अथवा हिन्दू की। पाठक केवल इतना ही अनुभव कर सकता था कि वह कथा उसके हृदय का, उसी के जीवन का, एक अंश है उसी की आत्मा की द्युति है—और, इस प्रकार उस कथा की आत्मा से अपनी आत्मा का मेल कर लेने में समर्थ हो सकता था। नायक के साथ कवि की सहानुभूति का दूसरा पक्ष यह था कि कवि ने प्रारम्भ से ही शठ पात्र को उसकी शठता के लिए बुरा वर्णित किया है, जैसे जायसी का कथन है कि "माया अलाउद्दीं सुलतानूँ" तथा "राघव दूत सोइ सैतानू" इस प्रकार पाठक को जब इस बात का विश्वास हो गया कि कवि हिन्दू-मुसलमान का ध्यान न रख कर; किसी का भी पक्ष न लेकर, सत्-असत् का चित्रण करता है और स्वयं सत् का पक्ष ग्रहण करता है तो वह भी मानवीय निर्बलताओं से पैदा होने वाली क्षुद्रताओं से ऊपर उठ कर कवि के आत्मप्रकाश में तन्मय होने लगा।

इन कवियों की निष्पक्षता का एक कारण यह भी था कि वे एक प्रकार के समाज सुधारक थे जिनके हृदय में मत-विभिन्नता को दूर भगाने की पूरी लगन थी। वे स्वयं इस बात के मानने वाले थे कि सब धर्म, सत्य,

ईश्वर के रूप—सभी एक पूर्ण सत्ता के द्योतक—हैं। "सबका साहब एक, एक मुसलिम इक हिन्दू।" इसी से बुल्लेशाह ने आवाज बुलन्द की—"दुइ दूर करो", और इसके लिए उन्होंने अपना आदर्श बतलाया—"ना मैं मुल्ला, ना मैं काजी, ना मैं सुन्नी, ना मैं हाजी," क्योंकि मैंने तो "अनहद सबद बजाया है।" जिस युक्ति से प्रियतम के दर्शन मिल सकें वही युक्ति श्रेष्ठ है जैसे काकभुशुण्डि ने भगवद्दर्शन दिलाने वाले काक शरीर को त्यागना उचित न समझा। इसी सिद्धान्त को लेकर इन कवियों ने भारतीय जीवन को ही अपना जीवन बना कर उसका सफल चित्रण किया।

इस प्रकार इन हरिभक्त मुसलमान कवियों की कठिनाइयों, और उन कठिनाइयों पर उनकी विजय-प्राप्ति के साधनों पर विचार करने के पश्चात् अब हम इन कवियों की उन स्थितियों का दिग्दर्शन कराना चाहते हैं जिनके द्वारा, हिन्दू जनता का विश्वास प्राप्त करने के अनन्तर, उन्होंने हिन्दू कवियों से अधिक सम्मान पाने का अधिकार भी प्राप्त किया।

इतिहास के पृष्ठों का अवलोकन बताएगा कि तत्कालीन कविता अधिकतर ईश्वर-सम्बन्धी होती थी। कुछ कवि अन्य प्रकार की कविताएँ भी करते थे। प्रकृति-वर्णन प्रायः नायक-नायिकाओं के उद्दीपन के रूप में ही होते रहे, अतएव वे कविता के किसी विभिन्न वर्ग की प्रतिष्ठा कराने का हेतु न बन सके। शृङ्गार रस की जो कविताएं हुईं उनमें से बहुत सी तो रहस्यवाद की कोटि में जाकर आत्मा और परमात्मा के मिलने की प्रतीक बन एक प्रकार से ईश्वर-सम्बन्धी कविता का ही अंग हो गईं। थोड़ी बहुत दूसरी कविताएं जो "रासो" आदि के रूप में लिखी गई थीं, और जिनमें वीरों का नायिका-हरण आदि साहसिक कार्यों का वर्णन होता था, अवश्य प्रभावपूर्ण होती थीं। पर, एक तो, ईश्वरेतर कविताओं पर तत्कालीन भारतीय जनता की स्वभावतः ही कुछ कम रुचि होने के कारण और, दूसरे विदेशियों के शासनारूढ़ हो जाने के कारण वीर काव्योचित सामयिक इतिहास-प्राप्त नायकों की संख्या क्षीण हो चलने से इस प्रकार के काव्यों की रचना और

उनके प्रचार का क्षेत्र भी तिरोहित हो चला होगा। अतएव जब हम तत्कालीन कविता के उत्कर्ष-अपकर्ष या उसकी अच्छाई-बुराई पर विचार करते हैं तो हमारे सामने प्रधानतः भगवद्भक्ति सम्बन्धी कविताएँ ही आती हैं।

ऐसी भक्ति-परायण कविताओं में हिन्दू कवियों की यह एक बहुत बड़ी त्रुटि रही है कि राम, कृष्ण आदि के सैकड़ों वर्षों से सर्वशक्तिमान् परमेश्वर माने जाने की चली आती हुई परम्परा के कारण ये कवि कविता और उसके मानव-ग्राह्य प्रभाव की आवश्यकता को सहसा भूल कर अपने भगवान् की परिमित शक्ति का प्रदर्शन करने के उद्देश्य में उनकी योग-माया आदि का हवाला देने लग जाते थे। हमारे कवि-सम्राट् तुलसीदासजी भी इससे अछूते नहीं बचे हैं। अनेक स्थानों पर उन्होंने इसका प्रयोग किया है। नारद-मोह का सारा हास्य-संकुल वातावरण इसी योगमाया के बल पर प्रगति प्राप्त कर सका है। पर, मुसलमानों के साथ यह बात न थी। इस विषय में उन्होंने पहले अपनी बुद्धि का आश्रय लिया, और तब राम कृष्ण आदि की असम्भवता या अलौकिकता को वे जिस रूप में ग्रहण कर सके वह सूरदास के, या फिर निर्गुण-पन्थियों के भी, "सब बिधि अगम" भगवान् के रूप में नहीं बल्कि रसखान के हृदयग्राह्य पुरुषोत्तम भगवान् के ऐसे रूप में प्रकट हुआ" जाहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ पै नाच नचावैं" और जिसने नजीर के हृदय को ऐसा पकड़ा कि वह ईश-विमुग्धता की नजीर बन गए और उनकी विस्मय-विमूढ़ता में उनकी प्रेम-परिप्लावित आत्मा केवल इतना ही कह सकी—

"क्या क्या कहूँ मैं कृष्ण कन्हैया का बालपन"— अथवा ' ऐसी बजाई कृष्ण कन्हैया बाँसुरी · "

गो-लोक-निवासी चराचर-पति सच्चिदानन्द के इस भूतल-बिहारी मानवीकरण में मुसलमान कवि कृष्ण का ऐसा चित्रण करने की भूल कर सकते थे कि वह हिन्दुओं के लिए असह्य हो उठता, परन्तु जैसा कि पहले

कहा जा चुका है, इन कवियों की अनुभूति में खुदा और ईश्वर दोनों के व्यक्तित्व का एकाकार हो गया था। अतएव वे सर्वोपास्य भगवान् को किसी घृणा-व्यंजक भावना में नहीं घसीट सकते थे। यह उनके उदार चरित्र के सर्वथा परे की बात थी। इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान कवियों की भारतीय अवतारों के चित्रण की शैली में प्रतिपादन का थोड़ा-सा अन्तर हो गया था। अपनी स्वयं की वस्तु को अतिशय-अतिरंजित रूप में देखने की स्वाभाविक प्रवृत्ति हिन्दुओं को उनके कृष्ण को देव-दुर्लभ बनाने के लिए बाध्य कर रही थी, जब कि दूसरों की सद्वस्तु के गुणों को स्वानुकूल बनाने की सत्प्रवृत्ति भेद-भाव-रहित उदार मुसलमान कवियों को नटवर कृष्ण का मानव-सुलभ रूप उपस्थित करने के लिए उद्यत कर रही थी।

हिन्दू कवि वेद, रामायण, महाभारत, पुराण, भागवत आदि से चली हुई शृंखला की परम्परा को चलाते रहने के प्रयत्न में अपनी भक्ति-सम्बन्धी और तदितर कविताओं में भी रूढ़िवादी होते जा रहे थे। उनके ऋतु वर्णन, दृश्य-वर्णन, अनुभाव, हाव भाव, भाव चित्रण आदि सब प्राचीन काव्यों की जूठन से थे, या फिर शास्त्र-नियमों के अनुसार बँधी-बंधाई परिपाटी पर चलने वाले थे। पर मुसलमान कवियों के चित्रणों में उनके अनजाने ही उनकी निजी संस्कृति का अनायास मेल होता रहा, और इस प्रकार उनके वर्णनों में नवीनता और सजीवता का संचार भी बराबर होता रहा। फलतः जबकि हठयोग के साधकों की कविता केवल आसन प्राणायाम की विधियाँ और नियम बतलाने में लगी रही, तब इन सन्त-मुसलमानों की कविता जनता की चीज़ बन रही थी—वह वास्तविक अन्तर्लीन जीवन-स्रोतों से उछल कर वास्तविक जीवन का चित्रण कर रही थी।

कविता की प्रेषणीयता की दृष्टि से मुसलमानों को अपनी विधर्मी होने की स्थिति का बड़ा लाभ था। यदि कोई हिन्दू अपने ईश्वर की बड़ाई में कुछ कहे तो नित्य प्रति की बात होने से किसी का ध्यान उस पर नहीं जाता। पर यदि दूसरे धर्म का अनुयायी उसी विषय पर कुछ कहे, और

यदि उसका कथन हिन्दू की उक्ति से किसी रूप मे कुछ बढ कर भी हो, तो पाठक का हृदय उसका दाम भी होने मे जो आनन्द प्राप्त करेगा वह आनन्द हिन्दू कवि के साथ उसका सामान्य सहचारी बनने की प्रसन्नता से कहीं अधिक बढ़ा चढ़ा होगा। इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण है। मुसलमान कवि की कृष्ण-स्तुति उसके कर्तृत्व की बोधक होकर पाठक की स्पर्धा के रजरा को, कवि के सत्य से रंग कर, मौलिक रूप के आनन्द मे परिणत कर देती है। कर्तृत्व का संकेत-संदेश आनन्द का प्रथम सोपान है। पर हिन्दू की परम्परा-प्राप्त रूढ़िमयता नित्य एक-सी ही बात की स्थिर अपरिवर्तनशीलता मे— अपनी कर्तृत्वहीनता मे—आनन्द की उद्भूति मे उतनी समर्थ नहीं हो पाती। इने-गिने कुशल कवियों को नहीं, बल्कि सभी कवियो को, सामान्य रूप से दृष्टि मे रख कर विचार करने पर, हमारे इस कथन मे कदाचित् कोई अत्युक्ति प्रतीत नही होगी।

अपनी इस बात को हम कुछ शब्दो में स्पष्ट कर देते हैं। सूरदास-प्रभृति हिन्दू भक्त-कवि अपनी इनी-गिनी संख्या मे ही रामायण या भागवत के वर्णनो से कुछ अधिक देने का यशोलाभ करते है, अधिकांश मे तो एक प्रकार से उनके अनुवाद ही करके रख देते हैं। अतएव कहा जा सकता है कि इन कवियो का कर्तृत्व पगु रहा है। पर मुसलमान कवि इतने सबल हुए कि कृष्ण-मन्दिर मे मक्के का नूर देखने लगे, कृष्णगुण-गान को ही उन्होंने अपनी नमाज़ बना लिया। उनकी आत्मा पतिपरायणा हिन्दू भार्या के रूप मे, संयोग-वियोग दोनो ही अवस्थाओं मे, अपने स्वामी को आत्म-समर्पण कर चुकी है। वह पति से मिलकर एकाकार हो चुकी है। अतः हम देखते है कि उनकी आत्मा अपनी विरहावस्था मे, दरिया साहब के अनुसार, "हरि बिन दुखी" होकर "दरिया सुमिरै एकै राम" के साथ चिन्ता तथा स्मृति में लीन होती हुई अपनी सतत अतृप्त अभिलाषा, मिलनस्पृहा, को कारे खाँ के शब्दों में व्यक्त करती है कि "ऐ रे नंदलाल, क्यो हमारी बार बार की।" और अब प्रियतम फिर भी "बार" करते रहे तो इच्छा के

साथ वह प्यारा उलहना, मार्मिक उपालम्भ, देती है– "धरि रूप नये, करि नेह नये, अब गइयाँ चराइबो भूलि गये" और इस प्रकार हमें अपने दर्शन से वञ्चित कर गए। पर तत्काल ही वह करीम बख्श के स्वर में स्वर मिलाकर संयोग के अभाव में अवश्यम्भावी मरण का उल्लेख करती है— "मारौ तुम्हीं औ जिलाओ तुम्हीं" - और तब वह निश्चय कर लेती है— "बुल्लेशाह धिग जीवन मेरा जौ लौं दरस दिखाई नूँ।" इसी प्रयत्न में 'रसना, राम कहत तैं थाकी" को उसकी आहत भर्त्सना भी सुनाई पड़ती है। अपनी ऐसी विरह दशा में उस प्रोषितपतिका को उनसे स्पर्धा होना स्वाभाविक ही है, पर इस स्पर्धा में ईर्ष्या की कुभावना का लेश भी नहीं है, जैसा कि रसखान की इस स्पर्धोक्ति से विदित होगा– "काग के भाग कहा कहिये, हरि हाथ सौं ले गयो माखन रोटी।"

रसखान के समान ही वह विरहिणी पति-मिलन के अमित आनन्द से अवगत है कि—"माई री, वा मुख की मुसुकानि सम्हारि न जइ, न जैहै, न जैहै तभी तो काज़िम को "सैयाँ की सुरति मतवारी रहति है" और तभी लतीफ़ हुसैन की वियोगिनी कहती है, 'ऊधो, मोहन-मोह न जारें।" अन्त में अतिशय व्यथित होकर मकसूद के साथ मंज़िले-मक़सूद की प्राप्ति के विलम्ब में वह आहें भरती है; 'सखी अब तक न आये पी हमारे।" जब उसकी सुनवाई होती है और उसके प्राण-भुलावन तथा नयन-लुभावन आराध्य देव आते हैं तब वह आनन्द में छक कर रहती है—"या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।"

मनःपुर के इस वातावरण में "शेष" की अन्तरात्मा अनुभव करती है कि "सुमिरि श्री गोकलेस को गो कलेस मन को।" इसीलिए उसका यह मोनरथ बन गया है कि "मानुष हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।" इस प्रकार यह अन्तरात्मा जब उस आनन्द से विभोर हो जाती है तो फिर उससे उसी आनन्द का वितरण होने लगता है। परम 'आनन्द की ये रश्मियाँ सम्पूर्ण ब्रह्मांड में अपनी समानता नहीं रखतीं, और

जन-समुदाय को ऐसे अप्राप्य आनन्द का देने वाला कवि अवश्य ही अधिक से अधिक कृतज्ञता का पात्र होना चाहिए ।

———

: १४ :

हमारी शिक्षा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और वर्तमान स्कूली शिक्षा

भारतीय इतिहास के अति प्राचीन समय में ऋषियों के आश्रमों में जो शिक्षा-पद्धति प्रचलित थी उसमें प्रकृति के साहचर्य के कारण यथार्थ जीवन से परिचित होते रहने का शिक्षार्थी को अधिक अवसर प्राप्त था। वीतराग तपस्वियों के चरणों में बैठकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के अतिरिक्त विद्यार्थियों को जीवन के सभी कार्य अपने हाथों से करने पड़ते थे। एक प्राचीन गाथा के अनुसार, सत्यकाम जाबाल नामक एक शिष्य को चार सौ दुबली-पतली गाएं देकर गुरु ने कहा "जाओ, जब ये गाएं एक सहस्र हो जाएं तब तुम आश्रम में आना। तभी तुम ब्रह्म विद्या के अधिकारी होओगे।" कितने ही वर्षों के उपरान्त जब सत्यकाम हृष्ट-पुष्ट एक हज़ार गाएं लेकर वापिस ऋषि के आश्रम में पहुँचा तो ऋषि ने गद्‌गद् होकर कहा, "पुत्र, इन गायों की सेवा करते समय जो ज्ञान तुमने प्राप्त किया है वह ब्रह्म विद्या से कम श्रेष्ठ नहीं है। वही यथार्थ ज्ञान है। वेदों में जिस जीवन की व्याख्या है उस जीवन को तुम स्वयं व्यतीत कर चुके हो। अब मैं तुम्हें और दूसरी कौन-सी ब्रह्म विद्या सिखाऊं। मुझे छुट्टी मिली। आज से तुम्हीं इस आश्रम के गुरु हो।" इस गाथा से मालूम होता है कि उस प्राचीन-काल की शिक्षापद्धति में हाथ के काम का महत्व था; इतना ही नहीं, उसे ब्रह्मविद्या की प्राप्ति का साधन मानना हाथ और मस्तिष्क, बौद्धिक और क्रियात्मक ज्ञान, के समन्वय के सिद्धान्त की स्पष्ट स्वीकृति है।

बौद्ध युग में इन आश्रमों का स्थान नालन्दा, विक्रमशिला आदि बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों ने ले लिया। राजकीय सहायता तथा धनी गृहस्थों के पुष्कल दान से पोषित इन विश्वविद्यालयों के विद्यार्थी, जीवन की आवश्यक्ताओं की चिन्ताओं से अतिमुक्त, केवल बौद्धिक ज्ञानार्जन मे ही व्यस्त रहने लगे। वादविवाद और शास्त्रार्थ का बोलबाला हो उठा। जो वाद-विवाद में सबको परास्त कर सके वही सबसे बड़ा विद्वान् समझा जाने लगा। प्रयोगात्मक और क्रियात्मक ज्ञान के ऊपर यह बौद्धिक ज्ञान की विजय थी। तर्क और मेधा ने कला-कौशल को, मस्तिष्क ने हाथ को, परास्त कर दिया। ज्ञानी और कर्मी का मार्ग अलग-अलग हो गया। कथनी और करनी में कोई सम्बन्ध न रह गया। समन्वय का प्राचीन सिद्धान्त भुला दिया गया। आश्रमों की शिक्षा-पद्धति का रूप विकृत हो गया। शिक्षा-पद्धति एकांगी हो गई। बाद में जब ब्राह्मणधर्म का पुनः उत्थान हुआ तब मन्दिरों के साथ लगी हुई पाठशालाओं में शिक्षा को ब्राह्मण कुमारों तक ही सीमित कर देने से, और उसमे भी व्याकरण और दर्शन को शिक्षा को ही सारा महत्व दे-देने से भारतवर्ष की उस प्राचीन शिक्षा-पद्धति का रूप सर्वथा विकृत हो गया। मुसलमानों के समय में भी देश की वही शिक्षा-पद्धति रही। जनता की शिक्षा का उन्होंने कोई नवीन प्रबन्ध नहीं किया। उन्होंने मुसलमान विद्यार्थियों के लिए जो मक्तब खोले उनमें भी कुरान और हदीस की बौद्धिक शिक्षा की ही प्रधानता थी।

जब अंग्रेजों ने भारतवर्ष पर अधिकार किया और राज्य की ओर से प्रजा की शिक्षा का प्रबन्ध किया गया तो उस समय भारत की उस प्राचीन शिक्षा-पद्धति का यह विकृत रूप शेष रह गया था। हिन्दुओं की पाठ-शालाओं और मुसलमानों के मक्तबों में उन्हें कोई उन्नत शिक्षा-पद्धति न मिली। अंग्रेज उन दिनों भारतवर्ष को असभ्य देश समझते थे। उनकी प्राचीन सभ्यता के लिए उनके हृदय में कोई बड़ा आदर न था। अतः भारत की प्राचीन शिक्षा-पद्धति का अध्ययन कर उसे पुनः प्रचलित करने

का प्रयत्न शासक-वर्ग की ओर से नहीं किया गया। देश की जल-वायु से उत्पन्न शिक्षा-पद्धति ही देश के निवासियों के लिए अधिक अनुकूल सिद्ध हो सकती है, इतना सोचने का उनके पास समय नहीं था। शिक्षा-प्रचार का जो प्रयत्न उन्होंने यहाँ किया उसके मूल में उनकी स्वार्थबुद्धि काम कर रही थी। उन्हें कुछ कम वेतन के कर्मचारियों की आवश्यकता थी। अतएव भारतवासियों को शिक्षित करने के लिए उन्होंने पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति के उसी रूप को अपना लिया जा उस समय उनके देश में प्रचलित थी। और वह भी लार्ड मैकाले की राय से अंग्रेजी के माध्यम द्वारा जारी की गई। फलतः एक ऐसी शिक्षा-पद्धति देश के सिर थोप दी गई जिसका जन्म यहाँ से सात समुद्र पार एक नितान्त विपरीत वातावरण में, मिलों की चिमनियों से उठते हुए धुएँ के विषाक्त वातावरण में, हुआ था।

आज से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व इंग्लैंड में जो औद्योगिक क्रान्ति हुई थी उसने पश्चिम के सामाजिक संगठन में आमूल परिवर्तन उपस्थित कर दिया था। जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जो वस्तुएँ मनुष्य अपने हाथों से बनाता था उनमें से अधिकांश अब वह मशीनों से बनाने लगा। उद्योगधन्धों का केन्द्र गावों से हट कर कारखानों में आगया जिनके चारों ओर बड़े-बड़े नगर बस गए। देहात में फैली हुई जनता सिमट कर इन्हीं नगरों में एकत्र हो गई। किसान और कारीगर मिलों के मजदूर बन गए। कारखानों में काम करने वाले मजदूरों के लिए किसी विशेष कौशल की आवश्यकता नहीं होती। कुछ इने-गिने इन्जीनियरों आदि को छोड़ कर शेष मजदूरों के लिए, शिक्षा तो क्या, साक्षरता की भी आवश्यकता नहीं है। फलतः मजदूरों की शिक्षा अनावश्यक समझी गई। जो हाथ के काम करने वाले थे उन्हें अपढ़ छोड़ दिया गया। जिनका हाथ पुष्ट हुआ उनका मस्तिष्क कुंठित हो गया। दूसरी ओर देश का सारा पैसा कारखानों के कतिपय मालिकों, महाजनों और उनके कर्मचारियों के पास एकत्र हो गया। उन्हें बौद्धिक विलास के लिए पर्याप्त समय मिलने

लगा। अतएव उनके इस बौद्धिक विलास के लिए एक ऐसी एकांगी बौद्धिक शिक्षा-प्रणाली का जन्म हुआ जिसमें हाथ के काम का पूर्णतः बहिष्कार था। यही वह शिक्षा-पद्धति है जिसे सात समुद्र पार से लाकर अंग्रेजों ने इस देश में प्रचलित कर दिया। चूँकि इस समय देश के पास कोई अपनी उन्नत शिक्षा-पद्धति न थी, और जो थी वह स्वयं एकांगी और दूषित थी, अतएव इसी विदेशी पद्धति ने देश में अपनी जड़ जमा ली। पहले-पहल बड़े-बड़े नगरों में ही स्कूल और कालेज खोले गए, बाद में जब देहात के बच्चों के लिए प्रारम्भिक शिक्षा का प्रबन्ध किया गया तो, माध्यम अंग्रेजी न रहने पर भी पद्धति अक्षरशः वही बनी रही। देहात के वातावरण का, देहात के बच्चों की आवश्यकताओं का, बिल्कुल ही विचार नहीं किया गया।

प्रचलित शिक्षा-पद्धति शिक्षा की समस्या को बालक के दृष्टिकोण से नही देखती। बालक की सहज प्रवृत्तियों के आधार पर उसके व्यक्तित्व का विकास इस पद्धति का ध्येय नहीं है। होता यह है कि मानव जाति ने युग-युगान्तर से जिस ज्ञान-विज्ञान का अर्जन किया है उसे प्राप्त करना बालक के लिए आवश्यक समझा जाता है। अतएव देश के कुछ पंडित एक जगह बैठ कर इस ज्ञान-विज्ञान का वर्गीकरण करते हैं। इसी वर्गीकरण के फलस्वरूप इतिहास, भूगोल, गणित, रसायनशास्त्र आदि-आदि भिन्न-भिन्न विषयों की एक सूची तैयार हो जाती है। यही सूची पाठ्य विषय के नाम से पुकारी जाती है। पाठ्यक्रम में दिए हुए विषयों का ज्ञान सूत्रों के रूप में बालक के मस्तिष्क के विकास के लिए, उसे सभ्य नागरिक बनाने के लिए, आवश्यक समझा जाता है। यह पाठ्यक्रम सबके लिए समान होता है।

यही सबके लिए समान पाठ्यक्रम ही इस प्रचलित शिक्षा-प्रणाली की रीढ़ है। प्रान्त भर के सहस्रों लाखों विद्यार्थियों के लिए एक ही प्रकार का पाठ्यक्रम तैयार किया जाता है। विद्यार्थियों के विभिन्न वातावरण एवं

उनके संस्कारों और परिस्थितियों की विभिन्नता की ओर से आँख बन्द कर एक ऐसी मशीन-पद्धति उपस्थित की जाती है जिसमें होकर देश-भर के सभी बच्चों को गुजरना पड़ता है। पाठ्यक्रम मानों एक साँचा है जिसमें विद्यार्थियों को ढाला जाता है। इस प्रकार की ढलाई में विद्यार्थियों के अंगों को किस बेहूदे ढँग से तोड़ा-मरोड़ा जा रहा है एवं उनकी प्राकृतिक शक्तियों और आकृतियों को विकृत किया जा रहा है, इसको समझने की चेष्टा नहीं की जाती। यंत्र-प्रधान इस युग में पाठ्यक्रम की इसी मशीन की कल्पना सम्भव थी। पाठ्यक्रम के बन जाने पर शिक्षा के कार्य के लिए पच्चीस-तीस विद्यार्थियों की एक कक्षा को इकाई मान लिया जाता है भिन्न-भिन्न संस्कारों और परिस्थितियों वाले इन अनेक बच्चों को एक ही स्थान पर एकत्र किया जाता है और उनके लिए एक ही पाठ्यक्रम की जब योजना होती है तो मानो कारखानों का ही आदर्श यहाँ भी लागू किया जाता है। प्रचलित शिक्षा का यह पहलू नितान्त अमनोवैज्ञानिक है। पाठ्यक्रम और कक्षा के इस अभिन्न और समरस वातावरण में व्यक्तित्व के स्वतंत्र विकास की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती है। यही प्रचलित शिक्षा-पद्धति का सबसे बड़ा दोष है। शिक्षा की जो योजना व्यक्तित्व के विकास के लिए बालकों के संस्कार और परिस्थिति की विभिन्नता के तथ्य को स्वीकार नहीं करती उसे मनोवैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। इस पद्धति से बालकों की प्राकृतिक शक्तियों का समग्र; सर्वांगीण, विकास नहीं हो सकता।

यह पाठ्यक्रम भी बहुत ही सदोष है। इसमें उन व्यापारों और घटनाओं को स्थान नहीं दिया जाता जो प्रतिदिन, प्रतिक्षण बालक के घर और पड़ौस में उनके चारों ओर घटित होती रहती हैं। बालक के जीवन में इनका बड़ा महत्व है। यह निश्चित है कि इन्हीं घटनाओं और व्यापारों के संसर्ग से वह संसार का ज्ञान प्राप्त करता है और उन्हीं का माध्यम प्राप्त कर उसकी सहजात प्रवृत्तियों एवं स्वाभाविक शक्तियों का विकास होता है।

अधिक सत्य तो यह है कि बालक का छोटा सा संसार इन्हीं घटनाओं और व्यापारों द्वारा निर्मित होता है। अतएव यह निश्चित है कि किसी भी पाठ्यक्रम से इन महत्वपूर्ण प्रेरक शक्तियों का बहिष्कार बालक के प्राकृतिक विकास एवं उठान के लिए घातक सिद्ध होगा। फिर भी वर्तमान पाठ्यक्रम से इनका पूर्णतः बहिष्कार किया गया है। फल यह होता है कि शिक्षालय में पहुँच कर बालक अपने को एक सर्वथा नवीन वातावरण और नवीन संसार में पाता है। वहाँ सभी कुछ उसके लिए नवीन ही होता है—नवीन, विचित्र, शुष्क और नीरस। इस सर्वथा नवीन जगत् की सर्वथा विभिन्न घटनाओं और क्रियाओं से वह किसी प्रकार का आह्लादकर सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाता। यहाँ वह अपने को अपरिचित अनुभव करता है। अतएव इस संसार में आकर यदि वह गूंगा बन जाता है, चुप रहता है, उसकी प्राकृतिक शक्तियाँ यदि जंग खाकर बेकार हो जाती हैं तो किसी को आश्चर्य नहीं करना चाहिए। स्कूल के इस सर्वथा नवीन एवं विचित्र जगत से निकला हुआ विद्यार्थी अपने को यथार्थ जगत् में खपा नहीं पाता। वह प्रतिक्षण अनुभव करता है कि उसकी स्कूली दुनिया ने उसे ऐसा कुछ भी नहीं दिया है जिससे यथार्थ जीवन और यथार्थ जगत् की समस्याओं को वह हल कर सके।

इस पाठ्यक्रम में दूसरी खटकने वाली बात है उसकी निष्क्रियता। हाथ के काम का पूर्ण रूप से बहिष्कार करके दूसरों के अनुभवों की पुस्तकों के माध्यम द्वारा बच्चों के मस्तिष्क में भर देना ही इस पद्धति का उद्देश्य है। शिक्षा की इस निष्क्रिय प्रणाली में बालक किसी भी प्रकार का सक्रिय भाग नहीं ले पाता। वह केवल एक मौन श्रोता है, एक रिक्त पात्र, जिसमें विद्या रूपी जल भर देना ही हमारे कर्तव्य की इतिश्री है। दूसरों का अनुभव केवल कुछ पारिभाषिक शब्दों के रूप में, वह हृदयंगम करता है। तथ्य और सत्य को वह स्वयं प्रयोग की कसौटी पर कस कर अपनावे—ऐसा करने का उसे अवसर नहीं दिया जाता। उसे एक निश्चित स्थान पर

चुपचाप बैठकर पुस्तक पढ़ने के लिए कहा जाता है। यह वास्तव में बालक की सहजात प्रवृत्तियों पर भीषण कुठाराघात है। बच्चा तो स्वभाव से ही चञ्चल और जिज्ञासु होता है। वह अपने आस पास की वस्तुओं को तोड़ना-फोड़ना और फिर से बनाना चाहता है। यह तोड़ना-फोड़ना, यह निर्माण, उसकी सहजात प्रवृत्ति ही है। वह अपने को प्रकट करना चाहता है। वह चाहता है कुछ कहना, कुछ पूछना, कुछ समझना, कुछ करना। भावी अन्वेषक, आविष्कारक, उसमें छिपा हुआ है। शिक्षा की मनोवैज्ञानिक पद्धति वही है जिसमें अधिक से अधिक अवसर बालक को उसकी जिज्ञासा-तृप्ति और आत्माभिव्यक्ति के लिए मिले। मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि शिशु के विकास में मानव जाति के विकास की पुनरावृत्ति होती है। मानव जाति ने प्रयत्न और भूल-संशोधन की पद्धति (Trial and error) से ही ज्ञानार्जन की भी यही सर्वोत्तम प्रणाली है। शिक्षा की प्रचलित निष्क्रिय पद्धति में इसकी तनिक भी गुंजाइश नहीं है, यह हम देख चुके हैं। दूसरे शब्दों में, हम यह भी कह सकते हैं कि प्रयत्न और भूल-संशोधन की सक्रिय पद्धति को पाठ्यक्रम में स्थान न देने से ही प्रचलित शिक्षा-पद्धति में एक ऐसी सर्वग्रासी निष्क्रियता का जन्म हुआ है जो विद्यार्थी को लूला बनाकर ही स्कूल के बाहर भेजती है। बाहर आकर उसका एक ही काम रह जाता है समाज का पिस्सू बन कर जीवन-यापन करना। फलतः जिस समाज का वह अंग है उसे निर्बल और निःशक्त कर, एकान्त खोखला करके, पतन के कगारे पर एक साधारण धक्के की प्रतीक्षा करने के लिए खड़ा छोड़ देने के अतिरिक्त उसके पास दूसरा चारा नहीं रह जाता।

पाठ्यक्रम में दिए हुए विषयों का परस्पर सम्बन्ध-विच्छेद वर्तमान शिक्षा-पद्धति की एक अन्य बड़ी भारी त्रुटि है। पाठ्यक्रम में दिए हुए विभिन्न विषयों को पढ़ाते समय उन्हें परस्पर सम्बन्ध करने की तनिक भी चेष्टा नहीं की जाती। सभी विषय स्वतंत्र, एक दूसरे से अलग, रहते हैं। इतिहास का कोई सम्बन्ध भाषा से और भाषा का कोई सम्बन्ध नागरिक

शास्त्र से नहीं है। इतना ही नहीं, जिन विषयों का स्वाभाविक रूप से ही बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है उनकी शिक्षा में भी समन्वय का कोई ध्यान नहीं रक्खा जाता। व्याकरण साहित्य का ही एक अंग है। उससे अलग होकर न तो उसकी कोई सत्ता ही है और न आवश्यकता ही। लेकिन वर्तमान पाठ्यक्रम में व्याकरण भी साहित्य से अलग एक स्वतंत्र विषय है। यही हालत इतिहास और भूगोल एवं गणित और ज्यामिति आदि अन्य विषयों की है। यह दृष्टिकोण ही गलत है। बालक का मस्तिष्क छोटी-छोटी टुकड़ियों में विभक्त नहीं होता। वह अपने आप में सम्पूर्ण और समग्र होता है। अतएव उसके सर्वांगीण विकास के लिए उन विषयों का समन्वय आवश्यक है जिनकी शिक्षा बच्चों को दी जा रही है। इसीलिए किसी एक ही विषय को यथासम्भव सभी विषयों का केन्द्र बना लेने का सिद्धान्त आजकल के प्रगतिवादी शिक्षा शास्त्रियों द्वारा सर्वसम्मति से स्वीकृत हो चुका है।

इतना ही नहीं, प्रचलित शिक्षा-पद्धति में खेल का पढ़ाई से सर्वथा बहिष्कार कर दिया गया है। खेल-कूद और पढ़ाई-लिखाई दो एकान्त विभिन्न क्रियाएँ मान ली गई हैं जिनका परस्पर कोई भी सम्बन्ध नहीं रक्खा गया है। परन्तु मनोविज्ञान हमें बतलाता है कि खेल-कूद बालक की सहजात प्रवृत्ति है। बालक स्वभाव से ही खिलाड़ी होता है। जीवन के प्रति और संसार के प्रति जो उसका दृष्टिकोण है वह खेल-कूद का दृष्टिकोण है। यह उसके विकास के लिए आवश्यक है। इसीलिए प्रकृति ने उसे खिलाड़ी बनाया है। खेल-कूद की यह प्रवृति पशुओं के बच्चों तक में दिखाई देती है। इसीलिए फ्रूबेल ने बालक की शिक्षा के लिए खेलों के उपयोग पर बड़ा जोर दिया है। मान्टेसरी तथा किन्डरगार्टेन पद्धतियों में भी बालक की इसी प्रवृति का उपयोग किया गया है। परन्तु इसके ठीक विपरीत हमारी प्रचलित शिक्षा-पद्धति बालक के इस सहज स्वभाव पर शासन और अनुशासन का अंकुश रख कर उसे गम्भीर बौद्धिक ज्ञान देने

की मनोवैज्ञानिक योजना उपस्थित करती है। इस पद्धति में अध्यापक का सबसे बड़ा कर्तव्य यही होता है कि वह शिक्षा-मन्दिर के गम्भीर वातावरण को खेल-कूद की चंचलता से नष्ट होने से बचावे। अध्यापक के इस प्रयत्न की, बालक की सहजात प्रवृत्ति की इस हत्या को, अनुशासन (discipline) के नाम से पुकारा जाता है। इस अनुशासन का प्रचलित शिक्षा-पद्धति में बड़ा बोलबाला है। बालक से कहा जाता है कि वह कक्षा में एक विशेष ढंग से ही बैठे-उठे बोले, चले, फिरे आदि। जोर से बोलने की उसे मनाही है। चंचल होने की उसे शपथ है। बेंत और तमाचे के जोर से अध्यापक अपने शासन को ठीक रखता है। दमन उसका मूलमंत्र है। दमन का यह चक्र स्कूलों में बराबर चलता रहता है। इस वातावरण में स्वतंत्र भाव-प्रकाशन और आत्माभिव्यक्ति की तनिक भी गुंजायश नहीं है। [illegible] के एक शिक्षा-शास्त्री, चिजेक ने इस प्रकार की आत्माभिव्यक्ति पर बड़ा जोर दिया है। उसका कथन है कि आत्माभिव्यक्ति अर्थात् बालक के व्यक्तित्व का स्वतंत्र विकास ही शिक्षा का ध्येय होना चाहिए। डिवी कहता है—"संसार का समस्त ज्ञान प्राप्त करके भी यदि बालक अपने व्यक्तित्व को खो दे तो इससे बढ़कर दुखद घटना उसके लिए दूसरी नहीं हो सकती।" अतएव वही पद्धति उत्तम है जो बालक को उसके व्यक्तित्व के सहज विकास का अधिकाधिक अवसर प्रदान करे। आत्माभिव्यक्ति की इस कसौटी पर हमारी प्रचलित शिक्षा-पद्धति खरी नहीं उतरती। खरी तो क्या, उससे अधिक खोटी पद्धति की कल्पना ही असम्भव है।

बालक के दृष्टिकोण से जो बात सबसे अधिक खटकने वाली है वह पाठ्यक्रम के विषयों की ओर से उसकी घोर उदासीनता है। इस उदासीनता का कारण है लक्ष्यहीनता। बालक को जो ज्ञान दिया जाता है उसका उद्देश्य उसे ज्ञात नहीं। उसकी सहज प्रवृत्तियों की अवहेलना करके जो पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया गया है उसमें उसकी रुचि का न होना स्वाभाविक है। फलतः बालक स्कूल में सब कुछ यंत्रवत सीखता है। ज्ञानार्जन की क्रिया उसके लिए

सर्वथानिरुद्देश्य कर्म है। अपनी ओर से उसकी कोई कामना, कोई प्रवृत्ति, कोई माँग नहीं है। यही कारण है कि वर्तमान शिक्षालयों में विद्यार्थियों का अवधान प्राप्त करने की समस्या अध्यापक की सबसे बड़ी कठिनाई बन कर रह गई है।

इन सारी बातों का परिणाम यह होता है कि बालक ठोस घटनाओं और व्यापारों एवं अति परिचित बन्धु-बान्धवों के अपने छोटे से संसार से, जिसकी परिधि कठिनता से दो-चार मील की होती है, निकल कर वर्गीकृत तथ्यों, सूत्रों और नियमों के एक ऐसे संसार में पहुंच जाता है जिसका कहीं ओर-छोर उसे दृष्टिगोचर नहीं होता और जो इस पृथ्वी की समस्त जातियों के इतिहास एवं मानव जाति के युगयुगान्तर के ज्ञान-विज्ञान से ही सीमित न होकर आकाश-गंगा और सौर-मंडल तक को घेरे रहता है। हतबुद्धि, चकित, विमूढ़ होकर वह इस व्यापक विश्व को देखता है। अभिभूत होकर तथ्यों और नियमों के इस प्रपंच में अपने नन्हें से व्यक्तित्व को खो देता है। वह देखता है कि इस विश्व में जो कुछ भी हो रहा है सो सब उसी के लिए हो रहा है; परन्तु फिर भी वह इस हलचल का केन्द्र नहीं है। इस संसार में पुस्तक का, पाठ्यक्रम का, सभी का महत्व है। यदि किसी का महत्व नहीं है तो केवल उसी का नहीं है जिसके लिए यह सारी हलचल है।

: १५ :

प्रजातंत्र और भारतवर्ष

विकट गर्जना के रूप में आवाज़ करने वाली संसार के प्राणियों की अनेक जीवन-समस्याओं में से एक बहुत बड़ी, शायद सबसे बड़ी, समस्या शासन के स्वरूप की है। समय के प्रभाव से भारतवर्ष भी इस समस्या से बचा नहीं रह सका है। वह भी इससे घोर रूप से आक्रान्त रहा है और अब भी है। भारत में वे दिन अब योजनों दूर चले गए जब प्रजा के सर्वसाधारण को शासन और शासनाधिकारियों के विषय में सोचने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी, जब तंत्र चाहे किसी नाम का भी हो परन्तु वास्तविक राज्य मनुष्य का नहीं बल्कि धर्म का होता था और जब इसीलिए हर कोई हर प्रकार से सुखी व समृद्ध रहता था।

शासन-सम्बन्धी यह समस्या प्रजा की है, शासक की नहीं, क्योंकि समस्याओं का सम्बन्ध बाधाओं से होता है। जब प्रजा के सुखपूर्ण जीवन-निर्वाह में शासन की ओर से, अथवा शासन की अक्षमता के कारण, बाधाएँ उत्पन्न होने लगती हैं तभी प्रजा यह सोचने को बाध्य होती है कि उसे कैसा शासन चाहिए। प्रजा की इस समस्या के परिणामस्वरूप बाद में शासक की शासन-सम्बन्धी यह समस्या बनती है कि वह अपनी निरंकुश शक्ति और अधिकारों तथा स्वेच्छाचार को अधिक से अधिक अक्षुण्ण रखने के लिए किस प्रकार प्रजा को बहका सके अथवा उसे पददलित रख सके।

वैसे तो संसार के इतिहास में प्रजातंत्र एक सुपरिचित वस्तु है, कोई नई नहीं। ग्रीस और रोम के पुराने प्रजातंत्र लोकविदित हैं और भारतवर्ष में भी समय-समय पर छोटे-बड़े प्रजातंत्र रहे हैं। परन्तु शासन की समस्या के साथ जुड़ कर प्रजातंत्र की जिज्ञासा बिलकुल आधुनिक चीज़ है, जिसका उदय पाश्चात्य देशों से हुआ है। इस जिज्ञासा में दो प्रश्न प्रधान रूप से

उपस्थित होते हैं—(१) प्रजातंत्र का स्वरूप क्या है और (२) क्या वह प्रजाहित की दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त है ?

अंग्रेजी मे प्रजातंत्र या लोकतंत्र को "डेमोक्रैसी" (democracy) कहते हैं। यह शब्द ग्रीक भाषा के दो शब्द डेमोस (demos) अर्थात् जनता या प्रजा तथा क्रेतीन (cratien) अर्थात् 'शासन करना' के योग से बना है। इस प्रकार लोकतंत्र या डेमोक्रेसी की परिभाषा बनती है- government of the people for the people by the people अर्थात् वह शासन जो जनता के हित के लिए जनता द्वारा ही किया जाए। इसके द्वारा जनता की इच्छा के अनुसार ही शासक-संस्था का निर्माण होता है और शासन-कर्म की सुचारुता के लिए यह संस्था जनता के प्रति उत्तरदायिनी होती है। यह शासक-संस्था सीधी-सादी जनता द्वारा ही निर्वाचित की जाती है या फिर जनता की निर्वाचित परिषद् या परिषदों द्वारा। इङ्गलैंड में जनता "हाउस आव् कामन्स," जनसाधारण-परिषद्, का निर्वाचन करती है और जिस निर्वाचन में जिस दल की विजय होती है उसका नेता शासक-संस्था या मंत्रिमंडल ("कैबिनेट," cabinet) की नियुक्ति करता है। यहाँ कर्तव्यों और अधिकारों का विभाग हो जाता है। जन-निर्वाचित परिषद् का काम कानून बनाना आदि होता है तथा शासन का काम उसके द्वारा नियुक्त मंत्रिमंडल करता है। परिषद् तथा शासक-संस्था का निर्वाचन लोकतंत्र में एक नियत अवधि के लिए होता है। उस अवधि के बाद पुनः निर्वाचन होता है। जनता को अधिकार रहता है कि यदि वह देखे कि परिषद् अपनी अवधि के भीतर स्वनिर्वाचक जनता के प्रति वाञ्छित उत्तरदायित्व का पालन नहीं कर रही है तो वह जनता उसे बहुमत से पदच्युत भी कर सकती है। लोकतंत्र की भावना में बोलने और लिखने की स्वतन्त्रता, एक दूसरे से मिलने-जुलने की स्वतंत्रता तथा अधिकारियों के हस्तक्षेप की ओर से निश्चिन्तता आदि सिद्धान्त-रूप से निहित रहती हैं। सारांश यह कि जिन-जिन उपायों द्वारा

पारस्परिक विचार-विनिमय और पारस्परिक सहयोग का क्रम अधिक-से-अधिक देशव्यापक हो सकता है उन सब उपायों तथा साधनों को प्रतिफलित होने के लिए प्रजातंत्र मे पूर्ण स्वाधीनता रहनी चाहिए। चूँकि सार्वजनिक हित के प्रश्नों पर देश के प्रमुख व्यक्तियों में प्रायः मतभेद हो सकता है अतः निर्वाचन के इच्छुक या, सिद्धान्तदृष्टि से जनहित के इच्छुक प्रमुख व्यक्तियों के प्रायः एक से अधिक विरोधी दल निर्वाचन के समय पैदा हो जाया करते हैं जो निर्वाचन प्राप्त करने के लिए दूसरों को अपने मत के अनुकूल बनाने के तरह-तरह के उपायों को काम में लाते हैं।

सिद्धान्त की दृष्टि से लोकतंत्रात्मक शासनव्यवस्था आदर्श है, क्योंकि शासन का आदर्श यदि प्रजाहित है तो जब प्रजा ही अपने शासन की व्यवस्था स्वयं करेगी तब स्वभावतः ही सर्वहित एक सिद्ध वस्तु बन जानी चाहिए। लोकतंत्र-संस्था में प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार समान होते हैं, उसमें कोई छोटा-बड़ा नहीं होता और इसलिए उसमें आपसी समझौते तथा पारस्परिक हित का भाव रहता है जिससे विवेक की वृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। लोकतंत्र में हम नागरिकता के तत्वों को व्यापक रूप में संवर्धन करते हैं। प्रजा का पैसा प्रजा के ही कामों में खर्च होता है, क्योंकि उसे खर्च करने वाले प्रजा के ही प्रतिनिधि होते हैं। इस प्रकार प्रजा शासन में सार्वजनिक शिक्षा को भी परम उपयोगी रूप में व्यापक बनाया जा सकता है और जातीय स्वास्थ्य के हित में चिकित्सादि का प्रबन्ध भी ग़रीब और अमीर सबके लिए समान रूप से सुलभ हो सकता है। ग़रीबों के भोजन की व्यवस्था तो प्रजातन्त्र का सर्वप्रथम कर्तव्य होगा। प्रजातंत्र में किसी को भी साधन-हीनता के कारण व्यवसाय तथा कम-से-कम उदरपोषण-लायक आमदनी का अभाव नहीं देखना होगा। इसके विपरीत प्रत्येक व्यक्ति को अवसर रहेगा कि वह अपनी समस्त शारीरिक तथा मानसिक शक्ति का देशहित तथा अपने सुखसाधन के लिए अधिक-से-अधिक उपयोग कर सके और उन्हें पूर्ण विकास में ला सके।

इस सबके परिणाम से प्रजातंत्र-राज्य में एक अपूर्व जातीय चरित्र का विकास हो सकता है। प्रजातन्त्र-राज्य की प्रजा पूर्णतः आत्मनिर्भर होगी, उसमे आत्मविश्वास और आत्मगौरव होगा। छोटे या बड़े का भेद न होने के कारण वह आत्महीनता (inferiority complex) की भावना से एकदम निर्मुक्त होगी और मनुष्यता को ऊँचा उठाने वाली होगी। उसमें निष्कपट शुद्ध देशप्रेम की प्रतिष्ठा होगी और अपनी चारित्रिक विशालता की शिक्षा में वह केवल निरर्थक प्रमाद के वशीभूत होकर दूसरी जातियों या दूसरे देशों के लिए उद्वेगकर नही होगी। एक श्रेष्ठ और आदर्श प्रजातंत्र से लोक-कल्याण के चतुर्दिक् प्रसार की भी फलवती आशा की जा सकेगी। अच्छे प्रजातंत्र से जिस वातावरण और वायुमंडल का निर्माण होगा वह शेष जगत के लिए भी आशा, विश्वास और जीवन की सुख-शान्ति का विकिरण करने वाला होगा।

परन्तु, इतना सब होते हुए भी, सिद्धान्त की ही दृष्टि से प्रजातंत्र-प्रणाली में अनेक दोष भी हैं जो उसे अनेक अवस्थाओं में अप्रयोज्य और किसी अंश तक असम्भव-सी बना देते हैं। जो कुछ भी चमकता है वह सब सोना ही नही होता; इस आशय की अंग्रेजी भाषा की एक प्रसिद्ध कहावत है - All that glitters is not gold. प्रजातंत्र-प्रणाली भी, देखने में अति मनोहर और आदर्श मालूम होती हुई भी, अनेक विरूपताओं से दूषित हो जाती है। प्रजातंत्र की शासकसंस्था का निर्माण प्रजामात्र के निर्वाचन-मताधिकार द्वारा होता है। परन्तु प्रजामात्र, अर्थात जनसाधारण का प्रत्येक व्यक्ति एक-सी बुद्धि, एक-सी समझ, का नहीं होता। उसके अधिकांश व्यक्ति तो मूर्ख ही होते हैं —majority consists of fools. बहुत से तो यह भी नहीं समझते कि शासन क्या वस्तु है उनके अधिकार क्या वस्तु हैं यहाँ तक कि भोजन-वस्त्र की पाशव आवश्यकताओं के अतिरिक्त उनकी अन्य अर्थात् सांस्कृतिक, सामाजिक और विकासोन्मुखी आवश्यकताएँ क्या हो सकती हैं, इसका

भी उन्हें ज्ञान नहीं होता। यही लोग जब अपने शासकों का निर्वाचन करेंगे तो क्या यह सम्भव हो सकता है कि वे उचित व्यक्तियों को ही निर्वाचित करें। शासक में योग्यता आदि के जो गुण होने चाहिएँ क्या वे उनका निर्णय कर सकते हैं, और क्या वे जान सकते हैं कि अमुक व्यक्ति में अमुक-अमुक गुणदोष हैं। तब इसका स्वाभाविक परिणाम यही होना चाहिए कि आत्मप्रचार में समर्थ धूर्त स्वार्थी लोग ही अधिकतर सीधी-सादी अबोध जनता को बहका-फुसला कर स्वपक्ष में उसके मत ग्रहण करलें और उसके शासक बन बैठें। यह सही है कि जो लोग लोकसेवा द्वारा अपने को लोकप्रिय बना लेंगे उनको ही इस प्रकार के निर्वाचन में सफलता मिलने की अधिक सम्भावना रहेगी। परन्तु सच्चे निष्कपट आत्मत्यागी लोकसेवक प्रायः कम ही मिलते हैं, अधिकतर ढोंगी और लोकसेवा का मिथ्या ढोल पीटने वाले लोग ही हुआ करते हैं जिनके मोटे-मोटे नामों से साधारण जनता अभिभूत हुई रहती है।

इसके अतिरिक्त ऊपर बताई गई परिस्थितियों के कारण, प्रजातंत्रात्मक निर्वाचन-प्रणालियों में दलबन्दियों का हो जाना बड़ा स्वाभाविक है। दलबन्दी शक्ति के संगठन के रूप को विकसित करती है अवश्य;परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि यह संगठन सदा सदुद्देश्यों के हित में ही होगा। दो या अधिक दलों में जो भी दल, चाहे वह कितना ही दुष्ट और निकृष्ट क्यों न हो, अपने संगठन में अधिक शक्तिशाली हो जाएगा वही शासक बन जाएगा और फिर, एक बार ही नहीं, बार-बार निर्वाचनों को यथासम्भव अधिकृत करता रहेगा, जैसा कि आज कल के कई-एक विश्वविद्यालयों के अथवा सरकारों के चुनावों में देखा जाता है। इस दलबन्दी में यह होता है कि किसी दल के शक्ति प्राप्त हो जाने पर बहुत-से ऐसे क्षुद्र स्वार्थों वाले व्यक्ति भी, जो उस दल के सिद्धान्तों पर न तो विश्वास ही करते हैं और न आचरण, अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिए उसमें आ मिलते हैं। यह सर्वविदित बात है कि हमारे देश में कांग्रेस के अभ्युदय के अवसरों पर उसमें

प्रायः इस प्रकार के लोग आ मिले हैं जिन्होंने पहले या पीछे कभी भी कांग्रेस के सिद्धान्तों का पालन नहीं किया और जिन्होंने देश के नाम पर कभी एक फूटी कौड़ी का भी त्याग नहीं किया। परन्तु उचित अवसरों पर ऐसे लोगों के कांग्रेसी बन कर भरपूर लाभ उठा लिया है। वस्तुतः यदि केवल योग्य व्यक्तियों के ही निर्वाचन की बात हो तो दलों की सम्भावना ही न होनी चाहिए और निर्वाचनेच्छुक व्यक्तियों को आत्मविज्ञापन के साथ साथ और भी विविध प्रकार के उचित-अनुचित उपायों का आलम्बन करने की आवश्यकता ही न पड़े। परन्तु यथार्थ में होता यह है कि निर्वाच्य व्यक्ति प्रायः अपने अनुकूल मत संग्रह करने के लिए सर्वसामान्य लोगों को झूट बोल कर बहकाते-फुसलाते ही नहीं, वे अवसर और पात्र देख कर कभी किसी को रिश्वत देकर उसकी वोट खरीदते हैं, कभी और किसी प्रकार के प्रलोभन लोगों को देते हैं, कभी धौंस दिखाते हैं, और कभी तो बल प्रयोग तक कर बैठते हैं। जब इस प्रकार की वोटों से निर्वाचित होकर शासक-संस्था का निर्माण होता है तो क्या तो उन वोटों का मूल्य है और क्या उनके द्वारा निर्वाचित शासकों का! और, जब इस प्रकार के पाखंडी लोग शासक के सिंहासन पर बैठ कर शासन-कार्य करेंगे तो क्या वे प्रजाहित और देशहित के सुनहरी आदर्शों का पालन करेंगे। वे उत्तरदायी ही किसके प्रति हैं? देश की जिस प्रजा ने उन्हें निर्वाचित किया है उसकी वोट का एवज़ तो उन्होंने रिश्वत या दबाव के रूप में चुका ही दिया है। अब तो देश से उन्हें लेना ही लेना है। उनका उत्तरदायित्व अब तो केवल उनके अपने स्वार्थों के प्रति है। निर्वाचन प्राप्त करने के लिए जो उद्योग उन्होंने किया था, जो पैसा उन्होंने खर्च किया था, वह तो जैसे उनके व्यापार का मूलधन था दुगना, चौगुना, दसगुना या दसहज़ारगुना करना उनका व्यावसायिक सिद्धान्त होना ही चाहिए। तब सहज ही इन लोगों के हाथों वैसी ही धाँधली, वैसे ही अन्याय और अत्याचारों का प्रसार होता है जैसा कि निरंकुश राजतंत्र के हाथों इतिहास में देखने को मिलता रहा है और जिस

से त्राण पाने के लिए ही लोकतंत्रात्मक शासन व्यवस्था की वांछनीयता का उदय हुआ है।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि आदर्श तो कोरे आदर्श ही रह जाते हैं और जिसे हम "डमोक्रैसी" या प्रजातंत्र कहते हैं वह मनुष्य की स्वार्थवृत्ति और क्रूर वासना के कारण केवल शक्तितन्त्र रह जाता है। और क्योंकि आजकल के अर्थवादी युग में शक्ति का रूप एकमात्र पैसा है अतः यह मनोहर तंत्र अन्ततः पैसा-तंत्र या पूँजी-तंत्र का रूप धारण कर लेता है। प्रजातंत्र के आदर्शों के नाम पर १६१४-१८ के युद्ध के बाद एक "राष्ट्रसंघ" (League of Nations) नाम के खिलौने की सृष्टि हुई थी। सभ्य संसार में शांति की सुचिर प्रतिष्ठा तथा कमजोर जातियों अथवा राष्ट्रों की बलवानों से सुरक्षा करने के उद्देश्य की घोषणा द्वारा इस संघ की स्थापना की गई थी। तथापि इसके निर्माण में ही हमें शक्तिशालियों की गुटबन्दी का पिशुन दिखाई दे जाता है। इस संघ के चौदह सदस्यों में से पाँच का स्थान तो शक्तिशाली राष्ट्रों (इङ्गलैंड, फ्रांस, इटली, जर्मनी और जापान) द्वारा स्थायी रूप में हथिया लिया गया था तथा शेष नौ को छोटे राष्ट्रों में से क्रमानुसार निर्वाचन द्वारा पूरित करने का विधान हुआ था। होना तो वस्तुतः यह चाहिए था कि जिन शक्तिशाली राष्ट्रों से सबसे अधिक अरक्षा का भय था अरक्षा का भय शक्तिशाली से ही हो सकता है उन्हें अस्थायी और कम से कम प्रतिनिधित्व मिलता तथा विशेष निर्णयों का अधिकार छोटे राष्ट्रों को रहता। अथवा फिर सभी राष्ट्रों का समान रूप से प्रतिनिधित्व होता। राष्ट्रसंघ के इस कूट विधान का परिणाम भी हमने देख लिया। उन्हीं पाँच शक्तिशालियों में से तीन ने निर्बलों एबीसीनिया, चीन और जेकोस्लोवेकिया को धर दबाया और इंग्लैंड तथा फ्रांस तब तक उन्हें "तरह देते" रहे जब तक कि इन तीन आक्रमणकारियों का आतंक स्वयं इंग्लैंड और फ्रांस की प्रभुता, शक्तिलिप्सा और विश्वव्यापी प्रभाव के लिए ही आशंकाप्रद न हो उठा।

एक "वाद" के रूप में प्रजातंत्रवाद का उदय भी वर्तमान युग के असंख्य "वादों" की भाँति, जैसा कि कहा जा चुका है, पाश्चात्य जगत् से ही हुआ है। यह इस युग की बढ़ती हुई स्पर्धा का प्रभाव है, जिसमें कुछ लोग दूसरों से अधिक शक्तिशाली बन कर दूसरों पर प्रभुत्व जमा लेते हैं और उन पर अत्याचार करने लगते हैं। साम्यवाद के उदय का भी यही रहस्य है; और साम्यवाद और प्रजातंत्रवाद सिद्धान्त की दृष्टि से एक-दूसरे से बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। साम्यवाद में, जब कुछ पूँजीपति आर्थिक सम्पत्ति पर एकाधिकार करके और तब अधिकांश जनता को मज़दूर और ग़ुलाम बनाकर उसकी सामान्य दैनिक आवश्यकताओं तक के लिए उसे अपना मोहताज बना लेते हैं तो जनता उनके अत्याचारों से दुखी होकर मनुष्य-मनुष्य की एकता के सिद्धान्त को व्यवहार्य बनाने का उद्योग करती है। प्रजातंत्रवाद से, जब एक व्यक्ति समस्त राजनीतिक शक्ति को अपने में संकुचित कर शेष जनता (प्रजा) की आवश्यकताओं और उसके सुखदुख की ओर से निरपेक्ष होकर अत्याचार और दुराचरण करने लगता है तो मनुष्य-मनुष्य अर्थात् राजा-प्रजा के भेद को मिटा कर प्रजा द्वारा ही शासनकर्तव्य के पालित किए जाने के सिद्धान्त पर जोर दिया जाता है। इन दोनों ही वादों में मनुष्य की सामाजिक सामूहिकता का आग्रह है जो व्यक्तिवाद का विरोधी है। पूँजीवाद और राजतंत्र के सिद्धान्त व्यक्तिवाद के सिद्धान्त हैं। व्यक्तिवाद जब अत्यन्त घोर होकर अपनी उच्छृंखलता में दुर्धर्ष हो उठा तभी, गत शताब्दी से एक के बाद एक तरह-तरह के "वादों" की एक बाढ़-सी आ पड़ी जो आज के मानव की घोर मानसिक विकलता की सूचना देती है। आज का सामान्य मानव मौजूदा पश्चिमी सभ्यता की स्पर्धाजनित जटिल परिस्थितियों में अपने निर्वाह का कोई स्वरूप और उपाय नहीं देखता और अपनी विह्वलता में भिन्न-भिन्न वादों, सिद्धान्तों और प्रयोगों को टटोलता है। जनता का अधिकांश तो पीड़ित और दलित वर्ग का है अतः मनुष्य-मनुष्य की समता का सिद्धान्त – चाहे वह समता पूँजीपति और अपूँजीपति के बीच में प्रतिष्ठित की जाए, (साम्यवाद), चाहे शासक और

शामिल के बीच में (प्रजातंत्रवाद)—उसके हृदय की विशेष अपील करता है।

तथापि तात्कालिक समस्याओं के लिए तात्कालिक उपायों को ढूँढ़ते समय हम प्रकृति को प्रायः भूल-से जाते हैं और अपनी बुद्धि को ही सर्वोपरि स्थान दे बैठते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि प्रकृति का कर्तृत्व हमारी बुद्धि के भी ऊपर रहता है। यदि देखा जाए तो हमारी बुद्धि भी प्रकृति का ही एक क्षुद्र अंश है। क्षुद्र से विशाल को पराभूत करने का उद्यम कभी सफल नहीं हो सकता प्रकृति के विधान में हम पशु भी हैं और मनुष्य भी; परन्तु पहले पशु, बाद में मनुष्य। पशु के रूप में हम व्यक्तिवादी हैं, मनुष्य के रूप में समूहवादी या समाजवादी। समूह के साथ-साथ व्यक्ति का व्यक्तित्व भी चलेगा ही, उसका सम्पूर्ण तिरोधान असम्भव है। इसलिए प्रजातंत्रवाद में भी धन और शक्ति से उत्पन्न होने वाले उन दूषणों का आगम हो जाता है जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि, किसी भी प्रकार का तंत्र हो, उसमें व्यक्तियों के व्यक्तित्व के विकास का भी पूरा स्थान रहे, स्पर्धा के लिए भी जगह रहे; परन्तु इतना स्थान नहीं कि उसमें वह व्यक्तित्व या स्पर्धा शुद्ध पशुता बन जाए। यह तभी हो सकता है जब प्रत्येक व्यक्ति की वाणी और कर्म की वहाँ तक पूर्ण स्वतंत्रता हो जहाँ तक कि वह सचमुच असामाजिक नहीं हो पड़ती तथा जब प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्वतन्त्र व्यवसाय का मार्ग खुला हो और समाज में व्यवसायों की विविधता हो।

आर्य भारत का पुराना इतिहास इस बात की सूचना देता है कि हमारे यहाँ भी लोकतन्त्रात्मक तथा गणतन्त्रात्मक प्रणालियों का समय-समय और स्थान-स्थान पर प्रयोग हुआ है। परन्तु हमारे यहाँ शासनपद्धतियों का शताब्दियों तक चलने वाली विवादजनित और विवादजनक समस्याओं का रूप कभी उदित नहीं हुआ। प्रजाओं की व्याकुल चिन्ता तथा निर्वाह-

विह्वलता के किन्हीं आन्दोलनों को हम उस समय नहीं देखते। कारण यही हो सकता है कि उस समय जीवन को सफल और सुफल बनाने वाली अभीप्सित स्वतन्त्रताएँ लोगों को उपलब्ध रही होंगी—केवल लोकतन्त्र या गणतन्त्र में ही नहीं, राजतन्त्र में भी। यही उस ज़माने में शासनविधि-सम्बन्धी आन्दोलनों के अभाव का रहस्य है। सामाजिक रूप में वाणी और कर्म की स्वतन्त्रता का एक प्रबल दृष्टान्त तो हमें किसी प्रागैतिहासिक युग के राम-राज्य में ही मिल जाता है जिसकी निरन्तर चर्चा भारतीय जीवन को आदर्श प्रदान करती रही है। परन्तु व्यवसायों की कमी तो शायद मुसलिम-युग तक में नहीं रही थी। यदि कहा जाए कि अधिकांश जनता तो कृषि-जीवी ही रही होगी तो भी अपना नाज पैदा करके और अपना कपड़ा बुन कर वह सुखपूर्वक अपना पेट भर लेती होगी और अपना शरीर ढक लेती होगी, कृषि की सुगमता में वह घी-दूध भी खा लेती होगी; तथा बचे हुए उत्पादन को अकृषिजीवियों को देकर दो-चार पैसे भी घर में रख लेती होगी। सुन्दर स्वास्थ्य और थोड़ी-सी भी सम्पत्ति का सन्तोषसुख क्या आज कल के दो-चार सौ रुपया पाने वाले वेतनभोगी लोगों को भी मयस्सर है। आज कृषि भी हमारा व्यवसाय नहीं रह गया है, उत्पादन पर हमारा अधिकार नहीं है, उसकी महँगाई-सस्ताई का नियम न दूसरों—चाहे वे देशी हों या विदेशी—के स्वार्थों (पाशव व्यक्तिवाद) द्वारा होता है। आज भारत में पढ़े-लिखों के लिए दफ्तरों की नौकरी करने और बे-पढ़ों के लिए शूद्र वृत्ति की चाकरी को छोड़ कर साधारण जनता के पास क्या व्यवसाय रह गया है। गान्धी जी के खादी-चर्खा-आन्दोलन में भारत की व्यवसाय विहीन तथा असहाय जनता की व्यवसायिक समस्या का शायद कुछ सुझाव तो अवश्य था।

भारतवर्ष के लिए प्रजातंत्रात्मक प्रणाली उपयुक्त है अथवा नहीं, इस प्रश्न का क्या उत्तर दिया जा सकता है? प्रजा को वाणी और व्यवसाय की स्वतंत्रता यदि है तो चाहे कोई भी शासनप्रणाली हो वही, भारत क्या,

किसी भी देश के लिए उपयुक्त हो सकती है। हम ऊपर देख चुके हैं कि प्राचीन भारत के राजतंत्रों तक में इस तरह की प्रणालियों के सम्बन्ध में कभी कोई विवाद नहीं उठा। परन्तु यदि अभीप्सित स्वतंत्रता और सुख-शान्ति जनता को प्राप्त नहीं है तो प्रजातंत्र द्वारा भी समस्या हल नहीं हो सकेगी। पश्चिमी प्रजातंत्रों की हालत हम देख ही रहे हैं। आधुनिक अर्थवाद और गर्दनकाट स्पर्धा के इस युग में व्यक्तिवाद का ही बोलबाला है। मनुष्य में सामाजिक पारस्परिकता का लेश नहीं रह गया है। और यह व्यक्तिवाद हम भारतवासियों में, एक हज़ार वर्ष से हमारे गुलाम रहते आने के कारण, शिरोमणि-रूप से आचूड़-पाद भरा हुआ है। तब हमारे प्रजातंत्रों के जो अधिनेता होंगे वे क्या स्वार्थी कुटिल शासकों से सर्वथा ही भिन्न आदर्श-प्रजासेवक हो सकेंगे?

तथापि ऐसा दीखता है कि भारत के लिए और दूसरा चारा भी नहीं है। हज़ार वर्ष की गुलामी के संस्कार क्या एक दिन में दूर हो सकते हैं। उन्हें पूर्णतः दूर करने और हमें पुनः मनुष्य बनने के लिए, हज़ार वर्ष नहीं तो, कुछ शताब्दियाँ तो चाहिएँ ही। ऐसी दशा में युक्ति यहीं रह जाती है कि विदेशी राजतंत्र की अपेक्षा स्वदेशी प्रजातंत्र—वह कितना ही त्रुटिपूर्ण क्यों न हो—फिर भी गनीमत है। हाँ, यदि भारतीय प्रजातंत्र आधुनिक अर्थवाद का किसी प्रकार दमन कर सकेगा तो कोरे व्यक्तिवाद को भी वह हमसे दूर कर सकेगा और सर्वसाधारण की सुखशान्ति के उद्देश्य को जल्दी और अधिक प्रभावपूर्ण ढँग से सिद्ध कर सकेगा। बहुत-से लोग कहते हैं कि आधुनिक विज्ञान की वृति ने संसार का बड़ा भारी अहित किया है। परन्तु यह मिथ्या है। वस्तुतः आधुनिक अर्थशास्त्र इस अर्थवाद के पिशाच, ने ही मनुष्य को पशु से भी अधिक पशु बना कर दूसरों को अपने से निर्बल बनाने और फिर उनका गला काट लेने की जिघांसा हममें दृढ़ीभूत की है और अपने इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उसने आजकल के विज्ञान के घातक रूप को जन्म

देकर उसे अपना मूल्य बताया है। भारतीय प्रजातंत्र यदि इस बात को समझने की चेष्टा करेगा तभी वह प्रजा का ठीक-ठीक कल्याण कर सकेगा।

: १६ :

विज्ञान का स्वरूप और उसकी आवश्यकताएँ

विज्ञान का इतिहास सभ्यता का इतिहास है। विज्ञान का इतिहास मानवता के उदय और विकास का इतिहास है। लाखों वर्ष पहले मनुष्य भी पशुओं ही की तरह वनचारी जीव था। पशु-अवस्था से मनुष्य-अवस्था तक आने में जहाँ एक ओर प्राकृतिक विकास के तत्व उसके रूप-आकार में परिवर्तन कर रहे थे, वहीं वे उसके मन और मस्तिष्क को भी विकसित करते जाते थे। मन के विकास के साथ ही, एक प्रकार से, विज्ञान का उदय हो जाता है।

जो आदिम मनुष्य—कहिए, पाषाणयुग या उससे भी पहले का—पत्थरों के भौंडे औज़ार-आदि बनाना, आग सुलगाना, अथवा अपने भौंडे औज़ारों से वन्य पशुओं को मारना, उनकी खाल अथवा पेड़ों के छाल पत्तों से अपने शरीर को ढकना आदि कर्म सीख लेता है वह सबसे पहला वैज्ञानिक है, यद्यपि वह स्वयं अपने इस महत्व को नहीं समझता। आज के वैज्ञानिक उसके ही खोजे हुए पथ के अनुयायी हैं। आदिम मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं से प्रेरित होकर प्राकृतिक तत्वों का धीरे-धीरे ज्ञान हासिल किया, उनकी शक्तियों का लक्ष्यहीन पता लगा कर उनका उपयोग करना सीखा। यही आजकल का वैज्ञानिक भी करता है। वह भी आवश्यकताओं के वशीभूत होकर प्राकृतिक शक्तियों और तत्वों के नए-नए पते लगाता और नए-नए उपयोग सीखता है। मन के विकास के साथ-साथ आवश्य-

कताओं की उत्पत्ति होती है, उनकी पूर्ति के बाद उस पूर्ति को और सुचारु बनाने तथा नई आवश्यकताओं के आविष्कार का क्रम चलता है। यदि यह न हो तो सभ्यता और विज्ञान की प्रगति हो ही नहीं सकती। भोजन और आत्मरक्षा की मूल आवश्यकता से आगे बढ़ कर निवासस्थल, गति (गमनागमन, यातायात, वहन और वाहन, सम्वाद, अभिक्रमण आदि की आवश्यकताओं की अनुभूति होती है।

पर, यदि देखा जाए तो जितनी अधिकाधिक आवश्यकताएँ बढ़ती हुई प्रतीत होती हैं वे सब इतनी सारी नई-नई आवश्यकताएँ नहीं हैं, बल्कि आत्मरक्षा और भोजन की उन्हीं आदिम आवश्यकताओं के अधिक विस्तृत, संस्कृत अथवा विकृत अनेकानेक रूप हैं, या फिर अधिकतर प्रवृत्तियों को ही आवश्यकताओं का रूप दे दिया गया है। मानसिक विकास के साथ-साथ यह क्रिया भी स्वाभाविक है। आवश्यकताओं की पूर्ति में अधिकाधिक सुचारुता लाने का अर्थ उसमें अधिकाधिक सुख-साधकता लाना है और फलतः साधनरूप नई-नई आवश्यकताओं की उत्पत्ति होती है।

एक उदाहरण देखिए—मूल मनुष्य पशुओं की भाँति स्वयं भी आग से डर कर भागता होगा। बाद में मानसिक विकास होने पर आत्मरक्षा के लिए, दूसरे हिंस्र पशुओं को अपने से भगाने के लिए, उसने आगतत्व का आविष्कार किया होगा। पहले पत्थर से पत्थर मार कर अथवा रगड़ कर यह काम किया गया होगा। परन्तु यह कर्म इस रूप में सुखसाध्य न होने के कारण, उसके आज तक कितने नए-नए सुधार, दूसरे शब्दों में, कितनी नई-नई आवश्यकताओं की पूर्ति के उपाय किए जा चुके हैं। आजकल की "सैफ्टी-मैच" जिससे दो तीन पैसे में साठ बार एक क्षण में आग तैयार की जा सकती है, स्वयं आविष्कारों की अनेक पद्धतियों का परिणाम है। दूसरी ओर एक आवश्यकतावश अग्नि का आविष्कार हो जाने पर उससे संबद्ध अन्य कितनी नई नई आवश्यकताओं की अनुभूति तथा उनकी पूर्ति का

सिलसिला बन जाता है। भोजन बनाना, सर्दी में गर्मी पैदा करना, प्रकाश करना आदि इसी सिलसिले की कुछ अति सुपरिचित श्रेणियाँ हैं।

इससे यह पता चलता है कि अनेक प्रकार की सुखसाधना विज्ञान की पहली स्वाभाविक प्रेरणा है; और वही उसका प्राचीन और अर्वाचीन उद्देश्य है। यह बात हम अपने वर्तमान जीवन के प्रत्येक उपकरण में देख सकते हैं। कम-से-कम समय और कम-से कम शारीरिक कष्ट जिस काम में हो उसी की खोज में हम सदैव लगे रहते हैं। इसका सुखसाधकता के अतिरिक्त एक दूसरा परिणाम यह भी होता है कि, समय और परिश्रम की बचत होने से, हम अपनी उन्हीं सीमित शारीरिक शक्तियों द्वारा अब अधिक-से-अधिक काम कर सकते हैं। जहाँ पहले सम्भवतः एक--डेढ़ घंटे तक पत्थर रगड़-रगड़ कर आग तैयार की जाती थी, वहाँ अब उतने ही समय में आग तैयार करने के अलावा अनेक भोज्य पदार्थ भी तैयार कर लिए जाते हैं। जितनी दूरी तय करने में पहले एक महीना लगता होगा उसे आजकल कुछ घंटों में ही तय करके एक महीने में अन्य सैंकड़ों काम किए जा सकते हैं। बड़े-बड़े ऊँचे भवन, जिनके ऊपर 'लिफ्ट' (lift) द्वारा क्षण भर में पहुँचा जा सकता है, चौड़ी-पक्की सड़कें, नहर, पुल, घोड़ा गाड़ी, साइकिल, रेल, मोटर, जहाज़, तार, डाक, रेडियो-आदि के द्वारा समय और परिश्रम की अत्यन्त बचत हुई है, हमारी सुख-साधना में अति-वृद्धि हुई है। परन्तु फिर भी मानों अभी इस सब उद्योग में त्रुटि बाकी है, इसलिए विज्ञान का काम भी अभी पूर्ण नहीं हुआ है।

मानसिक विकास के साथ-साथ हम जो कुछ भी हासिल करते जाते हैं, जो कुछ भी जानते जाते हैं, उससे अधिक जानने; हासिल करने की और अधिक लालसा पैदा होती जाती है। प्राप्त से असन्तुष्ट रह कर हमेशा नए प्राप्य के लिए लालायित रहना उन्नति का मूल मंत्र है। प्राप्त से प्राप्य की ओर, फिर प्राप्त से प्राप्य की ओर---यही विज्ञान और सभ्यता

की परम्परा है। प्रत्येक पिछला प्राप्त आगे के नए प्राप्य की सीढ़ी बन जाता है।

अपनी स्वाभाविक मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद जब मनुष्य में वैध जिज्ञासा का आविर्भाव हुआ। सुखसाधकता के भी मूल में जो आदि-प्रवृत्ति रहती है, वह मनुष्य की कुतूहलवृत्ति और जिज्ञासा है। सदा दिन में सूर्य और रात में चन्द्रमा निकलता है, चन्द्रमा पन्द्रह दिन दिखाई देकर पन्द्रह दिन गायब रहता है। जिन दिनों में दिखाई देता है उन दिनों में भी घटता-बढ़ता दिखाई देता है, सूर्य की भाँति समस्त नहीं। रोज़-रोज़ ये बातें देखते-देखते मनुष्य को अवश्य कुतूहल और आश्चर्य हुआ होगा। तब स्वभावतः हो खाने-पीने से निश्चिन्त हो कर वह इनको जानने के यत्न में लगा। यह उसकी स्वाभाविक जिज्ञासा का रूप था। जिज्ञासा का दूसरा प्रकार वहाँ देखने में आया जहाँ मनुष्य अपने मन से नई समस्याएँ पैदा करने लगा। ईख को कुचल कर खाँड किसने निकाली? दूध को मथ कर घी किसने पैदा किया? पानी में से बिजली की खोज किसने की? पवन के ऊपर किसने सवारी की? किसने वायु की लहरों में वाणी को दौड़ाया? मनुष्य की इसी समस्या-प्रिय जिज्ञासा ने। यदि यह उभय प्रकार की जिज्ञासा न हो तो विज्ञान का विकास और विस्तार नहीं हो सकता। पृथ्वी की बहुत-सी असभ्य जातियाँ अभी तक भी अपने भोजन और स्थान की आवश्यकता की पूर्ति से आगे नहीं बढ़ सकी हैं।

निरन्तर जिज्ञासा—हमेशा नई बातों को जानते और खोजते रहने का प्रयत्न, विज्ञान का उद्देश्य और स्वरूप है; और विज्ञान का कार्य उस समय तक पूरा नहीं कहा जा सकता जब तक कि इस अखिल विश्व और उसके संचालन के तमाम रहस्यों का पता न लग जाए। जब तक यह पृथ्वी जीवित है—क्योंकि वैज्ञानिकों का अनुमान है कि पृथ्वी भी किसी समय जीवनरहित हो जाएगी—तब तक विश्व के संबंध के सब ज्ञातव्य बातों का

पता लग सकेगा या नहीं, यह कहना कठिन है। तथापि जिज्ञासा का जारी रहना स्वाभाविक है, और जिज्ञासा से कम-से कम एक लाभ अवश्य है। वह यह कि नए-नए तथ्यों की खोज होने पर, जैसा ऊपर कहा गया है, बहुत से जीवन के कार्य सुकर हो जाते हैं। यह बात दूसरी है कि अपनी मिथ्या महत्वाकांक्षा में मनुष्य कभी कभी अपने खोजे हुए तथ्यों का बुरा उपयोग भी कर लेता है। भोजन और प्रकाश के लिए अग्नि का आविष्कार बड़ा अच्छा था, परन्तु उससे दूसरे का घर जलाना बुरा है। रसायन अथवा भौतिक विज्ञान से यदि आयुर्वेद का विकास हो तो वह नियामत है; पर अभागा मनुष्य उससे बम और बारूद भी बनाने लगा। लेकिन यह विज्ञान का दोष नहीं है। यह दोष मनुष्य की उसी अन्तर्लीन पशुता का है जिससे गठ कर वह मनुष्य बना था, पर जिसे, उठ कर भी, वह अपने से दूर नहीं कर सका।

यह स्पष्ट है कि वैज्ञानिक जिज्ञासा का मतलब असलियत की, सत्य की, खोज से है। असलियत जानने की चेष्टा में यह आवश्यक है कि विश्व में जो कुछ जैसा दृष्टिगोचर होता है उसको एकदम वैसा ही न मान कर उसकी वास्तविकता से उसके दृश्यमान स्वरूप का विभेद किया जाए। पृथ्वी स्थिर मालूम होती है, वह वास्तव में वह स्थिर नहीं है; सूर्य उगता और अस्त होता दिखाई देता है, पर सचाई यह है कि न तो वह उगता है और न अस्त होता है; पृथ्वी देखने में चपटी है और शीतल है, लेकिन यथार्थ में वह गोल है और भीतर से गरम है, आदि। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि वैज्ञानिक की सत्य-सम्बन्धी इस भावना का दार्शनिक की सत्य-भावना से कोई सम्बन्ध नहीं है। वैज्ञानिक इन्द्रियगम्य विश्व की असलियत को ही ढूँढता है, आध्यात्मिक असलियत में वह दखल नहीं देता।

इन्द्रियगम्य विषयों की गवेषणा में वैज्ञानिक प्राप्त तत्वों की तुलना

द्वारा उनके संचालक नियमों का पता लगाता है तथा उन नियमों के आधीन वैसे ही अन्य पोषक तत्त्वों का भी संग्रह कर के उन नियमों की पुष्टि करता है। ये नियम 'प्राकृतिक नियम' (laws of Nature) कहलाते हैं। इनमें प्रतिवाद नहीं हो सकता। पृथ्वी से उछाली हुई वस्तु, किसी अन्य रोधक शक्ति के न होने पर, लौटकर पृथ्वी पर ही गिरेगी; जल अपने समतल से ऊपर स्वाभाविक रूप से कभी नहीं जायगा; रगड़ से सदा गर्मी ही पैदा होगी; आदि प्राकृतिक नियम हैं, जिनका अनुसन्धान बहुत सी ऐसी तदनुकूल अवस्थाओं का अनुभव करके मनुष्य ने किया, जिनमें उसे सदैव समरूपता दिखाई दी। प्राकृतिक नियमों में जब तक समरूपता (uniformity और regularity) का उसे विश्वास नहीं हो जाता तब तक वैज्ञानिक उन्हें नियम के रूप में मानने को तैयार नहीं। संक्षेप में, पहला काम जो कि वैज्ञानिक करता है वह यह है कि वह बहुत से बिखरे हुए वस्तु-तथ्यों को यथासम्भव और यथापूर्ण रूप में प्रामाण्य बनाकर, उन्हें किसी समरूप सिद्धान्त या प्राकृतिक नियम के आधीन बनाकर, हमारे सामने रखता है। ऐसा करने में वह प्रत्येक तथ्य या तत्त्व के घटित होने की परिस्थितियों और उनके इतिहास का अध्ययन करता है। दो प्रश्न—'क्यों?' और 'कैसे?'—उसके सहचर हैं। इनका समाधान किये बगैर वह आगे नहीं बढ़ सकता। 'क्यों' के द्वारा घटित होने वाली अवस्थाओं के कारण का ज्ञान होता है, 'कैसे' के द्वारा उनकी परिस्थितियों का।

अधिकांश अवस्थाओं में मूल कारण का ज्ञान असम्भव होता है—किसी प्राकृतिक नियम का कारण मालूम नहीं किया जा सकता। वास्तव में, प्राकृतिक नियम स्वयं कारण ही होते हैं, वे किसी अन्य कारण का परिणाम नहीं होते। गुरुत्वाकर्षण का नियम (Law of gravitation) बहुत सी प्राकृतिक घटनाओं का कारण है, परन्तु स्वयं उसका कारण क्या है इसका पता नहीं। ऐसी दशा में वैज्ञानिक की जिम्मेदारी 'क्यों' की

अपेक्षा 'कैसे' के समाधान में ही अधिक रहती है। कैसे के समाधान में परिस्थितियों और घटनाओं के इतिहास का अध्ययन रहता है। इस दृष्टि से विज्ञान की गवेषणा व्याख्यात्मक नहीं, बल्कि वर्णनात्मक होती है। कारण के सम्बन्ध में इतना ही है कि विज्ञान केवल समर्थ कारण (efficient cause अथवा प्राकृतिक नियमों की खोज करता है, मूल कारण की नहीं। वैज्ञानिक कारण कोई उत्पादक कारण नहीं होता, वह केवल एक पद्धति या परम्परा का रूप होता है। 'कारण' और 'परिणाम' कही जाने वाली घटनाएँ उसी पद्धति की पहली और पिछली अवस्थाएँ होती है। इस प्रकार वैज्ञानिक कारण या 'समर्थ कारण' केवल उन परिस्थितियों तथा अवस्थाओं की समष्टि हैं जिनके उपस्थित होने पर एक विशेष प्रकार की घटना घटित होती है, और इन्हीं में वैज्ञानिक के 'कैसे' का भी उत्तर मिलता है।

समर्थ कारण नियम अथवा समरूपता आदि की छान-बीन में निश्चय को प्राप्त होने के लिए वैज्ञानिक को स्थान-स्थान पर अनुमान या कल्पना (hypothesis) से भी काम लेना पड़ता है। किसी तथ्य के विषय में सन्देह या अपूर्ण निश्चय होने पर वह सोचता है कि यदि ऐसा हुआ तो क्या होगा, यदि ऐसा न हुआ तो क्या होगा, आदि। अपनी इस प्रकार की कल्पनाओं को वह परीक्षा और प्रयोग (test and experiment) की कसौटी पर जाँचता है और प्रयोग के परिणाम में या तो अपने अनुमान को निश्चय का रूप देता है या किसी नये तथ्य या नियम का उसे पता लगता है। ऊपर दिया गया ईख को कुचलकर शक्कर बनाने का उदाहरण किसी प्रारम्भिक काल के अनुमान और प्रयोग का भी उदाहरण कहा जा सकता है।

इस सम्बन्ध में एक बात और भी ध्यान में रखने की है। मापन या निर्दिष्ट मान (measurement) वैज्ञानिक पद्धति की पहली आवश्यकता है। इसका मतलब यह है कि सही-सही तथ्यों का संकलन तथा परीक्षा और

प्रयोग आदि में द्रव्यों और शक्तियों के यथार्थ परिमाणों के ज्ञान, वैज्ञानिक के कर्तव्य में अनिवार्य हैं। इसलिए वैज्ञानिक को हर समय हर तरह सतर्क रहना पड़ता है कि कहीं कोई आनुषंगिक बात उसकी दृष्टि से रह न जाय, उसके संकलन में कोई आवश्यक तत्त्व छूट न जाय, या उसके प्रयोगों मे विभिन्न तत्त्वों के पारस्परिक सम्बन्ध मे कहीं कोई कमी या ज्यादती न हो जाय।

ऊपर लिखी बातें प्रत्येक प्रकार के वैज्ञानिक अध्ययन पर लागू होती हैं। परन्तु कहा जा चुका है कि विज्ञान का क्षेत्र उतना ही विशाल है जितना कि विश्व-मंडल। एक व्यक्ति के लिए विज्ञान की सब शाखाओं, उसके सब पहलुओं का अध्ययन सम्भव नहीं। समय-समय पर स्थान-स्थान की जीवन-परिस्थितियों, अवसरों तथा वहाँ के मनुष्यों की मानसिक प्रवृत्ति आदि के अनुसार विज्ञान के अलग-अलग रूपों का प्रारम्भिक सूत्रपात हुआ होगा। उदाहरण के लिए, आदिम अवस्था में जहाँ मनुष्य को अन्य पशुओं से आत्मरक्षा करने की अधिक आवश्यकता रही होगी वहाँ साधनरूप तरह-तरह के हथियारों, अग्नि आदि और सुरक्षित निवासालयों की मीमांसा में वह लगा होगा; जहाँ वन्य-पशु-विहीन उपजाऊ भूमि रही होगी वहाँ तरह-तरह की वनस्पतियों के ज्ञान और उनकी परीक्षाओं की ओर उसकी प्रवृत्ति हुई होगी; जहाँ पंचभूतों के एक साथ या अलग-अलग अनियमित और कष्टजनक नृत्य का उसे सामना करना पड़ा होगा वहाँ उनके स्वभाव से परिचित होने, कारण जानने और उपाय सोचने में वह लगा होगा।

इसी बात को दूसरे प्रकार से हम यों कह सकते हैं कि जिज्ञासा और सुखसाधकता के सम्मिलित प्रसार को प्रारम्भिक श्रेणी में मनुष्य को धीरे-धीरे प्राकृतिक शक्तियों, पंचभूतों, का पता लगा होगा; फिर उनके संचरण और कार्य का। पंच तत्त्वों—मिट्टी, जल, वायु, अग्नि और आकाश—का पता लगाना विधिवत् वैज्ञानिक खोज का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रारम्भिक कार्य था, जो

प्राचीन आर्यों के मस्तिष्क से हुआ था। तदुपरान्त अलग-अलग तत्वों और शक्तियों के वर्गीकरण उनके अलग-अलग एवं सम्मिलित कार्यों की गवेषणा, फिर उनके अलग-अलग और सम्मिलित प्रयोग से विज्ञान के विभिन्न वर्गों की उत्पत्ति होती है। फलतः हम भौतिक विज्ञान, रसायन-शास्त्र, प्राणि-विद्या, वनस्पति-शास्त्र, ज्योतिःशास्त्र आदि तथा इनकी अनेक शाखाओं का अलग-अलग विकास देखते हैं।

: १७ :

विश्व का एक आवारागर्द

सुना है कि "हनूज़ दिल्ली दूरस्त", और कदाचित् इसका सबसे बढ़िया अनुभव उस नवयुवक को हो रहा है जो किसी तरफ चल नहीं रहा है और रेलवे-स्टेशन के किसी अनभिनन्दनीय स्थान पर एक टूटी-सी परित्यक्ता मेज-रूपा पर, हाथ पर हाथ धरे, कुछ अधर-सा बैठा है। बैसाखी, जिसे ग्रीष्म की जलती हुई धूप में सुदूर रेलवे-स्टेशन की नियमित सैर को जाने का कभी कोई चाव नहीं रहा, उस रोज किसी निरर्थक प्रसंग से स्टेशन पहुँच जाता है और अपनी आवारागर्दी में नवागंतुक के पास जाकर दो-एक बातें करता है।

'देख रे भई, तुझे हरेक काम करना पड़ेगा और खाना-खुराक और पाँच रुपये मिल जाएंगे। मंजूर हो तो चल मेरे साथ।' बैसाखी कहता है।

'मुझे तुम चार ही रुपये, दो ही रुपये, और रोटी दे देना और मैं तुम्हारी जन्म-भर गुलामी करता रहूँगा।' युवक एक लम्बी आह खींचकर उत्तर देता है।

युवक उस रोज ही सुबह की गाड़ी से उतरा था और उसे पता नहीं था कि कहाँ जाय ? उसकी जेब में कुल दस-बारह आने पैसे थे। सामान कुछ नहीं था। शरीर पर केवल एक मैली-सी खद्दर की धोती और एक मैला-सा खद्दर का कुर्ता।

यह आश्रय-विहीन युवक मेरे पास लाया जाता है। वैसाखी मेरा पड़ोसी है और वह जानता है कि आजकल मुझे एक नौकर की कितनी बड़ी आवश्यकता है। अधिकांश नौकर रखने वालों की भाँति—और बहुत कुछ मेरी भाँति भी, क्योंकि मुझे अपने जीवन में 'मृगमुख व्याघ्रों' का पर्याप्त अनुभव करना पड़ा है--मैं नवागतुक व्यक्ति को संदिग्ध दृष्टि से देखता हूँ, और फिर उससे उसके घर-बार, माँ-बाप आदि की बात पूछता हूँ। उसकी कहानी है कि—

वह एक उच्चकुल-प्रसूत ब्राह्मणकुमार है। उसका पिता—जो संस्कृत का एक अच्छा विद्वान् था, और खाने-पीने से अच्छा था—किन्हीं परिस्थितियों के फेर में एकदम धन-सम्पत्ति-विहीन हो गया और तदनन्तर एक साल बाद ही, अपने पुत्र को पितृ-हीन कर गया। उस समय पुत्र राँची के एक विद्यालय में मध्यमा परीक्षा के लिए अध्ययन कर रहा था। परन्तु पिता के स्वर्गमन के बाद ही उसे अपना विद्याभ्यास छोड़ देना पड़ा। तब से साल भर से अधिक हुआ, वह बराबर इधर-उधर भटक रहा है—जहाँ-कहीं भी आशा की झलक दिखाई देती है। परन्तु उसे मिलती है सदा ही मृग-तृष्णिका। उसकी सम्पन्न सगी बहन भी उसे अपनी ड्योढ़ी पर नहीं आने देना चाहती कि कहीं वह कुछ माँगने न लगे। वह इतना अभागा है कि संखिया तक उसकी सहायता न कर सका; और अब वह एक

बे-पर के पत्तों की भाँति यहाँ फेंक दिया गया है—घर से हजार मील दूर—जहाँ कि कोई एक सुदूर-सम्बन्धी उसे बुला तो लेता है, पर स्टेशन पर उसकी खबर पूछने भी नहीं आता।

अवश्य ही यह सारी कथा बड़ी करुणाजनक है—विशेषतः जब कि वह बार-बार आँखों के पानी से भिगोकर सुनाई जाती है और जब कि कहने वाले की मुखाकृति भी उसके दुःख-दर्द का साक्ष्य भरती है। पूरी कहानी सुन चुकने के बाद मैं चुप रहता हूँ। मेरे सामने एक समस्या उपस्थित हो जाती है—मैं इस मनुष्य का क्या उपयोग कर सकता हूँ? इसमें तो मुझे अब सन्देह नहीं रहा कि मैं उसे एक घरेलू नौकर—अर्थात् 'पीर-बवर्ची-भिश्ती-खर'-बनाकर नहीं रख सकता हूँ। और भी किसी प्रकार का नौकर शायद उसे नहीं बना सकता; क्योंकि भिश्ती-खर आदि के अतिरिक्त और किसी प्रकार के नौकर का मासिक मूल्य पाँच रुपये से कहीं अधिक है। स्वयं अपने जीवन में कितनी ही बार जब कि किसी प्रकार की आगामी—आशंका से मैं विचलित हो उठा था, मैंने कातर बनकर ईश्वर के सामने घुटने टेके थे और कहा था, "नाथ! भले ही मुझे तुम ऊँचा न उठाओ। आसमान पर चढ़ने की मेरी कामना भी नहीं है। पर यदि तुम्हारी अत्यन्त दया हो और तुम मुझे उठाओ ही, तो हे प्रभो! मुझे नीचे मत गिराना—नीचे कभी मत गिराना।" ऊपर न उठ सकने में शायद असन्तोष का ही दुःख है, परन्तु अपनी स्थिति से गिरने की वेदना तो असह्य होती होगी। इस स्थान-परिभ्रष्ट नवागत ने अच्छे दिन देखे थे; भविष्य के कुछ हौसले भी उसके रहे होंगे। उसकी वर्तमान परिस्थिति के कलंक और अभिशाप की निष्ठुरता का उसी के सुकुमार हृदय को छोड़कर दूसरा किसका सुहृदय ठीक-ठीक अनुभव कर सकता है! संक्षिप्त का प्रयत्न ही इसका साक्षी है।

मेरी कर्मविमूढ़ता की तात्कालिक अवस्था में विशाल मानवता के तीन विशाल दिग्पाल पथ-प्रदर्शन के लिए मेरे भीतर से पुकारते हैं। मानव-

प्रेम से आतुर भावुक दल कहता है—"मुसीबत की मारी एक अभागी मानव-सन्तान के प्रति तुम्हारा, व्यावहारिक-बुद्धि ही क्यों, इस प्रकार स्वार्थी होना क्या तुम्हें मनुष्य बनाता है ? याद करो, तुम्हारे सामने भी कभी-कभी कठिनाइयाँ आई हैं और तुम्हें उस समय मिले हुए लोगों के व्यवहार से कितनी खिन्नता हुई है। फिर भी तुम कुछ भाग्यवान थे; अन्यथा, तुम सोचो कि निगल जाने के लिए उत्सुक, मुँह फाड़कर दाँत दिखाती हुई, कुबेर-पुरियों की दुर्गन्धपूर्ण गलियों में दर-दर ठुकराए जाने लिए फेंक दिया जाना क्या तुम पसन्द करते ! इस समय तुमको अवसर मिला है कि दूसरों को दिखा सको कि तुम दुनिया से क्या पाने योग्य हो।"

इसके विपरीत आजकल के सुधार-पेशा सज्जन निषेध की उँगली दिखाते हैं और अनुशासन के ढंग पर विवेक-हीन भिक्षा-दान पर भाष्य करते हुए उच्च घोष से ललकारते हैं—"दो, दो, अवश्य दो—देने को कोई मना नहीं करता। परन्तु तुम्हें क्या अधिकार है कि तुम ईश्वर की एक सन्तान को भिखमंगा बनाओ। देश में क्या अभी काफी भिखमंगे नहीं हैं ?—अधिकांश ऐसे कि जो शरीर से हट्टे-कट्टे हैं और हरामखोरी तथा परधन-तृष्णा ही जिनका एक-मात्र जीवन-लक्ष्य है। कबीर का एक पद सुनाने वाले गलिहारे महात्माओं से लगाकर राजाओं तक को खरीद सकने वाले, और विलासिता तथा पाप में उनसे भी चार कदम आगे चलने वाले, मठाधीशों तक हमने भिक्षुकवर्ग की ऐसी कलंक-परम्परा बना रखी है, जिसने देश का अधिकांश धन हड़प रखा है। ये लोग यदि इंग्लैंड, अमरीका या काले पानी भेजे जा सकें तो अपने को मनुष्यता के लिए कितना उपयोगी बना सकें। परन्तु हमारी दानशीलता ने इन्हें पशु बना रखा है और इनके द्वारा भारत जैसे सुनहरी पुण्य देश को अधोगर्त में पटक दिया है।"

बहुत ठीक ! बेशक ! क्षण-भर के लिए मुझे प्रतीत होता है कि भावुकों

के ऊपर सुधारकों का यह आक्रमण बिलकुल उचित है। परन्तु मुझे तो ये दोनों ही कोई स्पष्ट मार्ग नहीं बता सके। मैं उलटा और अधिक भ्रम में पड़ गया। मुझे स्वीकार है कि किसी विपन्न व्यक्ति को निर्ममता से ठुकरा देना पैशाचिक कर्म है। मैं यह भी मानता हूँ कि किसी की मानवता को भिक्षा-वृत्ति में भ्रष्ट करना दोगुना पैशाचिक काम है और देश-द्रोह है। भिक्षा-वृत्ति मनुष्य के अपकर्ष की चरम गति है और यदि मेरी सामर्थ्य हो तो सबसे पहले मैं इस व्याधि को देश और व्यक्ति से बहिष्कृत करा दूँ। परन्तु साथ ही क्या मैं उसके स्थान में चोरों और लुटेरों और आत्मघातकों और परघातकों की संख्या बढ़ाने के लिए भी तैयार हूँगा। सचमुच मेरी समझ में कुछ नहीं आता—कोई रास्ता मुझे नहीं दीखता। ये इतने-इतने भावुक-शिरोमणि और सुधार-धुरन्धर महानुभाव इस बच्चे की ही खातिर आपस में कोई समझौता क्यों नहीं कर लेते—मैं जानना चाहता हूँ।

इस समय एक तीसरे दिक्‌रक्षक मुझे समझाते हैं। ये व्यावहारिक सम्भाव्यता के अन्वीक्षक, आचार-पटु, दुनिया-देखे लोकर्षि हैं, जिनके पास सब समस्याओं का समाधान है, और सबके लिए सहज सान्त्वना है। सुविधा के अनुसार इनकी पैनी दृष्टि पर्दे को चीरकर आकाश के ग्रहों को खींच लाती है और उनकी युक्ति में उन लोगों के लिए लानत भरी रहती है जो भाग्य की क्रिया-प्रणाली में हस्तक्षेप करना चाहते हैं। यदि किसी व्यक्ति के भाग्य में भीख माँगना और ठोकरें खाना ही लिखा है तो मनुष्य-जात की यह शक्ति है क्या कि वह उसे सुखी बना सके? ईश्वर की इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता, और अमुक व्यक्ति का भाग्य यदि ऐसा या वैसा है तो उसका कोई कारण अवश्य है। कारण हो और कार्य न हो यह हो ही नहीं सकता।

इनका कहना भी ठीक है। और मैं सोचता हूँ कि इसका भी कोई कारण अवश्य है कि यह व्यक्ति हजार कोस से मेरे ही पास आया। और

इसका मेरे पास आना किसी अज्ञात भावी कार्य का कारण भी होगा ही। क्या वास्तव में विधि-विधान या भाग्य की ही यह भी एक क्रिया नहीं है कि दुनिया के समस्त स्थानों को छोड़ कर इस नगर के स्टेशन की एक टूटी मेज़ पर ही एक कटे हुए पतंग की भाँति बैसाखी के हाथों के लिए वह आ गिरता है ? क्या तुम्हारा सारा विज्ञान और दर्शन शास्त्र मिलकर भी उन असंख्यनाम सान्निपातिक संयोगों के रहस्य को ज़रा-सा भी समझने-समझाने की सामर्थ्य रखता है, जिनकी शक्ति-प्रेरणा से इस अकल्पित आगमन की घटना घटित हुई है। मेरा भाग्यवादियों से कोई विरोध नहीं और न किसी अन्यवादी से ही। मैं उदार भावनाओं से प्रकम्पित होता हूँ और स्वास्थ्यकर सुधार का आदर करता हूँ। भाग्य और विधि में भी मेरा पूरा विश्वास है। परन्तु किसी तरह मुझे ऐसा सन्देह होता है कि कहीं-न-कहीं कोई अति सूक्ष्म मर्म-तत्त्व इन तीनों की बुद्धि से छूट गया है। मैं कुछ भी न करूँ, ऐसा तो हो ही नहीं सकता। या तो इस नवयुवक को दुत्कार ही दूँ या उसे रख ही लूँ। दोनों ही परिस्थितियों में एक कर्म का उत्तरदायी बन जाता हूँ। भावुकों और सुधारकों ने तो मेरी कर्तव्य-बुद्धि को जगाने-भर का अनुग्रह करके अपना कर्तव्य निभा लिया; और भाग्यवादी सज्जन ने केवल उस लड़के के भाग्य का ही दृष्टिकोण अपने सामने रखकर मेरी बौद्धिक चेतना को अपनी समीक्षा का योग्य विषय नहीं समझा।

भारतवर्ष में न जाने कितनी शताब्दियों से हृदयवादियों, सुधारवादियों और भाग्यवादियों के दल आपस में लड़ते रहे हैं। और जब सबकी अवहेलना करती हुई, यह संसृति बराबर अपनी गति से चलती रही है ठीक वैसे कि वह उनसे दो हज़ार वर्ष पहले भी चलती रही थी। और, शायद इसी तरह चलती भी रहेगी। उसमें किसी के करने से न कभी कोई विशेष सुधार हुआ है, न कभी कोई विशेष बिगाड़। राज-नैतिक उलट-पुलट, जीवन-संग्राम के द्वन्द्व, और तज्जनितकी मनोवैज्ञानिक

लोक-व्यवस्था तथा पारस्परिक आचरण के समायोग आदि का निरन्तर प्रवाह—उसी को चाहो तो विधान कह लो—अनन्त काल से चलता रहा है; और इस सबके बीच में व्यक्ति भी अपना काम करता ही चलता है। यथार्थ में व्यक्ति ही, जिस पर कोई भार आकर पड़ता है, अपना सूत्रधार और अपना पथ-प्रदर्शक है। उसका अपने-आपको पथ-प्रदर्शन कहाँ तक उचित और कहाँ तक अनुचित होता है यह केवल अपेक्षा का प्रश्न है। और उस अपेक्षा का निर्णय करने की भी किसी दूसरे व्यक्ति की योग्यता नहीं है। परिणाम को देखकर हम अवश्य इस अपेक्षा का मूल्य आँकना चाहते हैं। यह भी कहाँ तक ठीक है, मैं नहीं कह सकता।

कह सकता तो मैं केवल इतना ही हूँ कि जब भिन्न-भिन्न प्रकार के वादियों से मेरा काम न चला तो मैं स्वयं आत्मवादी बन गया। मैंने उस नवागत को अपने यहाँ ठहराने का निश्चय कर लिया एक क्षुद्र कर्मकर (menial servant) या यत्किंचित्कर्मकर भृत्य की भाँति नहीं, बल्कि मेरे सहायक सचिव अथवा "उप" की भाँति, यद्यपि मैं यह अभी तक नहीं जान सका हूँ कि मुझे किस काम में उसकी सहायता की आवश्यकता थी। मैंने उससे यही कहा—"आप ब्राह्मण हैं, पढ़े-लिखे हैं, इसलिए आप यहाँ रहें और जिस किसी बात में आप हमारी सहायता कर सकें उसमें सहायता करें। फिर जब भी आपको कहीं अच्छा संयोग दिखाई दे, आप यहाँ से जा सकते हैं।"

उसका नाम कुछ था, कुछ ऐसा-वैसा ही, राका-शशि की याद दिलानेवाला-सा, जिससे विनोदित होकर मैंने अपनी ओर से उसका नामकरण कर दिया—"राकेन्दुचन्द्रशशिरजनीरंजन शर्मा।" राकेन्दु को मेरे कथन से सन्देह हुआ कि, जब कोई विशेष काम ही नहीं बतलाया है तो, महीने के अन्त में मैं उसे पाँच रुपये भी दूँगा या नहीं। और उसने इस सन्देह को वैसाखी के सामने भी रखा, और इसी सन्देह की धारणा से वह,

दिन-भर कुछ न करता हुआ भी, हर समय कुछ-न-कुछ करता ही रहता था, जिससे पाँच रुपये कमाने का अपने को अधिकारी समझ सके।

इस तरह मैंने तो अपनी समस्या को हल कर लिया, परन्तु दिग्गजों को मैं फिर भी शान्त न कर सका। अपने उपदेशों को खोया देखकर पाँच-छै रोज़ बाद उनमें से अन्तिम दो ने क्रमशः मेरी माता और मेरी पत्नी का रूप धारण किया। बात यह थी कि माता जी को "राकेन्दु . रंजन" के लिए रोटियाँ थोपनी पड़ती थीं और पत्नी को अपने पति की कमाई का बड़ा ध्यान था।

और सचमुच उन दोनों का ध्यान पक्का था। मेरे प्रथम दिन के प्रस्ताव के कारण राकेन्दु शर्मा शायद तभी से किसी अच्छे संयोग की तलाश में रहा होगा। उसके अध्यवसाय का सुफल यह हुआ कि मेरे वहाँ रहते हुए एक महीना होने से काफी पहले ही उसे एक बड़ा अच्छा संयोग मिल भी गया। एक दिन जब हम सोकर जागे तो देखा कि श्री राकापतिचन्द्रेन्दुबिम्बशशिरजनीरंजन शर्मा महोदय मकान में नहीं हैं और मकान का द्वार खुला पड़ा है। कुछ बाद में तो यह भी देखा कि, नक़द और सामान मिलाकर, लगभग डेढ़ सौ रुपये भी मकान में नहीं हैं।

कल्पना करना कठिन नहीं है कि इस घटना के बाद मेरी माता और पत्नी और घर के अन्य सब समझदार लोगों ने मुझे कैसे आड़े हाथों लिया होगा, मानो मैं ही डेढ़-सौ रुपये चुराकर घर से भाग गया होऊँ। कितनी ही देर तक मैं चुपचाप सुनाता रहा और सुनता रहा— अपराधी तो था ही ? पर फिर अन्त में बोला—" जो कुछ भी मैंने किया और जो कुछ हुआ उस पर शायद मुझे खेद है, शायद खेद नहीं है। परन्तु यह जो व्यवहार मेरे साथ किया जा रहा है उस पर निस्सन्देह मुझे प्रसन्नता नहीं है। मैंने रुपये नहीं चुराये हैं और मैंने किसी को धोखा नहीं दिया है। मैंने धोखा खाया है, जिसका मैं अभिमान तो नहीं कर

सकता, पर जिसके बारे में यह कह सकता हूँ कि यह न तो पाप है न अपराध। और शायद भविष्य में भी मैं इस तरह के और थोड़े-बहुत धोखे खाने के लिए तैयार रहूँगा यदि इससे, धोखे में ही, एक भी डूबते हुए प्राणी की रक्षा हो सके तो।"

वे लोग नहीं समझ सकते, कभी नहीं, पर वे चुप हो जाते हैं। मैं भी कुछ नहीं समझता। शायद वे और ये और मैं, हम सब, तब कुछ समझ सकेंगे जब कि लोक-हित के तीनों ठेकेदार आपस में कोई समझौता करना सीख लेंगे। रही बात आवारागर्द नवयुवक की। सो वह तो एक चिरन्तन यथार्थ है। उसने ही इस दुनिया को बनाया है। शायद कभी कोई दुनिया का पुनर्निर्माण भी कर सके—अपने कर्मों से; शब्दों से नहीं—जब हम सब स्वयं मनुष्य बनेंगे और दूसरों को भी मनुष्य समझेंगे।

: १८ :

ईश्वर और धर्म

ईश्वर सृष्टि का नियन्ता है, जिस प्रकार राजा देश का नियन्ता होता है। राजा देश के लिए आचरण-सम्बन्धी कुछ नियम बनाता है, जिन्हें 'क़ानून' कहते हैं। इनका सबको पालन करना पड़ता है। इनका पालन करना लोक-धर्म है। अखिल विश्व के राजा के भी अपने विश्व-देश के लिए कुछ क़ानून हैं। यदि हमें विश्व-राज्य में रहना है तो विश्वराट् के नियमों का पालन करना भी हमारे लिए आवश्यक हो जाता है।

विश्व-राज्य भौतिक राज्यों की अपेक्षा बहुत अधिक विशाल है, इतना

अधिक कि हम उसकी कल्पना नहीं कर सकते। भौतिक राज्यों की कल्पना के सामने यह बड़ा अद्भुत भी है। क्या एक भौतिक राज्य भी दूसरे भौतिक राज्य की अपेक्षा प्रायः अद्भुत नहीं होता? विश्व-राज्य कल्पना तक में अद्भुत है, देखने की तो कौन कहे? उसमें दृश्य और अदृश्य, भौतिक और अभौतिक, आदि अनेक प्रकार के अद्भुत-अद्भुत प्रान्त हैं। इन सबके शासन-सूत्र में कोई-न कोई सामान्य सिद्धान्त अवश्य होने चाहिए, जिनके अनुरूप बने हुए शासन-नियमों के द्वारा अनन्त काल से अखिल सृष्टि का संचालन समान ढंग से होता आ रहा है। भौतिक राज्यों मे उलट-पुलट हो जाती है, उनके नियम भी बदलते रहते हैं; परन्तु ईश्वरीय विश्व-राज्य के नियम अटल हैं। विज्ञानवादी इन्हें 'प्राकृतिक नियम' कहते हैं। विश्व-भर इन नियमों के आधीन है। भौतिक राज्यों के नियम भी विश्व-शासन के सामान्य सूत्र में जब तक इन नियमों के अनुरूप होकर चलते हैं तभी तक भौतिक राज्य और उन राज्यों की विभिन्न संस्थाएँ सुचारु रूप से चलती रहती हैं। परन्तु जब उनके नियम विश्व-शासन के नियमों के प्रतिकूल होने लगते हैं तो भौतिक राज्यों में उलट-पुलट; विप्लव, हो उठता है।

विज्ञानवादी प्रकृति को ही सर्वशक्तिमान् चरम सत्ता मानकर ईश्वर का नाम लेने की भले ही आवश्यकता न समझें परन्तु प्रकृति के दो रूपों—'परा प्रकृति' और 'अपरा प्रकृति'—को वे कैसे अस्वीकार कर सकते हैं? समस्त स्थूल, भौतिक, प्रकृति से अवान्तर जो कुछ भी सृष्टि के सम्बन्ध में हमें अनुभूति के नेत्रों से दिखाई देता है वह इस विश्व की परा प्रकृति है और यही परा प्रकृति अपरा प्रकृति का संचालन करती है। रेल,मोटर आदि का इंजन भौतिक विज्ञान की एक बड़ी ऊँची विभूति होने पर भी ड्राइवर की इच्छा से ही चलता है। ड्राइवर का, प्राणी का, शरीर भी तो उसकी इच्छा से ही चलता है।। इसलिए कुछ समझदार वैज्ञानिक स्थूल भौतिक (अपरा) प्रकृति से अन्य किसी व्यापक चिति-तत्त्व (consciousness) को भी स्वीकार करने लगे हैं। इसी चिति अथवा चित्-तत्त्व के अपेक्षाकृत

स्थूलवत् विलास में मनुष्य या प्राणि-मात्र के स्वभाव और चरित्र-तथ्य दिखाई देते हैं। 'स्थूलवत्' उन्हें कहने की इसलिए आवश्यकता पड़ती है कि भौतिक प्रकृति के साथ चिति का संयोग होने पर ही उनकी क्रीड़ा दिखाई देती है और फिर वे ही अपनी क्रीड़ा में उस संयोग की रूपरेखा का निर्माण और संचालन करते हैं। अत्यन्त भौतिक विज्ञानवादी भी चित्तत्त्व के इन विलासों का अपने भौतिक विज्ञान में कहीं समावेश नहीं कर पाए हैं।

परन्तु यह चिन्मात्र 'ब्रह्म' या 'ईश्वर' नहीं है, और न चिन्मात्र से विश्व-साम्राज्य का संचालन हो सकता है। केवल चित् अपने आचरण में जड़वत् रह जायगा और उसमें अस्थायित्व का आरोप सम्भव है। जो अस्थायी है और चेतन होता हुआ भी जड़वत् है वह इस अनन्त और अनन्त व्यास सृष्टि का संचालन कैसे कर सकता है? जो एञ्जिन-ड्राइवर जिस समय एञ्जिन में नहीं होता वह उस समय एञ्जिन का सञ्चालन नहीं कर पाता, कारण कि वह एञ्जिन में अस्थायी है। इसी भाँति एञ्जिन में रहता हुआ भी यदि वह एञ्जिन-संचालन के लिए प्रवृत्त नहीं होता तो भी एञ्जिन नहीं चलता, क्योंकि अप्रवृत्ति की दशा में वह एञ्जिन के लिए जड़वत् है। इसी प्रकार की बातें लौकिक राजाओं और सेना-संचालकों के विषय में इतिहास से सुनी गई हैं। विश्वनायक में भी, जहाँ चैतन्यगुण प्रेक्षणीय है वहाँ उसमें विश्व-व्यापी स्थिति (स्थायित्व) और प्रवृत्ति भी आवश्यक है स्थायी के रूप में वह 'सत्' है और प्रवृत्ति के रूप में 'आनन्द'। सत् वही है जिसकी सत्ता हो और वास्तविक सत्ता वही है जिसके बारे में कहीं भी, कभी भी, कोई 'असत्' या 'नास्तिक' न कह सके। और प्रवृत्ति को आनन्दमूल कहने में तो कोई सन्देह दिखाई ही नहीं देता, क्योंकि निरानन्द की दशा में प्रवृत्ति नहीं होती, इसे हम सब अपने ही दैनिक व्यापारों में देख सकते हैं। अतः सत्, चित् और आनन्द के सर्वव्यापी, सर्वकालीन अखिल तत्त्व ही विश्व के संचालक बनते हैं और इनका समाहार-रूप ही परमेश्वर – परब्रह्म है।

'परमात्मा' शब्द में जो "आत्मा" है और जिसका बोध स्थूल रूप में होता है वह अपने संस्कारों में, अर्थात् जीव संस्कारों में, सत्-रूप में भी देखने को मिलती है। ये संस्कार स्वयं सत् नहीं हैं, परन्तु उनमें जो निरन्तर प्रेरणा—प्रगति अथवा प्रवृत्ति- की सूचना मिलती है वही सत्तात्मक है। संस्कार तो जड़ हैं, क्योंकि वे परिवर्तनशील हैं और परिवर्तनशील भौतिक प्रकृति के संयोग में उनका प्रसार होता है। भौतिक प्रकृति का रूपान्तर तक इन संस्कारों में देखने को मिलता है। क्या हम नहीं जानते कि जो पदार्थ या दृश्य हमें किसी समय अच्छा लगता है वही दूसरे क्षण अच्छा नहीं लगता? मन, जो कि ससंस्कार जीवात्मा का ही रूप है और जो इस प्रकार भौतिक जगत्, में सत् चित् और आनन्द का प्रतीक है, भौतिक जगत् के परिवर्तनों में इतना प्रभाव रखता है कि तात्विकता का विकास होने पर यहाँ तक कह दिया गया है कि—'मनस एव जगत् सर्वम्' अथवा 'मन एव जगत्'। अर्थात् संसार में जो कुछ भी है मन में ही है अथवा अपने रूपान्तर में स्वयं मन ही है।। अखिल जगत् का संवेदनात्मक रूप-समाहार हमारी दस इंद्रियों में है। हमारी दस इन्द्रियाँ सृष्टि-मात्र का संवेदन रूप हैं। परन्तु इस संवेदना का निर्णय चिति बिना नहीं हो सकता, जो हमारे मन का स्वरूप है। इस प्रकार समस्त सृष्टि संवेदन बनकर मनश्चिति के आदर्श में, आदर्श ही के अनुरूप, प्रतिफलित होती है और यह प्रतिफलन आनन्द और प्रवृत्ति के रूप में व्यक्त होता है। मनस्तत्त्व सच्चिदानन्दमय ब्रह्म और भौतिक सृष्टि के बीच की शृङ्खला बनकर इसीलिए ग्यारहवीं इन्द्रिय भी कहलाता है। इन्द्रियत्व, भौतिक संवित्ति, से मुक्त होकर यह मन स्वयं जीवस्वरूप और, उससे आगे ब्रह्मस्वरूप है। जिस समय—वह समय हममें से किसी ने देखा नहीं, वह केवल सात्विक तर्क और अनुमान का विषय है—विश्व के मनस्तत्त्व की यह परिणति होती है वह समय महाप्रलय का है। सृष्टि के आरम्भ में तो ऐसा समय रहा ही होगा।

जब इस प्रकार एक बार हम सच्चिदानन्द रूप ब्रह्मसत्ता की सिद्धि कर

लेते हैं और परा-अपरा-संयोग में उसकी झलक मनस्तत्त्व के रूप में पाकर यह निश्चय करते हैं कि इस मन की सक्रियता से ही विश्व का संचालन है तो हमें यह मानने में भी विशेष अड़चन नहीं रहती कि मूलतः सच्चिदानन्द-ब्रह्म ही इस सृष्टि का संचालक है।

इस सच्चिदानन्द ब्रह्म को विश्व-शासक की प्रतिष्ठा में देखकर और उसके प्रति शासकलभ्य अपनी श्रद्धासम्भ्रम आदि की भावना को उद्दिष्ट करके उसमें व्यक्तित्व का आरोप करना हमारे लिए स्वाभाविक तो है ही, वह सहज सम्भवनीय भी है, क्योंकि मनस्तत्त्व की प्रणाली द्वारा हम उसे भौतिक व्यक्तियों—मनुष्यों, पदार्थों आदि—के रूप में सचेष्ट देखते हैं। व्यक्तियों में एक-से-एक बड़ा व्यक्ति हम अनादि काल से इस तरह देखते आए हैं कि बड़ेपन की सीमा का कभी पता ही नहीं लग सका। तब क्या किसी अति-बड़े की, जिसे हम अभी तक नहीं देख सके हैं, कल्पना बहुत दुर्बोध रह जाती है? इस कल्पना की साकारता को हमने राम और कृष्ण और ईसा और मुहम्मद में देखा है। राम और कृष्ण भी पूर्ण ब्रह्म नहीं थे, क्योंकि भौतिक शरीर के नाते वे जरा-मरण के वशीभूत हुए थे। जो सच्चिदानन्द राम और कृष्ण के व्यक्तित्व में अपना अत्यन्त रूप—या फिर मेरे और तुम्हारे व्यक्तित्व में अपना अति लघु रूप—दिखा सकता है वह व्यक्तित्व से विहीन कैसे हुआ? अपने परम रूप में भी उसका व्यक्तित्व होता ही है, जिसे हम 'परम पुरुष' या 'ईश्वर' कहते हैं। वह सिद्धान्त या तत्त्वरूप में सच्चिदानन्द है, और व्यक्तिरूप में परम पुरुष।

ईश्वर सच्चिदानन्द ब्रह्म के शासन के नियम उसके स्वभाव के अनुकूल ही होंगे। उसका स्वभाव तो, हमने देखा, वही है जो उसका नाम है—सत्, चित् और आनन्द इन तीनों का समाहार योग। भौतिक (अपरा) प्रकृति गुण-प्रधान है—सत्व, रजस् और तमस् उसके समवाय हैं। जिस प्रकार पाश्चात्य विज्ञान में एलेक्ट्रेन्स (electrons) और प्रोटोन्स (protons) के आगे, या कह लीजिए कि विद्युत्कणों (electric

charges) के आगे, भौतिक प्रकृति के मूल मे अन्य किसी सत्त्व का पता नहीं लगता उसी भाँति भारतीय विचार-परम्परा मे सत्त्व, रजस् और तमस् के आगे और कुछ नहीं है। ये गुणत्रय अपने भौतिक रूप में दृश्य नहीं हैं, परन्तु मानव-स्वभाव में ये पूर्णदृश्य हैं। भूत प्रकृति की मूलभूत यह गुणत्रयी मानव-स्वभाव मनःक्रिया—में दृग्गोचर होती हुई उसके सच्चिदानन्द रूपों का विलास बनकर मनस्तत्त्व जीव या सविकार, ब्रह्म, अर्थात् ब्रह्म—(माया या प्रकृति का हेतु भी बनती है।

त्रिगुण ही माया है। जिस प्रकार सच्चिदानन्द की शुद्धता—निर्विकारता—लय का स्वरूप बनती है उसी प्रकार त्रिगुणों की समावस्था—एक दूसरे की अपेक्षा न्यूनाधिक्य का अभाव—भी लय का कारण बनती है। यह स्पष्ट है, क्योंकि प्रत्येक दूसरे के साथ सम दशा में सन्तुलित कोई भी गुण जहाँ एक ओर स्वयं चेष्टा करने के लिए निर्बल हो पड़ता है वहीं वह दूसरे अन्य गुण को भी उसी सन्तुलितावस्था में रखता हुआ चेष्टा करने के लिए निर्बल बना देता है। इसीलिए गीता में अर्जुन से कहा गया है–"निस्त्रैगुण्यो भव।" विश्व-शासन के नियमों का लक्ष्य निस्त्रैगुण्यता है, अर्थात् शुद्ध सच्चिदानन्द रूप की प्रतिष्ठा है। सत्व, रजस् और तमस् के संयोग में आकर सच्चिदानन्द उनका अनुशासन करता हुआ उन्हें सन्तुलन में लाता रहता है। विश्व-संचालन की विशाल घटनाओं में हम इसे युद्धादिक विप्लवों के रूप में देख सकते हैं। रजोगुण और तमोगुण की अतिमात्रा हो जाने पर जब विप्लवादिक होते हैं तो गुणों के सन्तुलन की आवश्यकता से अन्त में शान्ति की प्रेरणा बलवती हो जाती है। किसी देश में अत्यन्त सुख-शान्ति होने पर वहाँ धीरे-धीरे रजोगुण का प्राधान्य होने लगता है और विलासिता आदि बढ़ जाती है और फिर प्रतिक्रिया में तामसिक गुणों की वृद्धि होती है।

और जो बात देशों, राज्यों, मनुष्य—समुदायों को भी लागू होती है वही व्यक्तियों को भी लगती है। वस्तुतः पहले वह व्यक्तियों को ही लगती है—

सभी समुदायों को भी लागू होती है। जिस तरह समुदायों में युद्धादिक होते हैं उसी प्रकार व्यक्तियों में भी लड़ाई झगड़े, चोरी आदि होते हैं, यहाँ तक कि एक ही व्यक्ति के भीतर भी लड़ाई-झगड़े, चोरी आदि (आत्म वंचना और आत्मक्षोभ) की क्रियाएँ चलती रहती हैं। व्यक्तियों में ही सत्व, रजस् और तमस् का रूप—और सत् चित् और आनन्द का रूप भी—अधिक खुलता है। इसीलिए धर्म के नियम भी मूलतः व्यक्तियों के लिए ही हैं। मजे की बात यह है कि धर्म के नियम बनाए हुए भी व्यक्तियों के ही हैं। समुदाय द्वारा इन नियमों में हेर-फेर (संशोधन) किये जाते हैं, क्योंकि समुदाय सच्चिदानन्द का अधिक व्यापक, अधिक विशाल रूप है। और समुदाय के हाथों में पड़कर नियम जब रूढ़िगत, अथवा अपने प्रयोग में एकदेशीय, होकर तमः प्रधान हो जाते हैं तो फिर कहीं कोई एक व्यक्ति ही सोचता है और उठता है, और फिर समुदाय उसके साथ हो लेता है।

त्रिगुणों में से जो रजोगुण है वही इस सृष्टि में विशेष क्रियावान् दिखाई देता है। सत्व में शान्ति के, और तमस् में आलस्य या प्रमाद के, रूप में सक्रियता का ह्रास है। जीवनाचार में रजस् की सक्रियता को इच्छा या वासना का रूप मिलता है। रजस् या वासना की इस कर्म-प्रेरणा का परिणाम अन्ततः प्रमाद या तमोगुण है। इच्छा-रूप में मन को अलोड़ित करके रजोगुण कर्म रूप में इन्द्रियों को अधिकृत करता है। रजस् पर काबू कर लेने से तमोगुण भी दबा रहेगा, और सत्वगुण एकदम निर्बल नहीं हो पड़ेगा। अतः मनः स्थित सत्वगुण रजस् और तमस् के उभार के विरुद्ध स्वाभाविक प्रतिक्रिया करता है और धर्म का उदय होता है। धर्म "धारण करने वाला" है, जिसका रहस्य त्रिगुणों की समावस्था है; उन-की अव्यवस्था नहीं। और त्रिगुणों की समावस्था मोक्ष की अवस्था है—कहना चाहो तो कह लो कि महा प्रलय की अवस्था है सच्चिदानन्द-स्थिति की अवस्था है। अतः मोक्ष ही धर्म है। लौकिक आचरण में ही इस धर्म की क्रमिक उपलब्धि होती है और उससे समाज-व्यवस्था

बनती है। "चोरी मत करो", "झूठ मत बोलो", "मन को स्थिर रखो" आदि धर्म-सिद्धांत एक ओर तो रजोनिरोध के लक्षण होते हुए सच्चिदानन्द के ध्येय के प्रेरक हैं और दूसरी ओर वे समाज के व्यवस्थापक हैं। दोनों रूप में वे एक ही हैं, क्योंकि व्यक्ति की समावस्था समाज की समावस्था का मूल है और समाज की समावस्था सच्चिदानन्द की विश्व-प्रतिष्ठा का सुगोचर रूप है। इसीलिए भौतिक संकटों में, जब कि रजस् और तमस् अत्यन्त प्रबल होते है, मनुष्य और समुदाय ईश्वर से प्रार्थना करता है। दूसरे शब्दों में, वह उसका अनुशासन चाहता है। धर्म-संकट में इस अनुशासन की माँग और अधिक बलवती हो जाती है। इसका अभिप्राय यही तो है कि व्यक्ति अपने रजस् या तमस् और समुदाय समुदाय-व्यापी रजस् या तमस् के निरोध की कोई प्रेरणा माँगता है—सच्चिदानन्द के मार्ग-प्रदर्शन की आकांक्षा करता है।

और, यह माँगने वाला, आकांक्षा करने वाला कौन है? वही सच्चिदानन्द ही तो, जो अपनी माँगने की ही क्रिया में जैसे गुणों के—भौतिक प्रकृति के समीकरण का ज़बरदस्त आदेश भी देता हो। यह हम अपने दैनिक जीवन में तथा इतिहास में देखते ही हैं कि जो लोग इस आदेश की ओर से कान बन्द कर लेते हैं उन्हें चैन नहीं मिलता और बाद में और अधिक कड़ा आदेश सुनना पड़ता है। इसीलिए सब प्रकार की सब धर्मों की उपासना-पद्धति में ईश्वर के नामों की "जय" बोली जाती है।
—जय राम जी की!

: १६ :

भारतीय नाट्य-कला

नाट्य और नाटक की भावना मनुष्यता-मात्र में समान होने के कारण नाटक का उदय सर्वत्र एक ही प्रकार से हुआ। मनुष्य-मात्र में भिन्न-भिन्न भावनाओं से प्रेरित होकर एक-दूसरे का अनुकरण करने की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। बच्चा तो अनुकरण करता ही है; बड़े लोग भी कभी किसी की हँसी उड़ाने के लिए, कभी किसी के प्रति आदर भाव से प्रेरित होकर, कभी अद्‌भुत के कौतूहल से, एक दूसरे-का अनुकरण करते हैं। कालेजों के विद्यार्थियों में अपने शिक्षकों की विडम्बनापूर्ण नकल करने की प्रेरणा प्रायः देखने में आती है। इसी भाँति किसी और भावना के वशीभूत होकर लोग राम और कृष्ण के चरित्रों का अनुकरण करने की यही प्रवृत्ति नाटक का मूल है। भरत ने कहा है—"लोकवृत्तानुकरणं नाट्यम्"। यही बात यूनान के आचार्य अरस्तू (Aristotle) ने भी कही है।

नाटक के प्रारम्भिक विकास की तमाम अवस्थाओं के अनुसरण करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। और न उसके दृश्य पक्ष की विवेचना यहाँ की जा सकती है। कहा जा सकता है—कहा जाता है कि नाटक को उसकी दृश्यता से अलग करना समीचीन नहीं है, जैसा कि 'अनुकरण' शब्द के तात्पर्य से भी स्पष्ट है। यह आपत्ति, एक प्रकार से यथार्थ है। इसका विवेचन किसी दूसरे लेख में किया जायगा।

कथोपकथन, नृत्य और संगीत नाटक के मूल तत्त्व समझे जाते हैं। कहा जाता है, इन्हीं तीन तत्त्वों ने मिलकर नाटक के रूप को जन्म दिया है। इस सिद्धान्त के आधार पर विद्वानों ने स्थिर किया है कि नाटक का बीज इन तत्त्वों के रूप में हमारे वैदिक साहित्य में ही मौजूद था। अनुकरण तो,

वास्तव में एक प्रवृत्ति है। जब मनुष्य के भीतर अनुकरण की भावना जागरित होती है तो वह इन तत्त्वों की सहायता से नाटक का अभिनय करता है। तथापि देखने में आता है कि संस्कृत के नाटकों में संगीत का, एक प्रकार से, सर्वथा अभाव है। हाँ, नृत्य के सम्बन्ध में नाट्याचार्यों ने शास्त्रार्थ किया है। परन्तु नाटकों में हम नृत्य के भी विशेष चिह्न नहीं पाते।

नाट्य-शास्त्र में नाटक के दस विभेदों का वर्णन है। उनके नाम हैं—नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अंक और ईहामृग। वस्तु (विषय या कथानक), नेता (नायक) और रस के भेद से ये विभेद उत्पन्न होते हैं। इन दस विभेदों में सबसे प्रधान और आदर्श नाटक ही है।

भारतीय नाट्य-शास्त्र में वस्तु, नेता और रस तीनों की समान रूप से मुख्यता है। तथापि, देखने से मालूम होगा कि नेता और रस वस्तु के ही आश्रित हैं। उपयुक्त वस्तु होने से उपयुक्त नेता और रस उसे अलंकृत कर सकते हैं, परन्तु वस्तु ठीक न होने से नेता और रस का साधु-प्रयोग निरर्थक है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि नेता और रस की असाधुता भी एक सुन्दर वस्तु को नष्ट कर सकती है। परन्तु नेता और रस से विहीन भी नाटक लिखा जा सकता है—हाँ, वह दूषित होगा। वस्तु के बिना नाटक की रचना ही नहीं हो सकती।

वस्तु की प्रधानता का एक कारण और भी है। वस्तु के ऊपर ही नाटक की योजना निर्भर रहती है और उसी के आधार पर नाटक की अन्तरंग विवेचना की जाती है। हमारे नाट्याचार्यों ने इस बात को स्पष्ट स्वीकार नहीं किया है; परन्तु, सम्भवतः, वह इस बात को समझते थे। दशरूपककार ने शायद इसीलिए पहले वस्तु की गणना की है और उसके अंगों तथा नाटकीय रचना-सिद्धान्तों का विवेचन किया है। तदुपरान्त

नेता और रस की विवेचना की गई है। यों कह सकते हैं कि वस्तु एक भवन या स्थूल शरीर है, रस आत्मा है और नेता शायद वाणी अथवा मन है। आत्मा से युक्त वाणी या वाणी से युक्त आत्मा के लिए वस्तु-मन्दिर अपरिहार्य है।

वस्तु दो प्रकार की है—आधिकारिक और प्रासंगिक। आधिकारिक वस्तु (main-plot) वह है जो आरम्भ से अन्त तक रहती है। प्रासंगिक वस्तु (sub plot) प्रसंगवश बीच-बीच में आधिकारिक की सहायता के लिए आ जाती है। नायक राम की कथा में सुग्रीव की कथा प्रासंगिक है।

आधिकारिक और प्रासंगिक, दोनों प्रकार की, वस्तु प्रख्यात हो सकती है, अथवा उत्पाद्य (imaginary) या फिर मिश्र। परन्तु देखने में आता है कि संस्कृत में नाटक के लिए प्राय: प्रख्यात और मिश्र वस्तुओं का ही आश्रय लिया गया है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की वस्तु प्रख्यात है, यद्यपि उसमें ' मिश्र'' का तत्त्व भी वर्तमान है। "उत्तर-रामचरित" की वस्तु मिश्र है। "मालती-माधव" में उत्पाद्य वस्तु है।

यथार्थ में एकान्त प्रख्यात वस्तु का नाटकों में मिलना कठिन है। नाटककार इतिहास , जनश्रुति अथवा पुराणों के कथानकों को लेकर कवि की हैसियत से पुन: उन्हें उपस्थित करता है, वृत्त-लेखक की भाँति नहीं। वह अपनी कल्पना को, अपनी उड़ान को, बलपूर्वक दबाकर अपने ऊपर अत्याचार क्यों करेगा ? यह स्वाभाविक ही है। अतएव प्रसिद्ध गाथाओं को काव्य के रूप में उपस्थित करके वह उनके अनेक छोटे-मोटे और स्वकर्म के लिए अनावश्यक प्रसंगों को निकाल या बदल देता है, अथवा कुछ नए प्रसंग अपनी कल्पना द्वारा उनमें जोड़ देता है।

अपनी वस्तु का निर्धारण करके नाट्यकार नाटक के लिए उसका किस प्रकार संस्कार करे, इसके सम्बन्ध में हमारे आचार्यों ने बड़ी विशद और

वैज्ञानिक विवेचना की है। नाट्यकार जब किसी वस्तु को पसन्द करता है तो वह यह भी जानता है कि वह उसमें किस बात को प्रधान रूप से दिखाना चाहता है। मान लीजिए, आप रामचरित के उत्तर भाग को अपने नाटक का आधार बनाना चाहते हैं। तब आप यह भी निर्णय कर लेते हैं कि इस उत्तर चरित में राम और सीता का मिलन विशेष रूप से आकर्षक है और इसी को परिणामरूप से सिद्ध करना आपके नाटक का उद्देश्य होना चाहिए। उत्पाद्य वस्तु में कभी-कभी ऐसा भी होता है कि इस परिणाम का निर्णय होने के बाद वस्तु का निर्णय होता है। आप दो प्रेमियों को आपस में मिलाना चाहते हैं और इस उद्देश्य से एक उपयुक्त वस्तु की कल्पना करते हैं। वस्तु के इस परिणामरूप उद्देश्य को नाट्य-परिभाषा में 'कार्य' कहते हैं।

कार्य का निर्धारण हो जाने पर उसके बीजारोपण की आवश्यकता प्रतीत होती है। अतएव, दो प्रेमियों को मिलाने के लिए आप शायद उनके प्रेमोदय की कल्पना करते हैं, क्योंकि प्रेम होने पर ही दोनों में मिलने की लालसा उत्पन्न हो सकती है। परन्तु इसका कोई नियम नहीं है कि आप अपने कार्य का बीजारोपण किस स्थान पर करते हैं। कुछ कवि प्रेम की उदयावस्था का दिखाना अनावश्यक समझकर उस समय बीजारोपण कर सकते हैं जहाँ पारस्परिक मिलन की कामना की विशेष उत्तेजना मिलती है। रावण-वध के उपरान्त सीता-राम-मिलन दिखाने के लिए जनक-वाटिका में बीज को ढूँढना निरर्थक होगा। बीजारोप की भूमि भिन्न-भिन्न वस्तुओं की विचित्रता और कवि के दृष्टिकोण पर निर्भर है। परन्तु बीज का होना आवश्यक है। परिभाषा में इसको 'बीज' ही कहते हैं।

बीज और कार्य वस्तु की दो सीमाएँ हैं। इनके बीच की अवस्थाओं में संघर्ष रहता है। माली बीज बो देता है और वृक्ष हो जाने पर अन्त

में उसका फल खाता-खिलाता है। परन्तु इन दोनों अवस्थाओं के बीच में उसे कितना परिश्रम करना पड़ता है, कितनी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती हैं। कभी पाला गिरता है, कभी बाढ़ आ जाती है, कभी खेत में आग लग जाती है और कभी बकरियाँ आकर खेत को खा जाती हैं। इन परिस्थितियों में कभी उसको आशा होती है, कभी निराशा और कभी फिर आशा। मध्य की ये अवस्थाएँ तीन हैं—बिन्दु, पताका और प्रकरी। बिन्दु में जो बीज बोया जाता है वह अंकुर होकर दिखाई देने लगता है। पताका और प्रकरी मुख्य कथा के भीतर आई हुई प्रासंगिक कथाओं को कहते हैं। पताका बड़ी कथा होती है और प्रकरी छोटी। रामायण में सुग्रीव और श्रवण की कथा इनके उदाहरण हैं। वस्तु के इन विभागों को 'अर्थप्रकृति' कहते हैं।

इसी प्रकार नाटक की गति के भी पाँच विभाग किये गए हैं। उनके नाम हैं—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। ये 'अवस्था' कहलाते हैं। इनमें 'फलागम' के अवस्था अर्थप्रकृति "कार्य" की समानान्तर है। परन्तु शेष चार अवस्थाओं के लिए शेष चार अर्थ-प्रकृतियों का समानान्तर होना आवश्यक नहीं है। उदाहरण के लिए, बीज का आरोप तो प्रेमोदय के प्रथम आभास में ही हो सकता है परन्तु आरम्भ मिलन-लालसा में दृष्टिगोचर होता है।

ऊपर की समीक्षा से यह सहज में अनुमान किया जा सकता है कि पाँच अर्थप्रकृति और पाँच अवस्थाएँ नाटकीय गति के भिन्न-भिन्न परिवर्तनों से उदय होती हैं। अतएव जहाँ नाटक की गति अपनी एक सरणि की सीमा को पहुँचकर दूसरी ओर मुड़ती है वहाँ 'सन्धि' होती है। नाटकीय गति में पाँच परिवर्तन होने के कारण पाँच सन्धियाँ होती हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और उपसंहृति या निर्वहण। जहाँ बीजारोपण होता है वहाँ 'मुख' सन्धि होती है। जहाँ बीज का अंकुर रूप में प्रथम दर्शन होता

है वहाँ 'प्रतिमुख'। 'गर्भ' में परिस्थितियों का अधिक विकास हो जाता है। अंकुर बढ़कर वृक्ष बनने की तैयारी करने लगता है। नेता और उसके सहायक फल की प्राप्त्याशा में पूर्ण उद्योग के साथ उसकी ओर दौड़ते दिखाई देते हैं। परन्तु इतने ही में 'अवमर्श' ने भयानक बाधाएँ उपस्थित करके निराशा उत्पन्न कर दी। फल आँख से ओझल हो गया। किन्तु अन्त में समस्त बाधाएँ दूर हो जाती हैं और 'उपसंहार' में फल हस्तगत हो जाता है।

शकुन्तला नाटक में शकुन्तला-दुष्यन्त के प्रथम दर्शन में ही पारस्परिक प्रेम का उदय हो जाना 'मुख' सन्धि का आरम्भ है जो द्वितीय अंक के प्रारम्भ तक चलती है। इसके अनन्तर इस प्रेम का विस्तार होता है और तृतीय अंक के अन्त तक दोनों प्रेमी एक-दूसरे से मिल लेते हैं। यहाँ 'प्रतिमुख' सन्धि समाप्त होती है। चतुर्थ अङ्क में 'गर्भ' सन्धि है, जब शकुन्तला अपने पति-गृह के लिए प्रस्थान करती है और फल प्राप्य-सा मालूम होता है। पाँचवें अङ्क में दुष्यन्त का अज्ञेय कारणों से उदास रहना और शकुन्तला को न पहचानना अवमर्श का सूचक है। यदि हम दुष्यन्त को नायक मानकर यह स्वीकार करें कि शकुन्तला के सुख-दुख: का वह भी सहभोगी है तो 'अवमर्श' सन्धि, छठे अङ्क के अन्त तक चलती है। यदि शकुन्तला एकांत नायिका है और हमारी अधिकांश सहानुभूति उसी के साथ है और यदि दुष्यन्त फल का ही एक रूप है, तो हम इस सन्धि का अन्त वहीं समझेंगे जहाँ शकुन्तला पूर्ण रूप से तिरस्कृत कर दी जाती है। जो हो, यह प्रश्न विवादग्रस्त है, क्योंकि संस्कृत-शास्त्र शायद नायक-विहीन नाटक को न स्वीकार करे। नायक और नायिका एक ही सत्ता या स्थिति के दो परस्पर-संवादी अंग हैं। परन्तु इतना अवश्य कहा जायगा कि नाटक में हमारी लगभग समस्त सहानुभूति शकुन्तला के लिए ही रहती है, और जहाँ दुष्यन्त के प्रति हमारा कुछ आकर्षण होता है वहाँ भी प्रच्छन्न रूप से हमारी संवेदना शकुन्तला के

लिए ही उत्तेजित होती रहती है। अस्तु। इसके बाद सातवें अङ्क में तमाम बाधाएँ दूर हो जाती हैं और वहीं नाटक का 'उपसंहार' होता है।

कथावस्तु के सम्बन्ध में एक-दो बातें और भी जानने की हैं। किसी-न-किसी रूप की फल-प्राप्ति ही प्रत्येक नाटक का 'कार्य' होने के कारण दुःखान्त नाटकों की सत्ता भारतीय साहित्य में नहीं है। इसके अतिरिक्त मृत्यु आदि अनेक बातें ऐसी भी हैं जिनका रंगमंच पर दिखाना वर्जित है; यद्यपि 'उरुभंग' 'नागानन्द', आदि कुछ इने-गिने नाटकों इनमें निषेधों पर ध्यान नहीं दिया गया है। निषिद्ध बातों में अधिकतर वही बातें है जो प्रायः ग्लानि या जुगुप्सा के भाव पैदा करने वाली हैं अथवा जो व्यर्थक्लान्तिकर हैं और इस प्रकार रस-परिपाक में बाधक होती हैं। अतएव विवाह, भोजन, स्नान, उबटन आदि का भी निषेध है।

नाटककार केवल कथोपकथन द्वारा अपनी कथा प्रस्तुत करता है। वर्णन द्वारा परिस्थितियों और घटनाओं पर टीका-टिप्पणी करने अथवा समझाने का उसे अधिकार नहीं है। साथ ही उसकी नाट्य वस्तु के लिए अधिक विस्तार घातक है। नाटक उतना ही बड़ा होना चाहिए जितना उचित अवधि के भीतर रंगमंच पर खेला जा सके। अतएव नाटककार को बहुत-सी ऐसी बातें छोड़ देनी पड़ती हैं जो दर्शकों या पाठकों की दृष्टि से मनोरंजक नहीं होतीं, यद्यपि कथा-प्रसार में उनका यथेष्ट भाग रहता है। फिर, निषिद्ध बातें भी दिखाई नहीं जा सकतीं। परन्तु जीवन में उनका महत्त्व रहता है। किसी कथा-पात्र की मृत्यु कथा की समस्त भावी गति को ही बदल सकती है। ऐसी बातों को दर्शकों से छिपाया नहीं जा सकता। उनकी सूचना देने के लिए नाटककार के पास दो प्रधान उपाय हैं—विष्कम्भक और प्रवेशक। 'विष्कम्भक' का प्रयोग अंक के प्रारम्भ में होता है। इसमें सामान्य या निम्न स्थिति के एक या दो पात्र गत या आने वाले

कथांशों की सूचना स्वगत या पारस्परिक बातचीत द्वारा देते हैं। 'प्रवेशक' का प्रयोग नाटक के प्रारम्भ में नहीं किया जाता और इसके पात्र निम्नश्रेणी के होते हैं जो प्राकृत या ग्रामीण भाषा में बोलते हैं। 'शकुन्तला' नाटक में तृतीय अंक के पहले विष्कम्भक आया है और छटे अंक के पहले प्रवेशक।

वस्तु के पश्चात् कथानायक और रस का विचार उपस्थित होता है। नायक का लक्षण है कि वह विनीत, त्यागी, दक्ष, प्रियम्वद, रक्तलोक, शुचि, वाग्मी, रूढवंश, स्थिर, युवा, बुद्धि-उत्साह-स्मृतिप्रज्ञा-कला-मान से युक्त, शूर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्रचक्षु और धार्मिक होना चाहिए। वह चार प्रकार का होता है—धीरललित, धीरशान्त धीरोदात्त और धीरोद्धत। ललित नायक कलानुरागी, निश्चिन्त, सुखान्वेषी और कोमल स्वभाव वाला होता है। शान्त नायक विनयादि गुणों से उपेत ब्राह्मण या वैश्य-कुलोत्पन्न होता है। उदात्त नायक बलशाली, गम्भीर, दृढ़ चित्त-वाला, क्षमाशील और अभिमान से रहित होना चाहिए। उद्धत के लक्षण दर्प, मात्सर्य, छल, कपट, विकत्थना आदि हैं। किसी नाटक का प्रधान नेता इन्हीं चार श्रेणियों में से कोई होना चाहिए। भिन्न-भिन्न प्रकार के नाटकों और नाट्य-विषयों के लिए एक या दूसरे प्रकार के नायक का विधान है। नायक का सखा पीठमर्द, विट या विदूषक होता है। नायक का प्रतिद्वन्द्वी प्रतिनायक कहलाता है जो विविध दुर्गुणों से भरा रहता है। नायक के साथ-साथ नायिका के भी अनेक भेद-उपभेद माने गए हैं। इनमें प्रथम और प्रधान भेद स्वकीया, परकीया, और सामान्या का है। नायक की भाँति नायिका को भी सहायक नायिकाएँ होती हैं। शास्त्र में नायक-नायिका के गुणों के सम्बन्ध में बड़ा लम्बा-चोड़ा शास्त्रार्थ किया गया है, जो यथार्थ में मनोविज्ञान के आधार पर है। परन्तु अपने अति विस्तार के कारण वह परम श्रमावह हो गया है।

वस्तु और नायक साधन हैं। रस उद्देश्य है। यह काव्य की आत्मा

हैं आत्मा रूप से प्रत्येक प्रकार के काव्य में इसकी मुख्यता सर्वमान्य हैं। अनिवार्य है। आधार रूप से, हमने कहा है, वस्तु की प्रधानता है। रस-विहीन वस्तु शोभाकर नहीं हो सकती, जिस प्रकार उद्देश्य-विहीन कर्म। इसी से रस के सम्बन्ध में उसके उद्भव आदि के प्रश्न को उठाकर आचार्यों ने बड़ी-बड़ी दार्शनिक मीमांसाएँ की हैं।

रस क्या है ? काव्य की जिस असाधारण सामर्थ्य द्वारा हमको लोकोत्तर आनन्द मिले और हम काव्य के रसास्वादन में अन्य समस्त बातों को इतना भूल जायँ कि अपने को भी भूल जायँ, वही रस है। इस रस की सामग्री काव्य में रहती हैं और उसकी अनुभूति का आधार हमारे हृदय के भीतर। हमारा हृदय भिन्न-भिन्न परिस्थितयों में उत्पन्न होने वाले भिन्न-भिन्न भावों का आगार है। इनमें से प्रमुख नौ 'स्थायी भावों' के आधार पर काव्य ने नौ रस माने हैं। स्थायी भाव की व्याख्या करते हुए 'दशरूपक'-कार ने कहा है—"विरुद्ध अथवा अविरुद्ध अन्य भावों से जिसमें विच्छेद नहीं होता, बल्कि जो स्वयं अन्य भावों को समुद्र की तरह अपने में मिला लेता है वही स्थायी भाव है। इन नौ स्थायी भावों से जिन नौ रसों की उत्पत्ति होती है वे हैं—शृङ्गार हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त। एक नाटक में एक ही स्थायी भाव और उसके अनुकूल एक ही प्रधान रस होना चाहिए। नौ रसों में से कुछ परस्पर-विरोधी भी हैं और उनका एक साथ समावेश किया जाना उचित नहीं है। कभी यदि कवि के 'प्रौढोक्तिसमाश्रय' से दो विरोधी भाव आ भी जायँ तो कवि को चाहिए कि उनके विरोध को छिपा दे—दोनों के बीच में कोई उभयानुकूल रस लाकर अथवा अन्य किसी प्रकार से। यथार्थ में स्थायी भाव एक ही होता है—शेष सब-कुछ अधीन रूप से उसकी सहायता के लिए प्रयुक्त होता है।

इस प्रकार वस्तु, नेता और रस की सहयोगिता तथा पारस्परिक

अनुकूलता से नाटक की रचना होती है परन्तु नाटक को मानवी अवस्थाओं का अनुकरण माना गया है। अतः यथार्थ नाटक आरम्भ होने से पहले रंगमंच का जलपुष्प-आदि से संस्कार होता था, साजिन्दे आकर अपना "हाथ बैठाते" थे और नान्दी-पाठ होता था। तदनन्तर सूत्रधार, देवता, ब्राह्मण या राजा की स्तुति में कुछ पढ़ता था और विदूषक तथा पारिपार्श्विक से कुछ बातचीत करता था। इसके पश्चात् स्थापक आकर अपनी स्त्री, पारिपार्श्विक आदि से कुछ बातचीत करता हुआ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से नाटक और नाटककार का परिचय देता था। नाटक के इस परिचय को 'प्रस्तावना' कहते थे।

इतने तमाम प्रबन्ध का नाटककार से कुछ सम्बन्ध नहीं था। अतएव नाटककार अपने नाटकों में इसकी कोई चर्चा नहीं करते थे। तथापि संस्कृत-नाटकों में इसकी कोई चर्चा नहीं करते थे। तथापि संस्कृत-नाटकों में 'नान्दी' के बाद प्रस्तावना ही रहती है। कुछ नाटककार नान्दी भी दे देते हैं, परन्तु अधिकांश 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' का संकेत मात्र देकर प्रस्तावना आरम्भ कर देते हैं। नाटकों में से स्थापक का अस्तित्व भी दूर हो गया है और प्रस्तावना का काम सूत्रधार ही कर लेता है। वह कहीं बाहर से आकर घर के भीतर उत्सव आदि की तरह-तरह की तैयारियाँ देखता है और स्त्री से उनका रहस्य पूछता है। स्त्री बतलाती है कि अमुक कवि का अमुक नाटक खेला जाने वाला है। इसके बाद प्रकृत नाटक का अभिनय आरम्भ होता है।

: २० :

भाषा और संस्कृति

"संस्कृति" शब्द के अभिप्राय में हम मनुष्य या मनुष्यों के लोक-व्यवहार-सम्बन्धी आचरण, पारस्परिक आहार-व्यवहार, आदान-प्रदान, विचार-विनिमय आदि की भावनाओं का ग्रहण करते हैं। इन सबमें पारस्परिकता का सम्बन्ध आवश्यक शर्त है। संस्कृति और सभ्यता का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है—इतना घनिष्ठ कि दोनों शब्दों के पर्यायवाची होने का भ्रम सहज ही हो जाता है। जो संस्कृत है वही सभ्य भी है, सभा मे बैठने योग्य है; जिसे हम सभ्य नहीं समझते उसकी संस्कृति में हमें कोई भारी त्रुटि दिखाई देती है। उस में पारस्परिकता का संस्कार भली भाँति विकसित नहीं हुआ है।

पारस्परिकता की योग्यता वह ऊँची समझी जायगी, जिसके व्यापार क्षेत्र में विशालता होगी, विस्तार होगा। अपने स्त्री, पुत्र या घर के अन्य व्यक्तियों से तो सब कोई जैसा-तैसा व्यवहार कर ही लेते हैं—यद्यपि उसमें भी योग्यता की जरूरत है पर घर की परिधि के बाहर सब लोग समान रूप-से व्यवहार-कुशल नहीं देखे जाते। तब, जो व्यक्ति जितने ही अधिक और भिन्न-भिन्न प्रकार के रुचि-स्वभाव-वाले लोगों से ठीक-ठीक मिल सकने में समर्थ है वही संस्कृत है।

जिस प्रकार व्यक्ति के संस्कृत या असंस्कृत होने की कल्पना की जा सकती है उसी प्रकार व्यक्ति, समूह, समाज के भी संस्कृत या असंस्कृत होने की कल्पना स्वाभाविक हो जाती है। पारस्परिकता की दृष्टि से संसार में कभी एक दो व्यक्ति संस्कृत रह पाय, यह नहीं हो सकता। पारस्परिकता

का उदय ही सभ्यता का, संस्कृति का भी, उदय है। पारस्परिकता में एकाधिक का भाव है। एकाधिक व्यक्ति अपने-अपने अलग व्यक्तित्वों में संस्कृत या सभ्य रह सकें, सो बात भी नहीं है; क्योंकि पारस्परिकता में सामंजस्य का सामाजिकता का भी भाव है।

पारस्परिकता, सामाजिकता, सभ्यता या संस्कृति की परिधि-रेखा उतनी ही बड़ी है जितनी कि मानवता की। किसी संकीर्ण समाज में सभ्य समझा जाने वाला व्यक्ति यदि शेष मानवता के साथ असभ्य व्यवहार करता है तो विशाल दृष्टि में असभ्य कहलाता है। एक मदमत्त अँग्रेज अफ़सर को हिन्दुस्तानियों के, या उसके मातहतों के ही, ठोकर मारते हुए देखकर आप उस को क्या करेंगे? और, इसके विपरीत सभ्यता की ही दृष्टि से आप ईसा मसीह को क्या कहेंगे? जिसके समक्ष समाजों या जातियों का कोई भेद ही नहीं था। सर्वश्रेष्ठ संस्कृति के लिए देश, प्रान्त, जाति आदि की सीमाएँ उत्तरोत्तर दूर होती जाती हैं।

देश और जाति की सीमाओं की भाँति समय की सीमाओं को भी सर्वश्रेष्ठ संस्कृति पीछे छोड़ देती है। ईसा मसीह आज भी सभ्य है, इसलिए पूजनीय भी है; परन्तु तैमूर या नादिरशाह, महमूद गजनवी या औरंगजेब अपने समय में अपने अनुयायीसमाज के पूजनीय होते हुए भी, सुचिर विश्व-पूजा में किस प्रतिष्ठा को प्राप्त होते हैं? इसी भाँति हम देखते हैं कि पुरानी संस्कृतियों में आर्य संस्कृति आज भी अपनी सत्ता को किसी-न-किसी रूप में कायम रखती है; परन्तु प्राचीन रोमन संस्कृति इस समय कहाँ दिखाई देती है?

दो व्यक्तियों की पारस्परिकता से लगाकर समस्त मानव-समुदाय की पारस्परिकता में विस्तीर्ण होने वाली संस्कृति हमें छोटे बड़े अनेक लक्षणों में अपनी उपकरण-सामग्री जुटाती दिखाई देगी। विशिष्ट वेश-भूषा चाल-ढाल के ढंग, हँसने-बोलने, खाने-पीने, बैठने-उठने के तरीकों आदि कायिक

साधनों द्वारा हमारी क्षुद्र समाजों में सम्मिलित होने की योग्यता देखी जाती है। छोटे-छोटे समाजों के दृष्टिकोण से ये साधन ही जैसे सबसे पहले सभ्यता की कसौटी समझे जाते है। उदाहरणार्थ, आजकल के पढ़े लिखे सभ्य समाज या समाजों में कोट-पतलून या शेरवानी या अन्य किसी—संक्षेप मे, नागरिक ढंग के—स्वच्छ परिधान के बिना प्रवेश करना उपहास्य असभ्य है। परन्तु देहातियों की गोष्ठी में यदि कोई देहाती अँग्रेजी ठाठ-बाट से कोट-पतलून-टाई आदि धारण करके जायगा तो वह या तो उपहसनीय बनेगा या सन्देह की दृष्टि से देखा जायगा।

संस्कृति के कायिक साधन अपनी क्षुद्रता से संकीर्ण हैं, क्षणिकता-ग्रस्त हैं, और परिवर्तनीय हैं। सम्भव है किन्ही परिस्थितयों में वे अपनी दैशिक परिधि को बढ़ा भी सकें, जैसे अँग्रेजी पोशाक और चाल-ढाल के अँग्रेजी ढंग आजकल भारत में भी सभ्यता के उपचिह्न बन गए हैं; परन्तु समय की व्याप्ति में उनका प्रसार नहीं है। क्षुद्रता से विशालता की ओर अग्रसर होने वाली संस्कृति में विचारों और भावों का गौरव देखा जाता है। विचार और भाव ही समस्त मानवता के समान धर्म है जो किसी एक ही देश या क्षुद्र समाज अथवा एक ही समय में संकुचित नहीं हो सकते। निःसन्देह मायाविष्ट ब्रह्म की जीव-संज्ञा की भाँति भाव-विचार भी कभी-कभी संस्कृति के कायिक चिह्नों से आविष्ट होते हुए एकदेशीय या एककालिक से दृष्टिगोचर होते हैं। फिर भी, जीव की ही भाँति अपने क्षुद्र बन्धनों से मुक्त होकर वे व्यापकता में संचरित होने की क्षमता भी रखते देखे जाते हैं। साम्प्रदायिक या धार्मिक संस्कृतियों की विचार-परम्पराओं में हम इस क्षमता को अधिक स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। आर्य संस्कृति ही इसका सबसे बड़ा प्रमाण है, जिसमें आदि से लेकर अब तक न मालूम कितने धर्मों और सम्प्रदायों का उदय और ह्रास और लय हो चुका है—यानी अन्ततः वे आर्य संस्कृति की विशाल मानवीयता मे ही पुनः घुल-मिलकर स्वयं विशालतर हो उठे हैं। सेमेटिक संस्कृति की मुसलिम शाखा को ही

देख लीजिए जो भारतेतर देशों, विशेषतः तुर्की, में अपने प्राचीन क्षुद्र बन्धनों को तोड़कर वर्तमान समय की विशालतर पाश्चात्य संस्कृति में अपना सम्बन्ध बढ़ाती जा रही हैं। तथापि जो विचार और भाव अपनी मौलिक पद्धति में ही विशाल मानवता का लक्ष्य रखते हैं वे ही श्रेष्ठतम संस्कृति के रक्षक हैं, क्योंकि वे सार्वदेशिक और सार्वकालिक हैं; उनमें सब देशों और सब युगों की सभाओं में अपने मौलिक रूप में ही सम्मिलित होने की योग्यता है।

परन्तु देशभूषा से लेकर विचार तत्त्व तक संस्कृति की जितनी भी निःनोच्च सरणियाँ हैं वे सब स्वयं पंगु हैं और अपनी सार्थकता के, संस्कृति-साधनत्व के, लिए भाषा पर निर्भर हैं। अपने स्वतंत्र रूप में उनमें सभा बनाने की, व्यक्तियों का पारस्परिक सम्पर्क कराने की, सामर्थ्य नहीं है। विचार-संस्कृति तो बिना भाषा के नितान्त ही अकल्पनीय है; देशभूषा और भोजनादिक के संस्कार भी भाषा के सहयोग बिना कहीं अग्रसर नहीं होते। साफ-सुथरा कोट पतलून पहन कर ही, बिना बोले, किसी से मिलने का उद्यम समझ में आने की बात नहीं। वस्तुतः, देखा जाए तो, भाषा ही इन साधनों का भी निर्माण करती है—उन्हें रूप, आकार और विस्तार देती है। फिर भाषा का उत्तरदायित्व इन साधनों को जुटाने में ही समाप्त हो जाता हो, सो बात भी नहीं है। भाषा स्वयं भी संस्कृति के ही एक रूप में अवतीर्ण होती है। सभ्य-मण्डली में कोट-पतलून-धारी किसी व्यक्ति का गँवार ढँग से बोलना उसे असभ्य ही बना देता है।

संस्कृति के छोटे-बड़े उपादानों की साधन-स्वरूप भाषा मानों संस्कृति की चेतना है, और इस रूप में उसका महत्त्व इतना अधिक है कि भाषा के बिना संस्कृति की कल्पना तक हम नहीं कर सकते। एक बार दूसरे उपादान भले ही उपस्थित न हों; परन्तु यदि व्यक्ति भाषा की उज्ज्वलता से विभूषित है तो वह प्रत्येक सभ्य समाज, समस्त मानव-समाज, का अंग

बन जाता है। आर्य साम्राज्यों के युग में जटा-बल्कलधारी ऋषि वर्ग का, परिचय न होने पर भी, राजदरबारों में स्वागत किया जाता था। वर्तमान अर्थयुग का अर्द्धनग्न ऋषि भी संसार के अखिल-पराक्रमी सम्राट् और उसके प्रतिनिधियों के यहाँ आमंत्रित होता ही है।

छोटे-बड़े साधनों की हेतुता से भाषा का संस्कृति के साथ आनुपातिक सम्बन्ध देखने में आता है। जो भाषा केवल माता और पुत्र की ही बातचीत कराने में समर्थ है, अथवा जो भाषा केवल कोट-पतलून वाले लोगों तक में ही व्यक्ति का प्रसरण कराने की योग्यता रखती है उस से निःसन्देह क्षुद्र, संकीर्ण, समाज की संस्कृति का ही रूप निर्धारित होता है। उस में सांस्कृतिक गुरुता, विशालता का बल और तेज नहीं है। जो भाषा विशालतर संस्कृति की प्रतीक बनती है वह उत्तरोत्तर क्रम से विचार और भाव की विशालता की भी प्रतीक होती जाती है। भाव और विचार की विशालता में मानवता की विशालता, सार्वकालिक विश्वजनीनता, निहित है। व्यक्ति को संस्कृत बनाने वाले गुणों में विशालतर मानवीय सहानुभूति (भाव-और विचार-सम्बन्धी आचरण की विशालता) के विकास से एक विशालतर संस्कृत समाज की सम्भावना होती है। उसी प्रकार यह भी सहज कल्पनीय है कि क्षुद्र विनिमयों से आगे बढ़कर भाषा भी जब विशालतर पारस्परिकता के भावों और विचारों को प्रसार्यमाण करने में समर्थ होती है तो एक विशालतर संस्कृति विश्व के सामने आती है। यह भाषा साहित्य की भाषा है। यह भाषा कवियों की, जिज्ञासुओं की, तत्त्वान्वेषकों की, सत्यशोधकों की भाषा है। जिस भाषा ने आर्य ऋषियों और कालिदास जैसे कवियों को मानव-सत्य के अन्वेषकों के रूप में विकसित और प्रस्फुटित किया है उसी ने उन्हें सम्राटों का सभ्य भी बनाया है, साथ ही युग-युगान्तर का भी सभ्य बनाया है। प्रत्येक देश के और प्रत्येक समय के श्रेष्ठ सभ्यों

में वे अब तक अपने भाषा-स्वरूप में बराबर एक समादरपूर्ण स्थान पाते आए हैं और, आशा तो की जा सकती है, भविष्य में भी पाते रहेंगे।

व्यक्तियों और क्षुद्र समाजों से विस्तार कर किसी संस्कृति को विशालता की ओर ले जाने वाली भाषा उस संस्कृति के कालभेदी आदर्श के रूप में स्थिर होती है; वह उस संस्कृति का प्रतिबिम्ब, प्रतिरूप, होती है। व्यास और वसिष्ट और कालिदास की भाषा हमारे सामने केवल उक्त व्यक्तियों और उन के समय की निजी भाषा ही नहीं, वह समस्त आर्य संस्कृति की सार्वकालिक भाषा है। वह आर्य-साहित्य की भाषा है। आज आर्यों का, या किसी बड़ी-से-बड़ी संस्कृति का साहित्य नष्ट कर दीजिये; फिर बतलाइए कि वह संस्कृति कहाँ दिखलाई देती है, कहाँ रह जाती है।

जब कोई संस्कृति क्षुद्रता से विशालता की ओर अग्रसर होती है तो, विशालता के लक्षणों के स्वीकरण में, वह उन सांस्कृतिक गुणों को, जो केवल क्षुद्र समाजों को ही पल्लवित करने वाले हैं यथावसर छोड़ती भी जाती है। इस प्रक्रिया का निर्देश भी भाषा से ही आरम्भ होता है और भाषा में ही सदा प्रतिफलित होता रहता है। 'लोटी' कह कर अपनी माता से मचलने वाला बच्चा जिस समय रोटी कहने वाले घर के अन्यान्य लोगों के सभा-समाज में अपने को समाहित करने की चेतना (अज्ञात कामना) प्रतिपन्न कर लेता है उस समय व्यक्ति के 'ल्' को छोड़ कर सामाजिक या सभ्य 'र्' को ग्रहण करने के मानसिक संस्कार और सहज प्रयत्न का भी उसमें विकास हो जाता है। वही फिर घर की चहारदीवारी के बाहर वाले अधिक बड़े समाज में प्रविष्ट होकर 'रोटी' के स्थान में 'चपाती' या 'फुलके' को अपना कर, अपने क्षुद्र गृह-समाज को भी विशालतर समाज का अंग बनाता हुआ उसमें 'फुलका' शब्द और उस शब्द की संस्कृति (अर्थात् पतली फूली रोटी की वाँछनीयता) को प्रतिष्ठित कर लेता है। और फिर जिस प्रकार संस्कृति के प्रसार में 'लोटी' और 'रोटी' छूट जाते

है उसी प्रकार कोट-पतलूनधारी समाज की अग्रसरता में कोट और 'फ्रीज' के 'फॉल' या काजों की सुन्दरता को व्यक्त करने वाली भाषा 'फ्रीज' और 'काजों' को पीछे छोड़कर धीरे-धीरे कोट और पतलून को भी अपने शब्द-कोष से गिरा देती है। परिधान की उपयोगितामात्र के भाव का अपनी चेतना मे स्थान रखकर वह अधिकतर विशालतर संस्कृति (सामाजिकता, सभ्यता या मानवीयता) की ही बोधक पदावली द्वारा अपने को सार्थक करती है। क्या आप समझते हैं कि दशरथ या राम की सभा में बैठकर कोपीनधारी वसिष्ट ज़री के चोगों और राजमुकुट के नए-नए फैशनों की बात किया करते थे, जैसे कि आजकल हम अपने क्षुद्र समाजों में टाई के 'नौट' (knot) और कालर की नोक की बात करते है? और क्या राम वसिष्ठ की बातचीत को कम-से-कम उतने ही समादर से नहीं सुनते थे जितने समादर से क्षुद्र समाज में हम आप की किसी नई 'स्कीम' की चर्चा को सुनते हैं। बात यही है कि वसिष्ठादिक की सामाजिक विशालता में चोगे और कोपीन को ही नही त्याग दिया गया था; उसने अपने उच्चारण और व्याकरण का भी संस्कार करके, वैदिक 'लृ' और '' आदि कितनी ही आर्ष विलक्षणताओं, स्वरों की विशेषताओं, सौत्रिक संक्षेप, यहाँ तक कि क्रियापदों तक, को उनकी जटिलता-संकीर्णता के कारण छोड़ दिया था — क्रियापदों के स्थान में कृदन्त पदों का प्रयोग प्रचरित हो चला था। तभी वैदिक भाषा संस्कृत बनकर, विशालतर समाज की भाषा बनकर, रामादिक की सभा में वसिष्ठ जैसों के समादर की सार्थक बन सकी थी।

विशालता की यात्रा में संस्कृति और भाषा को अपनी भौगोलिक सीमाओं का विस्तार करना पड़ता है। घर से गाँव, गाँव से नगर, नगर से प्रान्त, और प्रान्त से सारा देश—राष्ट्र। और फिर, यदि हो सके तो, अखिल विश्व। तब गाँव या नगर की संस्कृति घरों की संस्कृति बन जाती है और देश या राष्ट्र की संस्कृति प्रान्तों और नगरों की संस्कृति बन जाती

है और उसी प्रकार संस्कृति की पुरोगामिनी भाषा भी। जहाँ संस्कृति और भाषा अपने क्षुद्र समाजों का साथ लिए हुए और उन समाजों की क्षुद्र विलक्षणताओं को त्यागती हुई इस प्रकार आत्म-विस्तार नहीं करती वहाँ उत्तरोत्तर क्रम से नगर, प्रान्त और राष्ट्र की कल्पना भी अघटनीय ही रहती है। इसी भाँति जब किसी विशालतर संस्कृति की भाषा भी पथभ्रष्ट होकर क्षुद्र समाजों के साम्प्रदाय में ही अपने को संकीर्ण बनाने लगती है तो उससे उस संस्कृति के विकासक्रम और स्थानभ्रंश की सूचना मिलती है।

'नगर', 'प्रान्त', 'देश' आदि भौगोलिक शब्द हैं, परन्तु राष्ट्र शब्द संस्कृति बोधक है। 'भारत-देश' और 'भारत-राष्ट्र' कहने में बड़ा अन्तर पड़ जाता है। 'राष्ट्र' शब्द की सांस्कृतिक विलक्षणता संगठन में है। संगठित देश राष्ट्र बनता है। देश के बिखरे हुए समानोपयोगी साधनों और देश में बसने वाली जाति या जातियों में बिखरी हुई समानहित-साधक शक्तियों का संकलित होकर सामान्य बनना, उनका ऐक्य भाव स्थूल रूप में सकर्मण्य होना ही किसी देश का राष्ट्र बनना है। सामान्य मानव भावनाओं को संकलित कर एक विश्व-मानवीय संस्कृति का रूप तो आर्यों ने घटित किया था। समुद्र-पार के द्वीपों तथा मिश्र, मेक्सिको आदि के तटों तक उस संस्कृति का प्रसार दिखाई दिया था। परन्तु उस संस्कृति के विभिन्न तन्तुओं में विश्वव्यापी संगठन की कोई बड़ी कमी रह गई होगी जिससे किसी लोक-विशाल मानव-राष्ट्र की सम्भावना साकार न हो सकी और आर्य संस्कृति प्रतिनिवृत्त होकर पुनः केवल आर्य देशों की संस्कृति ही रह गई। संगठन की यह त्रुटि प्रधानतः भाषा की त्रुटि थी। न मालूम किन कारणों से आर्य भाषा द्वीपान्तरों में प्रतिष्ठित न हो सकी और आर्य संस्कृति के मानवीय तत्त्व इतर देशों में बद्धमूल न हो सके। राष्ट्र यदि संस्कृति का संगठन है तो भाषा उस संगठन का गोंद है।

आज पाश्चात्य संस्कृति विश्वव्यापिनी बन रही है जिसके लिए

अंग्रेजी भाषा का उत्तरदायित्व है। यह संस्कृति अत्यन्त लोकायतिक होने के कारण सामान्य मानवीय तत्वों से शून्य है जिसके कारण सम्पूर्ण पाश्चात्य मानवता की भी सर्वांगीण सहानुभूति से वह वंचित है। फलतः उसके तत्वों में संगठित होने की शक्ति की न्यूनता भी होनी ही चाहिए। उसमें विश्वव्यापी किसी अंग्रेजी या पाश्चात्य राष्ट्र की कल्पना असम्भव है। इतना होने पर भी, आपस में न जुड़-सकने वाले संस्कृति-गुणों को लेकर ही, उस संस्कृति को विश्वव्यापिनी बनानेवाली भाषा की शक्ति हमारे सामने और अधिक स्पष्ट, स्पष्टतम हो उठती है।

जहाँ जहाँ अंग्रेजी भाषा गई वहाँ-वहाँ पाश्चात्य संस्कृति का अँग्रेजी रूप भी गया, जहाँ-जहाँ वह भाषा ठहरी वहाँ-वहाँ उस संस्कृति का रूप भी लोगों का चरित्र-गुण बनकर ठहर गया। भारत को देख लीजिए और भारत में नगरों और देहातों के चारित्रिक भेद को भी देख लीजिए। राजनैतिक गुलामी तो दूसरी चीज है, परन्तु इस देश में यदि अँगरेजी भाषा का आगमन न हुआ होता तो क्या आज का भारतीय वैसा ही चार्वाकी, मिथ्याहंकारग्रस्त, अनीश्वरवादी और कायर भी होता जैसा कि वह है। मुसलमानों के सुदीर्घतर शासन में भारतीय आर्य का इतना अधिक सांस्कृतिक ह्रास नहीं हुआ था, क्योंकि यद्यपि फारसी आई परन्तु, कबीर के दिनों तक ही, एक सार्वभौमिक हिन्दी का रूप भी प्रतिष्ठित हो गया था जो कबीर-साहित्य में ही भारतीय संस्कृति के फैलाव का भी साधक दिखाई दिया। इस साधकत्व की परम्परा लौकिक काव्य से भिन्न समस्त सन्त-साहित्य की भाषा में भी हम देख सकते हैं। भाषा की इस सजीवता में हम यहाँ तक देख सकते हैं कि वे मुसलमान भी, जो यहाँ ठहरे, आर्य संस्कृति के प्रभाव को बराबर किसी-न-किसी मात्रा में अनुभूत करते रहे।

: २१ :

भाषा-तत्त्व

भाषा मनुष्य का एक बहुत आवश्यक गुण है। भाषा मनुष्य का धन है। भाषा के बिना मनुष्य मिट्टी का पुतला है जो समाज और संसार के किसी विशेष काम का नहीं। भाषा मनुष्य की मनुष्यता का ही एक रूप है। यदि मनुष्य-जाति किसी कारण से अपनी भाषा को भूल जाए तो संसार के तमाम काम एकदम बन्द हो जाएँ और ईश्वर की मानव-सृष्टि में एकदम उलट-पुलट हो जाए।

पशु-पक्षी भी बोलते हैं परन्तु उनकी बोली को हम 'भाषा' नहीं कहते हैं। बालक की भी शुरू-शुरू की बोली को, जो हँसने-रोने की कुछ ध्वनियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं होती, हम भाषा नहीं कहते। कोई मनुष्य यह नहीं चाहेगा कि जिस प्रकार की भाषा मनुष्य-समाज में बोली जाती है उसे छोड़कर वह पशुओं-आदि की-सी बोली बोलने लगे। भाषाविहीन व्यक्ति प्राणिमात्र तो कहलाता है, परन्तु उसके मनुष्यत्व का समुचित विकास भाषा के बिना सम्भव नहीं। मनुष्य जीवन का विकास मनुष्य-जीवन के अनुभव और उसके द्वारा प्राप्त सिद्धान्तों से ही होता है। अनुभव का स्वरूप जीवन का अध्ययन करना है और इसमें सन्देह नहीं कि भाषा अध्ययन का एक बड़ा आवश्यक और सुलभ माध्यम है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भाषा जीवन विकास और मानवीय विकास की एक श्रेष्ठ कुंजी है।

सामाजिकता तो कुछ अन्य निम्न प्राणियों में भी पाई जाती है, परन्तु मनुष्य अपनी संस्कृति-योग्यता के कारण ही मनुष्य है, सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। निस्सन्देह, संस्कृति सामाजिकता में ही विकसित होती है। परन्तु

सामाजिकता जहाँ सहजबुद्धि (instinct) से भी उदित हो सकती है, जैसे कि वह कुछ पशुओं में होती है, वहाँ संस्कृति विवेकबुद्धि से अग्रसर हो पाती है। मनुष्य विवेकयुक्त प्राणी है—कहावत है कि Man is national animal—इसलिए वह अपनी सामाजिकता को संस्कृति के रूप में परिणत करने में समर्थ होता है। संस्कृति-विकास का क्रम अनुभव, अनुभव का उपयोग और उस उपयोग को सामाजिक व्यवहार का रूप देने में मिलता है। अनुभव के उपयोग से ही जीवन-सम्बन्धी सिद्धान्त बनते हैं जिनकी सिद्धि साधारणीकरण द्वारा सामाजिक व्यवहार में होती है। अनुभव के उपयोग की साधनीभूत भाषा, इस प्रकार विवेक की आत्मजा और संस्कृति की जननी है। फिर आगत-प्रगत क्रम में वह संस्कृति द्वारा स्वयं भी अनुप्राणित और हृष्टपुष्ट होती चलती है।

'भाषा' शब्द संस्कृत की 'भाष्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है "कहना या बोलना"। अतएव जो बोली जाए वही भाषा है। तथापि, 'कहना' और 'भाषा' में एक प्रकार की निश्चितता का समावेश है जो 'बोली' शब्द में नहीं है। पशु या पक्षियों की 'बोलियाँ' होती हैं, 'भाषाएँ' नहीं; क्योंकि वे बोलते ही हैं, कहते नहीं है। केवल मनुष्य की बोली ही का नाम 'भाषा' है जो संस्कृति-विवेक के सहारे-सहारे निश्चित और निर्देशपूर्ण होती जाती है।

भाषा का उदय, बतलाया जाता है, मनुष्य की स्वाभाविक अनुकरणवृत्ति से हुआ है। अनुभव में किसी प्रकार के संसर्ग की पूर्वस्थिति रहती है; अर्थात् किन्हीं व्यक्तियों, पदार्थों, वातावरण आदि का संसर्ग प्राप्त होने पर ही आत्मा अपनी योग्यतानुसार उन पदार्थों-आदि से प्राप्त होने वाले संवेदनों का अनुभव करती है, जो धीरे-धीरे संस्काररूप में उसकी स्मृति का अंग बन जाते हैं। अतः सामाजिकता की आवश्यकता से जब मनुष्य को इन पदार्थादि की अवस्थाओं या अपने संवेदनों को दूसरों के सामने

उपस्थित करने की ज़रूरत पड़ती है तो वह उनको किसी-न-किसी रूप में अनुकरण द्वारा दूसरों के सामने चित्रित करता है। गूँगे आदमी को कुछ समझाने की चेष्टा करते हुए कभी देखा है? किस प्रकार वह अपने हाथ-पैर तथा शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों द्वारा अपने बोधनीय विषय का यथासाध्य चित्र उपस्थित करने की चेष्टा करता है।

अनुकरण की प्रवृत्ति तो सहजबुद्धिजन्य (instinctive) है, अतः अत्यन्त स्वाभाविक होने के नाते वह कुछ पशुओं में भी देखी जाती है; परन्तु उसका उत्कर्ष विवेक का कार्य है, जो विशेष रूप से मनुष्य में ही देखने में आता है। गूँगा मनुष्य जब किसी वस्तु या अवस्था का अपने अङ्गों की चेष्टा द्वारा चित्रण करने का प्रयत्न करता है तो वह अपनी अनुकरणवृत्ति का उपयोग करता है। चित्रकला अनुकरण का ही तो एक समुन्नत रूप है। चित्रकला के उदाहरण से हमें इस बात का पता चलता है कि केवल स्थूल प्रकार की शारीरिक आवश्यकताओं के लिये ही नहीं बल्कि मानवता की सूक्ष्मतम भाव-प्रक्रिया का आनन्द-सन्देश वहन करने में भी उपयोगी सिद्ध होने वाले अनुकरण की सामर्थ्य कितनी जबरदस्त है। उपयोगिता में प्रबल यह अनुकरणवृत्ति विवेकवृत्ति के क्रमिक मार्ग-प्रदर्शन को स्वीकार करती हुई धीरे-धीरे स्वयं एक कला और विज्ञान का स्वरूप बन जाती है और उसकी इस कलात्मक विज्ञानात्मक विकसिति में ही जैसे हमारे संपूर्ण भाषा-विकास का भी इतिहास समाविष्ट है।

भाषा के उदय में अनुकरण की आदिम प्रक्रिया को भाषा-विज्ञान के विद्वान् कतिपय प्राकृतिक उदाहरणों द्वारा सिद्ध करते हैं। कहा जाता है कि किसी समय में, अब से हजारों-लाखों वर्ष पहले, मनुष्य भी पशुओं की तरह बोला करता था। परन्तु ईश्वर ने उसे बुद्धि दी थी और उसकी बोलने की इन्द्रियों में कुछ विशेषता थी। इसलिए नई-नई आवश्यकताओं के पड़ने पर, उसने इन आवश्यकताओं को प्रकट करने के लिये धीरे-धीरे अपनी बोली

को काम के लायक बना लिया। एक पक्षी 'का-का' करता था। मनुष्य ने अपनी बुद्धि के बल से उसकी बोली के अनुकरण पर उस पक्षी का नाम 'काक' रख दिया। तब धीरे-धीरे प्रयोग और अभ्यास के कारण 'काक' शब्द से सब लोग 'कौआ' समझने लगे और जिस किसी को उस पक्षी का बोध कराना होता वह बड़ी आसानी से 'काक' कहकर उसका बोध करा देता। हवा में पेड़ से पत्ता गिरा जिससे 'पत्' जैसी आवाज़ हुई। मनुष्य उस "पत्' आवाज़ के अनुकरण से ही गिरने का भाव प्रकट करने लगा, अर्थात् जब-जब उसे गिरने का भाव प्रकट करना होता तब-तब वह 'पत्' कह देता। फिर संसर्ग-बल से 'पत्र' का भी नामकरण हो गया, अर्थात् शुरू-शुरू के प्राकृतिक जीवन में जो वस्तु सबसे अधिक गिरती हुई देखी गई वही पतन कर्म की स्वाभाविक अधिकारिणी होकर "पत्" में एक रेफ की विशेषता को लेकर अपने भाषा-रूप में हमारे सामने आई। संसर्ग और अनुकरण और संसर्ग की इस पारस्परिक प्रतिक्रिया में तदनन्तर हमने पत्र शब्द को व्याप्ति प्रदान की, जिसके परिणाम में हमें 'भोजपत्र' (अनेक बातों में पत्ते से मिलता-जुलता किसी वृक्ष का ही एक अङ्ग-विशेष), 'पत्र' (चिट्ठी, जो कि प्रारम्भ में भोजपत्र पर लिखी गई थी), 'पत्र' (कागज,भोज-पत्र का काम करने के लिए एक नया पदार्थ-विशेष) और 'समाचार पत्र'— जैसे शब्द प्राप्त हुए। दूसरी ओर 'गिरना'-कर्म की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के बोध के लिये उन अवस्थाओं तथा 'पत्' शब्द के संसर्ग से पतन्, पतित, पतति, अपतत् आदि शब्दों का स्वरूप भी बन गया। सारांश यह है कि इसी प्रकार समय-समय पर अपनी विवेक-बुद्धि के द्वारा संसर्ग और अनुकरण की प्रक्रियाओं का उपयोग कर-कर के तथा अपनी जीभ को इधर-उधर घुमा फेरा कर मनुष्य ने अपनी नई-पुरानी आवश्यकताओं के लिये नये-नये शब्द बनाये और धीरे-धीरे अपनी बोली को भाषा के रूप में विकसित किया।

भाषा के अनुकरण-मूल में संसर्ग का उत्तरदायित्व जब भाषा के प्रयोगों को व्यापक बनाने लगता है तो उसमें सामाजिकता का आरोप हो जाता है।

बोली का आचरण जब भाषा में व्यवहार का रूप धारण करता है तो वह पारस्परिकता, सामाजिकता पर निर्भर रहने लगता है और इस भाँति व्यक्तिगत आचरण की स्थिति से बढ़कर वह समाज का आचरण बनने लगता है। भाषा की व्यापकता के दो रूप हैं। एक तो यह कि वह अधिक से अधिक व्यक्तियों की समझ और उपयोग-प्रयोग की वस्तु हो, जिसका दूसरे शब्दों में यह अर्थ है कि वह अधिक से अधिक व्यक्तियों की आवश्यकताओं को पूर्ण करने वाली हो। उसका दूसरा स्वरूप इस पहले स्वरूप के ही उपलक्ष्य में, भाषा की असमर्थता के कारण उत्पन्न होता है। अर्थात् भाषा केवल लोक-व्यापिनी ही नहीं; विषय-व्यापिनी भी हो। लोक व्याप्यता के लिए इसमें लोगों की प्रत्येक आवश्यकता के लिए शब्द और प्रयोग होने चाहिएँ। परन्तु यह असम्भव है। इसलिए अपनी लोक-व्याप्यता की सिद्धि के लिए उसे विषय-व्याप्य बनने की जरूरत पड़ती है।

लोकव्यापकता की असम्भवता तो इस बात से सिद्ध है कि सामाजिक मनुष्य की छोटी बड़ी समस्त आवश्यकताओं की संख्या गिनाना सहस्रमुख वाले-शेषों तक की सामर्थ्य का काम नहीं है। एक 'पत्'—कर्म की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं से पैदा होने वाली आवश्यकताओं का अन्दाजा इस बात से किया जा सकता है कि संस्कृत के दस 'लकारों में उसके नव्वे रूपों की कल्पना है, और यह संख्या कृदन्त और तद्धित और समासों-आदि के विस्तार के साथ न मालूम और कितनी बढ़ जाती है।

यह प्रकृति में होने वाली केवल एक क्रिया की बात है। प्रकृति में होने वाली समस्त क्रियाओं की गिनती किसने की है? फिर इन असंख्य क्रियाओं से सम्बद्ध पदार्थों और दशाओं की गिनती करने वाला कौन पैदा हुआ है? इससे भी आगे बढ़कर संश्लिष्ट क्रियाओं पर दृष्टि जाती है जो संसर्गी अवस्थाओं के संकर से पैदा होती हैं। 'आना-जाना' में 'आना'—कर्म का 'जाना'—कर्म के द्वारा विशेषतापन्न होने वाली संकरावस्था का

तथा, इसी भाँति, 'जाना'—कर्म की 'आना'—विशिष्ट अवस्था का निर्देश है। इसी प्रकार 'पतनशील' शब्द में भी देखा जा सकता है। 'शील' का अर्थ है 'स्वभाव'। शील या स्वभाव से एक गुणस्वरूपिणी अवस्था-विशेष का बोध होता है। जहाँ इस अवस्था का 'पतन'—कर्म से मेल होता है वहाँ हम 'पतनशील' शब्द का उच्चारण करते हैं, जिसमें क्रियाओं की अवस्थाओं के अतिरिक्त हमें क्रिया (कर्म), गुण और क्रिया व गुण के आधार का भी संकर मिलता है।

इन संकरावस्थाओं के समाधान के लिए भाषा में समस्त (समासयुक्त) पदों और वाक्यों का विन्यास हुआ। परन्तु जब अवस्थाएं संख्यातीत हैं और मनुष्य की स्मरणशक्ति की कहीं-न-कहीं कोई सीमा है तो यह असम्भव है कि प्रत्येक अवस्था को सूचित करने के लिए भाषा में अलग-अलग शब्द हो सकें। यही भाषा की असामर्थ्य है। और यह असामर्थ्य इस बात को देखते हुए और भी बढ़ जाती है कि अवस्थाएँ और आवश्यकताएँ स्थिर नहीं है, वे समय और परिस्थिति के साथ बदलती रहती हैं। जैसा कि एच० जी० वेल्स ने कहा है, मनुष्य के विचारों की स्पर्धा में भाषा सदा पिछड़ी रहती है—जितनी तेजी से विचार आगे बढ़ते हैं भाषा उतनी तेजी से कदापि नहीं बढ़ सकती, क्योंकि विचार तो प्रति समय विकसनशील हैं और भाषा बहुत कुछ स्थिर होती है। उसे स्थिर होना ही पड़ता है। तथापि, अपनी मंथर गति से भी भाषा विचारों के विकास का यथाशक्ति साथ देती हुई अपना भी थोड़ा-बहुत विकास करती ही रहती है। वह अपने प्रयोगों में सांकेतिकता तथा अधिक से अधिक व्यंजकता (Expressiveness) लाकर अपनी असामर्थ्य को दूर करने तथा अपनी व्यापकता को कायम रखने की चेष्टा करती है। संसर्ग-शक्ति इस कार्य में उसकी सहायक होती है। हमने देखा है कि एक ही शब्द 'पत्र' संसर्गवश कितने विचारों की अभिव्यक्ति करने में समर्थ है। अनेक अवस्थाओं में

संसर्ग के साथ सादृश्य (Analogy) का भी योग हो जाता है जो प्रयोगों के रूप-निर्माण में तो काम करती ही है, विचारों के वर्गीकरण और सनीकरण में भी जिसका बड़ा हाथ है। अपने इस दूसरे कार्य में सादृश्य भी भाषा की व्यंजकता बढ़ाने में उपादेय होता है। 'आ गिरा' में 'आना' कर्म सादृश्य-संसर्ग से 'गिरना'—कर्म के साथ अपना सहयोग करता हुआ दिखाई देता है। यही सादृश्य आगे और आगे बढ़कर संकेत वचन को भी अनावश्यक बनाता हुआ 'आना' की बहुव्यंजकता को स्वतन्त्र कर देता है। 'मैं अभी बाजार से आया हूँ', 'तुम चलो, मैं आया', 'सोडा लाना', 'वर्षा आई', 'मन में यह विचार आया' आदि उदाहरणों में 'आना' क्रिया, वक्तोद्दिश्य संचलन कर्म के सादृश्य पर विभिन्न अवस्थाओं की अभिव्यक्ति स्वतंत्र रूप से कर रही है। इस प्रकार के प्रयोगों-द्वारा भाषा अपने शब्द-दारिद्र्य की अवहेलना करती हुई अपने आप को बराबर समर्थ और व्यापक, अधिक से अधिक भाव-व्यंजक, बनाए रखने की चेष्टा करती है। संस्कृति के अधिक विकास के साथ तो उसकी यही प्रवृत्ति उसका गौरव बन जाती है। भाषा में अलंकारों की व्याप्ति उसकी इसी सामर्थ्य-प्रवृत्ति की सूचक है।

इतना ही नहीं, उपयोग और व्यापकता की सापेक्षता में यह जहाँ नई व्यापिनी आवश्यकताओं के लिए कुछ नए प्रयोगों को स्वीकृत करती है वहीं वह पुरानी और बहु-परित्यक्त आवश्यकताओं के बोधक अपने बहुत से शब्दभार को हलका भी करती जाती है। यह भी उसका एक प्रगति-निश्चायक गुण ही है, अवगुण नहीं। कुछ तो अपने बोलनेवालों के जीवन-विस्तार के कारण और कुछ दूसरी-दूसरी संस्कृतियों के साथ संयोग होने से नई-नई आवश्यकताओं का आगमन या सृजन हुआ करता है और उनकी नवीनता में बहुत-सी पिछली आवश्यकताएँ जीर्ण और अप्रयोज्य हो जाती हैं। इन नई-नई आवश्यकताओं के लिए सादृश्य और संसर्ग के बल पर या तो नए शब्द बना लिए जाते हैं या दूसरी संयुक्त संस्कृतियों

से ग्रहण कर लिए जाते हैं, या फिर भाषा की अभिव्यंजन-सामर्थ्य द्वारा उसके चले आते हुए प्रयोगों की ही नई-नई आवश्यकताओं के भी अभिव्यंजन में व्याप्ति होने लगती है। और जो भाषा जितनी ही अधिक अभिव्यंजनशक्ति रखती है, जिसमें नई-नई आवश्यकताओं को जितना ही अधिक अपने निजी कलेवर में समा लेने की शक्ति होती है वह भाषा अधिक समुन्नत और संस्कृत समझी जाती है।

•

नए-नए प्रयोगों के स्वीकार, पुराने प्रयोगों के त्याजन और नए-पुराने प्रयोगों की वर्धमान सांकेतिकता व अभिव्यंजकता के कारण - जिससे भाषा की समस्त-व्यस्त पदावली, तद्धित-कृदन्तादिक वाग्व्यवहार तथा लघु-दीर्घ वाक्य-विन्यास आदि द्वारा तरह तरह की पद्धतियाँ बन जाती हैं—किसी भाषा के मौलिक तथा विकसित रूपों में काफी अन्तर पड़ जाता है। जीवन-विस्तार के साथ-साथ देश-विस्तार भी प्रायः होता जाता है। इससे कालान्तर में किसी भाषा के बोलने वाले एक दूसरे से, पारस्परिक आदान-प्रदान के अभाव और यातायात के साधनों की कमी आदि के कारण, बहुत विच्छिन्न हो जाते हैं। जब ऐसा होता है तो अलग-अलग स्थानों के अलग-अलग प्रभावों, तथा पारस्परिक व्यवहार और विचारधारा की एकसूत्रता के विलोपन, से उन लोगों की भाषा की भी अलग-अलग कई धाराएँ निकल चलती हैं और वे अपना-अपना स्वतंत्र विकास करने लगती है। अलग अलग स्थानों के प्रभावों में सामाजिक, सांस्कृतिक एवं जीवन-निर्वाह-सम्बन्धी परिस्थितियों के साथ-साथ भौगोलिक अवस्थाओं का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है जो वागिन्द्रियों को प्रभावित कर बोलने वालों की मौलिक ध्वनियों में भी परिवर्तन कर देती हैं। शब्दोच्चार में परिवर्तन तो स्थान-परिवर्तन न होने पर भी, मूलस्थान में भी धीरे-धीरे हो जाते हैं, जिसके मूल में मनुष्य की सुकरता की वाँछा रहती है। यह स्वभाव है कि किसी भी काम को हम कम-से-कम दिक्कत के साथ करना चाहेंगे। अतः यदि

अपने भावप्रकाश को अक्षुण्ण रखते हुए हम किसी जटिल या क्लिष्ट उच्चारण वाली ध्वनि को सरल बना पाते हैं तो स्वभावतः ही हम उसे सरल बना लेते हैं। 'पंच' का 'पाँच' या 'दश' का 'दस' इसी प्रकार हो जाता है। ध्वनि या उच्चारण में ही नहीं, अपने अन्य प्रयोगों के लिए भी इस सुकरता को खोजते हैं। संस्कृत के तद्धित, कृदन्त और समस्त प्रयोग, अपनी प्रारम्भिक अवस्था में, इसी सुकरता-प्रवृत्ति के द्योतक हैं। बाद में वे संस्कृति में समाविष्ट होकर भाषा का गौरव और विलास बन जाते हैं।

भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भाषा की भिन्न-भिन्न प्रकार से होने वाली परिणतियों को देखकर मनुष्य के मानसिक विकास का अनुमान होता है। मनुष्य की आविष्कार-बुद्धि भाषा के प्रयोग-बाहुल्य (शब्दकोष, विभक्ति, धातु, लकार आदि) में देखने में आती है। प्रयोग-बाहुल्य और उसकी समीचीनता में मनुष्य की विश्लेषण-बुद्धि भी दर्शनीय है। भाषा की व्यापिनी व्यंजकता तथा पद्धति में सामंजस्य-विवेक का प्रमाण मिलता है। दूसरी ओर शब्दों और प्रयोगों का बहु-वैविध्य उसमे नई-नई अवस्थाओं एवं तत्त्वों का समावेश, हमें यह बतलाता है कि अमुक भाषा के बोलने वालों की ग्राहिका-शक्ति कैसी और कितनी थी, वे कहाँ तक और किस रूप में अपना जीवन-विस्तार करने में समर्थ थे।

जीवन-विस्तार का अर्थ है सृष्टि की अधिकाधिक वस्तुओं और अवस्थाओं को अपने लिए उपयोगी बनाना, सृष्ट जगत् का अधिक-से-अधिक अंश में अपने में आरोप करना। यही प्रक्रिया किसी स्थिति को प्राप्त होकर सभ्यता और संस्कृति, का स्वरूप बन जाती है। सृष्ट जगत् केवल पदार्थों में ही नहीं बल्कि उनके गुण और स्वभाव में भी देखा जाता है देहधारियों के संयोग से इस जगत् के दो रूप—भौतिक और मानसिक अथवा आध्यात्मिक, हो जाते हैं जो सृष्टि-कर्म में अपना सहयोग-सामंजस्य बनाए हुए हैं। भौतिक जगत् का कुछ आरोप तो प्रकृति स्वयं ही करा देती है, परन्तु

जीवन-विस्तार मे हम इस भौतिक जगत् की गुण-स्वभाव-रूपिणी विशालता, भूतप्रकृति और अध्यात्मप्रकृति के सामंजस्य, का आरोप ही विशेष रूप से देखना चाहते हैं। अपनी इसी प्रक्रिया में किसी स्थिति को प्राप्त कर हमारा जीवन-विस्तार सभ्यता, संस्कृति, का रूप बन जाता है।

बोली और भाषा के भेद का उदाहरण इस बात का सबसे अच्छा प्रमाण देता है। हमें मालूम है कि बोलते पशु भी हैं, परन्तु वे कहते या 'भाषते' नहीं हैं। इसीलिए उनकी बोली 'भाषा' नहीं बनती। पशु अपनी बोली-द्वारा अपनी दुःख-सुख की वृत्तियों का, या फिर अपनी अत्यन्त प्राकृतिक आवश्यकताओं का, उद्गारमात्र करते हैं। 'कहना' या 'भाषा' में हम इस उद्गारमात्र से आगे बढ़ कर विचार और विवेक की क्रिया देखते हैं। मनुष्य-समाज में भी बोली और भाषा का यही भेद, अनुपातक्रम से, देखने मे आता है। जो लोग अपने जीवन-विस्तार में अपने दैनिक दुःख-सुख की अनुभूति और शरीर धारण की नित्य आवश्यकताओं से आगे नहीं बढ़ पाए हैं, जो अपने मानसिक विकास मे विचार-योग तक नहीं पहुँच पाए है, उनकी बोलचाल भी कुछ इने-गिने बँधे-बँधाए, प्रयोगों मे ही कुण्ठित रह गई है और वे अभी बोली बोलने की ही अवस्था में हैं। इसके विपरीत, जिन्होंने सृष्ट जगत् के साथ अपना जितना अधिक विकास किया है, केवल शारीरिक आवश्यकताओं और अनुभूतियों के उद्गारमात्र में ही रुद्ध न रह कर जो अपने भीतर विचार-तत्त्व को जितना ही अधिक विकसित करने में समर्थ हुए हैं, वे उतने ही अधिक सभ्य और संस्कृत बन सके हैं और उतना ही अधिक उनकी बोली मे 'कहने' या "भाषने" के ढँग का समुन्नयन हुआ है।

जिस प्रकार हमारी सामान्य अनुभूतियों और दैनिक आवश्यकताओं के आधार से ही हमारे जीवन-विस्तार के रूप का विकास होता है, उसी प्रकार हमारी नैमित्तिक बोली के आधार पर हमारी भाषा भी विकसित होती है।

और जिस तरह हमारे जीवन-विस्तार के साथ हमारी अनुभूतियों और नैमित्तिक आवश्यकताओं का लोप नहीं हो जाता उसी तरह किसी समाज मे भाषा की अभिवृद्धि के साथ बोली या बोलियों का भी अस्तित्व रहता है। बात यह है कि किसी जाति या समाज का प्रत्येक व्यक्ति, किसी देश का प्रत्येक टुकड़ा, समान अनुपात से विकसनशील नहीं हुआ करता। देश के जिन टुकड़ों में जीवन-विस्तार का स्वरूप अधिक पुरोगामी हो जाता है वे नगर और राजधानियाँ बन जाते हैं; जिनमें ऐसा नहीं होता वे देहात रह जाते हैं। नैमित्तिक आवश्यकताओं और तदुद्दिष्ट वाग्व्यवहार का दायरा भी स्वभावतः संकीर्ण, रात दिन पास में उठने-बैठने-वाले व्यक्तियों का ही रहता है। इसीलिए भाषाविज्ञान के शास्त्रियों का कहना है कि बोलियों का रूप प्रति दस या बीस मील पर बदलता जाता है। परन्तु देहात या बोलियाँ अपने जीवन के लिए नगर और नागरिक भाषा तथा संस्कृति पर निर्भर रहते हैं, जिस प्रकार कि नगर अपनी नैमित्तिक आवश्यकता-पूर्ति के लिए देहात पर निर्भर रहते हैं। इससे देश या समाज और उसकी संस्कृति तथा भाषा की एकसूत्रता कायम रहती है और हम, देहात तथा बोलियों की संकीर्णता के होते हुए भी, समूह-धारणा के औचित्य से यह कहते हैं कि अमुक देश या जाति सभ्य तथा संस्कृत है।

कभी-कभी किसी देश या जाति के कोई-कोई अङ्ग उसकी संस्कृति का साथ न दे सकने के कारण उससे अत्यन्त विच्छिन्न हो जाते हैं। तब वे परिस्थितियों के अनुसार अपना स्वतंत्र विकास करने लगते हैं। जाति और जातीय संस्कृति के दृष्टिकोण से यह बात विशेष सौभाग्य की नहीं है। इनमें से जिन अङ्गों को अनुकूल परिस्थितियाँ मिलती हैं या जो अधिक समर्थ होते हैं वे तो अपनी स्वतन्त्र प्रतिष्ठा में चिरस्थायी बन जाते हैं; परन्तु दुर्बल अङ्ग शीघ्र ही ह्रास को प्राप्त हो जाते हैं। आदिम आर्य संस्कृति से अलग होकर जर्मन एक स्वतंत्र और प्रबल चिरस्थायी जाति

एवं भाषा बन गई, परन्तु प्रारम्भिक ईरानी (ज़ेन्द) संस्कृति अपने को थोड़े दिन भी न टिका सकी। भारतीय आर्यों की संस्कृति जब मुसलमानों के आगमन के बाद छिन्न-भिन्न हुई तो बंग और गुर्जर और महाराष्ट्र आदि की स्वतंत्र संस्कृतियाँ बनने लगीं।

संस्कृतियों के एकसूत्र सङ्गठित रूप या विच्छेदों की गवाही उनकी भाषाएँ देती हैं। जर्मन भाषा, ज़ेन्द भाषा और भारत में बंगला, गुजराती तथा महाराष्ट्री भाषाओं के उत्थान पतन में मूल आर्य और आर्य भारतीय संस्कृति तथा उसके टुकड़ों के उत्थान-पतन का इतिहास विद्यमान है। इसमें तो सन्देह ही नहीं कि जातीय संस्कृति में विच्छेद होने पर टुकड़ी-संस्कृतियों के विलास और विकास का दायरा बहुत संकीर्ण हो जाता है। दायरे की संकीर्णता से उनकी समूह-शक्ति भी बहुत कम हो जाती है। परिणामस्वरूप अधिकतर ऐसा होता है कि विच्छिन्न होने वाली ये संस्कृतियाँ और भाषाएँ कुछ समय तक अपना विलास करने के बाद किसी विशालतर सांस्कृतिक आन्दोलन के सामने ठहरने में असमर्थ होकर पुनः असंस्कृति तथा बोलियों के रूप में विलीन-सी हो जाती हैं। ज़ेन्द संस्कृति और ज़ेन्द भाषा का उदाहरण हमारे सामने है। भारतीय आर्य संस्कृति की भाषाओं में किसी समय ब्रजभाषा का दबदबा था, और वह काफी समय तक रहा। अपने समय के जीवनोपचार—उसी को उस समय की संस्कृति कहेंगे—का प्रतिनिधित्व करने में ब्रजभाषा अत्यन्त सम्मानास्पद हो गई थी। परन्तु उस जीवनोपचार में, फलतः उसकी भाषा में भी, जीवन-विस्तार का रूप अत्यन्त कुंठित था। अतः अंग्रेजों की प्रतिष्ठा के बाद जीवन-विस्तार का क्षेत्र खुलने पर ब्रज-भाषा में धीरे-धीरे ऐसी पस्ती आई कि आज वह भाषा ही नहीं रही, बोलीमात्र रह गई—इतनी पस्ती आई कि आज उसके पुराने गौरव में बट्टा लग रहा है। कहने वालों ने उसे "जनानी भाषा" तक कह डाला।

और सचमुच यदि कोई समर्थक कहे कि ब्रजभाषा ने शृङ्गार-रस की रात के अनुपमेय गुलछर्रे उड़ाए और उड़वाए हैं तो आज के दिन कौन इस समर्थन की सांस्कृतिक गरिमा पर अपने को निछावर कर देगा ? इसी भाँति अवधी और बुन्देली और मारवाड़ी—जिसे मारवाड़ के कुछ सज्जन इन दिनों 'राजस्थानी' का लम्बा-चौड़ा नाम देना चाह रहे हैं—का किसी समय का 'भाषा'-माहात्म्य आज कभी का 'बोली' —लघिमा में अवतीर्ण हो चुका है, क्योंकि इन बोलियों के बोलने वालों की प्रान्तीय जातीयता में आत्म-निबन्धी जीवन-विस्तार का रूप नहीं है। अपने मौलिक स्वभाव में वे जिस संस्कृति का अंग थी उसी का अंग बने रहने की उसी मौलिक प्रवृत्ति में पुनः लौट आना उनके लिए मजबूरी की बात थी।

बोलियों और भाषाओं के स्वभाव और उनके लौट-पलट, उनके वर्ग अथवा कुटुम्ब के साथ उनके तरह-तरह के परिस्थितिजन्य आचरण-आदि की कथा बड़ी मनोरंजक है। आजकल संसार में बहुत सी भाषाएँ देखने मे आती हैं। उनकी तुलना-द्वारा भाषा-वैज्ञानिकों ने पता लगाया है कि कितनी ही भाषाएँ एक दूसरी से किसी-न-किसी अंश में मिलती-जुलती हैं और वे समयचक्र के प्रभाव से किसी एक ही आदिम भाषा से निकली हुई अलग-अलग धाराएँ हैं। विद्वान् लोग इनकी तुलना के आधार पर उनके बोलने वालों की मूल संस्कृति तथा उसके विकास और विच्छेद की गवेषणा करते हैं। आजकल भाषाविज्ञान मनुष्य जाति के इतिहास की खोज का एक महत्त्वपूर्ण उपकरण बन गया है। भाषा का इतिहास मनुष्य और मनुष्यता के विकास अथवा ह्रास का इतिहास है।

———

. २२ :

साहित्य और साहित्यशास्त्र

साहित्य को हम सब पहचानते हैं और समझते भी हैं। यदि हमसे कोई पूछे कि अमुक वस्तु साहित्य है या नहीं तो प्रायः हम उसका सही उत्तर ही दे देंगे। परन्तु, फिर भी हम साहित्य की व्याख्या करने में असमर्थ रहते हैं—हम ठीक-ठीक यह नहीं बतला पाते कि 'साहित्य' क्या है। यही कारण है कि मानव के इतिहास में जब से साहित्य का उदय हुआ है तब से अब तक एक-से-एक नई असंख्य परिभाषाएँ साहित्य की की जा चुकी हैं और की जा रही हैं, परन्तु अभी तक एक भी परिभाषा ऐसी नहीं हो पाई है जिसके बाद किसी दूसरी परिभाषा की आवश्यकता न पड़े।

और तमाशा यह है कि ये असंख्य परिभाषाएँ ग़लत भी नहीं कही जा सकतीं। लोग उनका हवाला दिया करते हैं। तो क्या सभी ठीक हैं? यदि सभी ठीक हैं तो इतनी सारी परिभाषाएँ बनी ही क्यों, और क्यों बनती रहती हैं? क्या अन्ततः सब परिभाषाएँ एक ही हैं, अथवा उनमें कोई पारस्परिक विभेद नहीं है? यदि सबमें ही विभेद हैं तो सभी ठीक कैसे हो सकती हैं?

अनुमान होता है कि सभी परिभाषाएँ अपूर्ण हैं और अपनी अपूर्णता में वे सब ठीक हैं। यदि देखा जाए तो साहित्य की एक सर्वाङ्गपूर्ण परिभाषा हो ही नहीं सकती। साहित्य उतनी ही विशाल वस्तु है जितना कि जीवन—मनुष्य-जीवन नहीं, विश्व-जीवन! ऐसी विशाल वस्तु को कोई उसके समूचे रूप में, जीवनभर देखकर भी, देख सके,— यह सम्भव नहीं मालूम होता। क्या जीवन के ही समूचे रूप को किसी ने देखा है, और क्या कोई जीवन

की एक सर्वाङ्गपूर्ण अनिवार्य परिभाषा दे सका है ? मनुष्य अपनी परिस्थितियों तथा अपनी ज्ञानेन्द्रियों की सीमा के कारण अपूर्ण है। वह विशालता को अपने सीमित स्थल से ही देखेगा उसका दृष्टिकोण सीमित, संकीर्ण होगा ही। अतः शायद यह कहना ठीक होगा कि विशालता की इस प्रकार की परिभाषाएँ वस्तुतः विशालता के अंगों की परिभाषाएँ हैं और इस रूप में वे सब, अपूर्ण होती हुई भी, ठीक हैं।

साहित्य को समझने का एक दृष्टिकोण यह भी हो सकता है कि उसे समझने से पहले 'साहित्य' शब्द को समझने की चेष्टा की जाए। इस दृष्टि से 'साहित्य' वह होगा जिसमें 'स+हित' का भाव हो, अर्थात् जो 'स+हित' हो। और, 'हित' (=धा+क्त) वह है जो धारण किया जाए या जिसमें धारण करने की क्षमता हो। दूसरे शब्दों, में 'हित' शब्द में संरक्षण का भाव है। जो बात या वस्तु किसी का किसी रूप में संरक्षण कर सकती है वह उसके लिए 'हित' या 'सहित' है और, इस प्रकार, जो वस्तु मानव जाति के संरक्षण तथा प्रतिष्ठा के तत्वों का सामूहिक भाव से योग धारण करती है वह मानव जाति का 'साहित्य' है।

मानव जाति का विकास तथा उसकी प्रतिष्ठा उसके भावों तथा विचारों के विकास और प्रतिष्ठा की प्रतीक है। मानव मानव ही अपनी भाव-सम्पत्ति तथा विचार-सम्पत्ति के आधार पर है। इस सम्पत्ति की स्थिर प्रतिष्ठा में ही मानव की मानवता का संरक्षण और उसका 'हित' है। जो वस्तु इस सम्पत्ति के संरक्षण का भार अपने ऊपर लेती हुई मानवता का संरक्षण करती है वही उसका 'साहित्य' है।

सृष्टि के नाना पदार्थों और अवस्थाओं के सम्पर्क में आने पर जब हमारे ऊपर उन पदार्थों और अवस्थाओं की प्रतिक्रिया होती है तो भाव और विचार का जन्म होता है। इन पदार्थों और अवस्थाओं में हमारे शरीर के

अवयव और उनके निर्माण-तत्व सम्मिलित समझे जाने चाहिएँ। पदार्थ और अवस्थाएँ—जड़ हों या चेतन—अपने व्यापार के लिए जिस मौलिक तत्त्व से प्रेरित होती हैं और हमें प्रतिकृति करने की शक्ति संचित करती रहती हैं वह आनन्द-चेतन ब्रह्म का संस्पर्श है, और इस संस्पर्श से संस्कृत होकर स्फुरण या व्यापार को रूप देने वाला तत्व रजोगुण है। कहने का, संक्षेप में, अभिप्राय यह है कि इस विश्व में व्याप्त—अथवा, व्यक्तिगत दृष्टि से, हमारे भीतर रहने वाली—रजोगुण-वृत्ति आनन्द की प्रेरणा को लेकर जब विश्व-सम्पर्क से प्रतिकृत होती है तो भाव पैदा होते हैं और जब उन भावों के संकलन तथा सम्पादन की आवश्यकता होती है तो विचारों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार विचार और भाव सृष्ट जगत् के अनुभव और उस अनुभव के उपयोग से समृद्धिमान् होते हैं। इसीलिए विद्वान् लोग कहते हैं कि मानवजाति की अनुभूतियों का युग-युगांतर-सञ्चित जो कोष है उसी का नाम साहित्य है। यह कोष वर्णमाला की सुगठित पिटारियों में रक्खा जाता है।

भावानुभूति के संचय का नाम 'कविता' पड़ गया। 'कविता' या 'काव्य' साहित्य का एक अङ्ग है। परन्तु कविता साहित्य का इतना प्रमुख अंग है कि प्रायः 'साहित्य' शब्द का प्रयोग काव्य-साहित्य अथवा ललित साहित्य के ही अर्थ में कर लिया जाता है। और यदि देखा भी जाय तो, साहित्य का उदय कविता से ही हुआ है। संसार के किसी भी साहित्य को देख लीजिये, उसके प्रारम्भिक युगों में आपको कविता का ही निर्माण किया गया दिखाई देगा। सच बात यह है कि भाव और विचार के बीच, जैसा कि हम अभी देख चुके है, भाव ही अधिक मौलिक, प्रबल और तीव्रतर तत्व है जो मनुष्य-व्यक्ति ही नहीं, बल्कि विश्वभर की सत्ता और स्थिति को आन्दोलित करते रहने की सामर्थ्य रखता है। कारण:—वह प्रकृति-पक्ष में रजोगुण की, आत्मपक्ष में आनन्द की संचरण-पद्धति का निर्णय करता है।

विचार उसका सहायक होता है, सलाहकार अथवा मन्त्री के रूप में उसको प्रभावित और परिष्कृत भी करता है; परन्तु भाव विचार का शासन करता है। भाव आनन्द और सक्रियता का प्रतीक है और विचार स्थैर्य का। साहित्य में तो सहज आनन्दवृत्ति और रजोगुण की सक्रियता का ही बोलबाला है। साहित्य में हमारी अनुभृति अनुभूतिमात्र नहीं रह जाती, वह प्रस्फुरित होकर आत्मप्रकाश भी करती है। अतएव हम कह सकते हैं कि—विश्व के चेतन-अचेतन, अर्थात् ब्रह्म तथा प्रकृति, के सामंजस्य-भाव के परिणामरूप नामरूपात्मक जगत् की सक्रीड़ता जब हमारे भीतर किसी प्रकार की स्वानुरूप अनुभूति की उद्‌भावना करती है और जब हम उस अनुभूति का उद्धार करने के लिए विवश हो जाते हैं तब साहित्य या काव्य की उत्पत्ति होती है। अनुभूतियों और उनकी सक्रियाओं का व्यापार चिरन्तन है, वह सदैव चलता ही रहता है। अतः साहित्य भी चिरन्तन ही है। इस भाँति साहित्य मानव जाति की अनुभूतियों का, कह लीजिये, कोष हो जाता है और हमारी आनन्दस्फुरण रूप जीवनगति का इतिहास। इतिहास की हैसियत से वह हमारे जीवन का पथ-प्रदर्शक बनने की क्षमता रखता है। इसीलिए साहित्य-काव्य को जीवन की आलोचना भी कहा गया है। कोई लोग इसे जीवन का प्रतिबिम्ब और युगों का प्रतिनिधि भी कहते हैं। हम देख सकते हैं कि उसकी इस हैसियत में काव्य की शक्ति अद्वितीय है और उसका स्थान अग्रणी का स्थान है।

भाव का सम्बन्ध मनुष्य की सहज वृत्तियों, उसकी रुचियों और अरुचियों से है। यह आसक्ति का व्यापार है। हमारी रुचियाँ, प्रवृत्तियाँ, आसक्तियाँ हमको प्रिय लगती हैं। हमारे भाव हमको प्रिय हैं। हमारे भावों की कथा भी हमको प्रिय है। इसीलिए कविता लोगों को अच्छी लगती है।

जो हमें अच्छा लगता है उसे सुन्दर कहते हैं। हमारी प्रवृत्तियाँ

आदि, अर्थात् भाव, हमारे लिए सुन्दर है। उनकी चर्चा भी सुन्दर है। इसलिए काव्य-साहित्य में हम सौन्दर्य की तलाश करते हैं। कविता सुन्दर होती है। कविता में सौंदर्य होता है, या होना चाहिए, इसी हेतु से काव्य-साहित्य अथवा भाषा साहित्य को 'ललित साहित्य' कहते हैं।

तो, यह सौन्दर्य अपने मूल अन्तरंग रूप में, जैसा कि स्पष्ट हो चुका है, भाव-सौन्दर्य ही है। परन्तु बाह्य, भौतिक रूप में भी उसकी कामना का अभिलक्षित हो जाना सहज है। कविता का भौतिक रूप वाणी में दृष्टिगोचर होता है; अतः कविता का भौतिक सौन्दर्य उसका नाद-सौन्दर्य है जो संगीत का लक्षण है। इसीलिए कविता में पद्य देखा जाता है। भावसौन्दर्य की दृष्टि से संगीत अथवा पद्य अनिवार्य नहीं है, परन्तु सहयोगी सौन्दर्यों के परस्पर-साधनत्व में एकाधिक सौन्दर्यों का मेल शोभा-वृद्धि का हेतु बनकर स्वाभाविक-सा तो हो जाता है। संगीत में भी तो हम भाव-सौन्दर्य की कामना कर लेते हैं। इसी प्रकार कविता में भी भाव-सौन्दर्य के साथ-साथ नाद-सौन्दर्य अथवा पद्य का रहना स्वाभाविक-सा हो गया है। और, जिस प्रकार भाषा को भाव अथवा विचार की अनुगामिनी कहा गया है उसी प्रकार कविता में भाषा के उपलक्षण नाद-सौन्दर्य को भाव-सौन्दर्य का अनुगामी मानना आवश्यक है। भावों के अनुरूप विशेष-विशेष प्रकार के छन्दों का उपयोग कविता में वांछनीय है। भाषा की वर्णावली या पदावली की भाँति ही चुने हुए छन्दों का प्रयोग भी भावानुरूप गुणों, माधुर्य आदि, का सम्पादक होता है।

भाव-सौन्दर्य, नाद-सौन्दर्य और भाषा के प्रयोगों की समीचीनता के विषय में काव्यशास्त्र, छन्दःशास्त्र, व्याकरण आदि में कहा गया है। प्रत्येक काव्य-समीक्षक को इन शास्त्रों का थोड़ा-बहुत ज्ञान शायद होता ही

है। शास्त्र में सौन्दर्य के व्यापक सर्वमान्य, अर्थात् जो अधिकाश जनता की सौन्दर्य-रुचि को अपील करने वाले हों, तत्वों को नियम का-सा रूप दे दिया जाता है। नियम का रूप देना भविष्य में नियम-पालन की भूमिका बन जाता है। अर्थात् फिर जो कोई भी भाव-सौन्दर्य, अपनी आनन्दानुभूति का उद्धार करेगा उसे उन-उन नियमों का पालन करना पड़ेगा। यहाँ से काव्य का कोर्स दो मार्गों में विभक्त हो जाता है, जिन्हें आजकल के एकाध विद्वान् ने 'भावपक्ष' और 'कलापक्ष' के नाम दिये हैं। यही साहित्य के हक में बड़ा भारी अनर्थ हो जाता है। नियम-निर्देश के बाद बहुत से लोग यह अवश्य समझने लगते हैं कि नियमों का पालन करने से ही वे साहित्य-सर्जना कर सकेंगे। नियमों का पालनमात्र साहित्य की 'कला' बनकर साहित्य का गला घोंट देता है। रीतिकाल की कविता को देख ले।

वस्तुतः साहित्य में भावपक्ष और कलापक्ष जैसी दो चीजें हैं ही नहीं। जिसे कलापक्ष कहा जाता है, अर्थात् शास्त्र, वह वस्तुतः भावपक्ष की व्याख्या, उसका ही विस्तार, है। उसे 'नियम' क्यों कह दिया गया?— जिससे भावदैन्य से पीड़ित प्राणियों में गुलामी की प्रवृत्ति द्वारा कविम्मन्य बनने की महत्वाकांक्षा हुई। सौन्दर्य का आनन्द क्या गुलामी से हासिल होता है? --अथवा, अपने मूलाधार की दृष्टि से, आत्मस्थिति या आत्म-संरक्षण क्या गुलामी से हो सकता है? 'नियम' वह है जो टल न सके, जैसे कि प्रकृति के नियम। शास्त्र की व्याख्या को यदि 'नियम' कहे-बगैर काम न चले तो यह ध्यान रखना आवश्यक है कि साहित्यशास्त्र, या कोई भी शास्त्र, प्राकृतिक नियमों की भाँति स्थायी और अपरिवर्तनीय नहीं है।

जिस प्रकार समय परिवर्तनीय है उसी प्रकार समय-समय के आचरण और व्यवहार की धाराएँ भी परिवर्तनीय हैं और जो किसी समय अथवा युग का रूप है वही उस समय के लोगों के जीवन का, उनकी अनुभूतियों

और प्रतिक्रियाओं, का भी रूप है। अतः यह भी सर्वत्र देखने में आता है कि सदा किसी एक ही आदिमशास्त्र का अनुसरण कायम नहीं रहता। उदाहरण के लिए, वर्तमान समय में प्राचीन शास्त्रीय छन्दोनियमों की अवहेलना, रबड़-छन्द आदि का व्यवहार, वर्तमान समय के किसी प्रभाव-विशेष—जीवनगति के रूपविशेष—का ही द्योतक हैं। फलतः रबड़-छन्द की भी कोई अपनी विशेषता है।

परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि शास्त्र के साथ-साथ मूल तत्वों में भी परिवर्तन हो जाता है। मूल तत्त्व, जिनपर समाज की, मानवता की, साहित्य की, स्थिति अनिवार्यतः निर्भर है परिवर्तनीय नहीं है। मानवता के स्थितिरूप भावादिक-तत्व सदा और सर्वत्र एक ही रहते हैं। कौन-सा कवि यह कहने का दुःसाहस कर सकेगा कि वह भावादिक मूल मानव-तत्वों का तिरस्कार करके कविता कर सकता है?

समय के प्रभाव में केवल इतना होता है कि वे परिस्थितियाँ बदल जाती हैं जिनके बीच भावादिक को अपनी क्रीड़ा करने का अवसर मिलता है। किसी पुराने जमाने में जिसके प्रति क्रोध होता था, या जिसपर घृणा होती थी, उसके सामने हम खुल्लमखुल्ला तलवार या लाठी लेकर आ जाते थे और जरा-सी ही देर में झटपट निपटारा कर लेते थे। परन्तु आज-कल की परिस्थितियों में यह सब नहीं होने पाता। निपटना भी चाहें तो निपटते हुए झिझकते हैं, क्योंकि अपमान आदि का बदला लेने के लिए भी हम स्वतंत्र नहीं हैं। ऐसा करना एक राजकीय जुर्म हो जाता है। बहादुरी आजकल अपराध है। अतएव क्रोध, प्रतिरोध आदि वृत्तियों को हम कायरतापूर्ण ढँग से चरितार्थ करते हैं। हम कूटनीतिज्ञता से, षड्यंत्र से, काम लेते हैं—हम धोखा देते हैं। परन्तु इस प्रकार परिस्थितियों के बदल जाने पर भी क्रोधादिक मूल भाव तो अपना काम करते ही हैं, और

कदाचित् उतनी ही तीव्रता के साथ जितनी तीव्रता के साथ वे हमेशा से करते आए हैं। इसी प्रकार क्या किसी ने प्रेम करना या हँसना छोड़ दिया है? - परिस्थितियों के भेद से इन वृत्तियों के आचरण का रूप भले ही बदल गया हो।

कहने का तात्पर्य यह है कि कविता में समय का प्रभाव भी अवश्य दर्शनीय रहता है। कवि मूल-तत्वों की भी अवहेलना नहीं कर सकता और अपने समय की भी नहीं। 'साहित्य समाज का दर्पण होता है', 'कवि अपने समय का प्रतिनिधि होता है', आदि तरह-तरह की साहित्यिक कहावतें हम सुना करते हैं। यथार्थ में मूल-तत्वों की अवहेलना और अपने समय की अनवहेलना—ये दोनों बातें—एक ही हैं। उपर्युक्त कहावतों का अभिप्राय यही है कि कवि मूल-भावों की यथार्थता को उनकी अपने समय की व्यवहार-प्रणाली के साथ देखता है। जो कवि मूल-भावों को नहीं समझता, या फिर, जो अपने समय के साथ उन भावों के सामंजस्य को देख सकने में असमर्थ है वह सत्कवि नहीं बल्कि कुकवि है। वैसे तो हम यहाँ तक कह सकते हैं कि कुकवि भी प्रायः अपने समय के प्रतिनिधि हो सकते हैं। क्योंकि यदि किसी समाज में एक हजार कवि हैं तो उनमें कुकवियों की संख्या एक-दो ही नहीं हो सकती—अकेला कुकवि इतने अधिक सुकवियों में अपनी कविता प्रकाशित कराने का साहस ही न कर सकेगा। एक हजार कवियों के समाज में कुकवियों की संख्या भी काफी ही होगी और वह इस बात की सूचना देगी कि अमुक समय में अमुक समाज के लोग अपनी मानव-स्थिति के आधार-तत्वों की ओर से तथा अपनी सामयिक परिस्थितियों की ओर से जिन परिस्थितियों में वे आधार-तत्व अपनी जीवन-प्रतिष्ठा करते कहाँ तक निस्पन्द, निर्जीव, हो चुके थे। रीतिकाल का अधिकांश साहित्य इस प्रकार की सूचनाओं से ओत-प्रोत है। कविता के भीतर वह समय के प्रभाव का नकारात्मक या असत्तात्मक (Negative)

रूप है। परन्तु जिस समाज मे और जिस समाज के कवियों में जीवन-स्रोत अवरुद्ध नही होता उस समाज की कविता में उसके युग का सत्तात्मक (Positive) रूप ही विशेषत: विद्यमान रहता है। भावों और वृत्तियों की सक्रिय प्रेरणा से यह रूप सत्तात्मक, स्पन्दनयुक्त बनता है। हमारे वर्तमान समय और उसकी कविता में हमें इसका उदाहरण मिलता है।

इस उदाहरण के अनुशीलन में हम देखते है कि भारत का वर्तमान संघर्ष का समय है। आज हमारा जीवन आध्यात्मिक, सामाजिक और राजनैतिक संघर्षों से भरा हुआ है। संघर्ष के समय में कोमल और उग्र दोनों ही प्रकार की वृत्तियाँ, अपनी विरूप अथवा प्रतिरूप परिस्थिति मे अपने को चरितार्थ करने के लिए स्वयं संघर्ष करती हैं जिससे उनकी प्रगति तीव्रतर होती है। वृत्तियों के जीवन और उनकी चरितार्थता के लिए, जिसका अर्थ यह है कि मानव-जीवन की स्थिति के लिए, संघर्ष का बहुत बड़ा मूल्य है। इसीलिए भारतीय शान्तियुग के नाटकों में भी 'नियताप्ति' अवस्था का आयोजन है और संसार के समस्त कथा-साहित्य में संघर्ष तत्व भरपूर दिखलाई देता है। जिस प्रकार साहित्य में संघर्ष-तत्व के बिना पराकाष्ठा (climax) सम्भव नहीं उसी प्रकार जीवन में भी संघर्ष से ही जीवन की चरितार्थता की पराकाष्ठा सम्पन्न होती है। कहने का अभिप्राय यह है कि वर्तमान समय संघर्ष का समय होता हुआ वृत्तियों के सक्रिय जीवन का भी समय है। आज के भारतीय समाज में कुछ इने-गिने अति भाग्यशाली, या अत्यन्त दलित नौकरी-पेशा, लोगों तथा मध्यवर्गीय व्यापारियों (दूकानदारों) को छोड़कर हर-कोई इस संघर्ष का अनुभव कर रहा है और उस संघर्ष के बीच में अपने को जीवित रखने के लिए आतुर है। और जब तक उसे कोई प्रशस्त मार्ग नहीं मिलता, उसकी यह आतुरता दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही जाती है। ऐसी अवस्था में हमारे वर्तमान साहित्य और काव्य में मौलिक मानव-वृत्तियों की सजगता का विशेषता के साथ दृष्टिगोचर होना स्वाभाविक

है। कौन ऐसा व्यक्ति होगा कि इस दशा की ओर एक-दम आँखे मूँद सके ?

हमारे संघर्षों का मूल उत्तरदायित्व हमारी अर्थात् शासित-शोषित प्रजावर्ग की, राजनैतिक दलितावस्था पर है। अतः संघर्षों में से सब से विषम संघर्ष हमारा स्वतन्त्रता का संघर्ष है। देश-प्रेम-सम्बन्धी कविताएँ आजकल विशेष रूप से दिखाई देंगी, जिनमे प्रायः ओज और उत्साह का बड़ा उज्ज्वल विकास उछलता हुआ मिलेगा। तथापि यह आवश्यक नहीं है कि देशप्रेम की रचना में सर्वत्र ओज ही विद्यमान होना चाहिए। राष्ट्रीय संघर्ष देश की अति प्रधान भाव-प्रक्रिया का रूप बनकर यदि स्थायी भाव की भाँति प्रतिष्ठित होता है तो इतर भाव उसके सहकारी संचारियो के रूप में स्वाभाविक हो जाते हैं। संघर्ष में अपनी वस्तु के प्रति मोह का बढ़ जाना सहज है, जो रति का लक्षण है। वर्तमान समय की कविता में जहाँ-कहीं हमें अपनी मातृ-भूमि के सहज प्राकृतिक सौन्दर्य और नाना गुणों का गान मिलता है वहीं हम संघर्ष-समस्या से उत्पन्न रतिभाव के संचरण को टटोल सकते हैं। जहाँ हमें वर्तमान के साथ अतीत की तुलना का भाव अथवा अतीत के प्रति मोह-भाव दिखाई देता है वहाँ करुणा का अभिलक्ष्य कुछ-न-कुछ सिद्ध होता हुआ प्राप्त होगा। अतीत के गौरव-गान में वर्तमान का संकेत लक्षणा या व्यंजना द्वारा (अर्थात्, परोक्ष भाव से) संघर्षोन्वित उत्साह का प्रतीक बन जाता है। वर्तमान समय के काव्य में इस प्रकार की वस्तु-निबन्धना, देश की व्यापक भाव-परम्परा का प्रतिनिधित्व करती है।

इस नए समय की, नए ढंग की अशान्ति में हमारे कहने-कहलाने का ढंग भी कुछ बदला हुआ सा होना ही चाहिए। मन जब घोर रूप से आन्दोलित होता है, वृत्तियाँ जब अति उत्ताल होती हैं, तो इन्द्रियों के

आचरण पर काबू कम रह जाता है। फलतः वर्तमान साहित्य में नई-नई प्रणालियाँ, नया-नया वाणी-विन्यास, नए-नए छन्द-बन्ध, नई-नई भाव-भंगिमाएँ भी देखी जाती हैं।

वर्तमान हिन्दी-साहित्य की प्रगति का यह उदाहरण साहित्य और साहित्य-शास्त्र के पारस्परिक सम्बन्ध में और शास्त्र की सीमाओं का कितना अच्छा निदर्शन करता है! रीतिकालीन काव्य और आज के काव्य की तुलना से तो यह निदर्शन और भी अधिक स्पष्ट हो जाएगा। जिस अंश में शास्त्र ने, 'नियम' बनकर, मध्ययुगीन साहित्य का नियमन और उस पर अत्याचार करना चाहा था उससे अधिक अंश में आज वह, अपनी 'नियम'-पदवी से च्युत होकर, अपने शासनाधिकार से च्युत हो रहा है। हम देखते हैं कि उसके किन्हीं-किन्हीं अंगों —रीति, अलंकार छन्द आदि —की तो स्पष्ट अवहेलना ही हो रही है। परन्तु जिस अंश तक वह अपनी सौन्दर्यानुशीलन की सहज, मौलिक प्रेरणा (भावोद्गार, रसचयन) में अक्षुण्ण है उस अंश तक वर्तमान साहित्य में भी वह अपने उत्तरदायित्व से विचलित नहीं है। और, सच पूछा जाए तो, इसका कारण भी यही है कि उसने अपनी 'नियम'-पदवी को छोड़ दिया है। बात बिलकुल प्रत्यक्ष है। क्या यह कहा जा सकता है कि आजकल साहित्य और कविता का सृजन नहीं हो रहा है! कालिदास और तुलसीदास न सही; आजकल तुलसीदास तो शायद बहुत-से मिल ही जाएँगे। इसमें आश्चर्य भी क्या है? झुलसने की अनुभूतियों और प्रतिक्रियाओं में और कौन-से 'दास' या स्वामी हमें मिल सकते हैं? हमारा झुलसने का उद्गार ही आज हमारी आनन्द-वृष्टि है।

———

: २३ :

साहित्य में कहानी और उपन्यास

वृत्तकाव्य अर्थात् कथाकाव्य के सामान्य तत्वों का सब प्रकार की रचनाओं—नाटक, प्रबन्धकाव्य, चम्पू आदि—में किसी-न-किसी मात्रा में रहना अनिवार्य होता है। इन तत्वों के उपयोग भेद तथा विन्यासप्रणाली की विभिन्नता से अलग-अलग वृत्तप्रकारों का उदय होता है। उपन्यास और कहानी भी दो विभिन्न प्रकार हैं।

उपन्यास और कहानी भी अन्य वृत्तप्रकारों की भाँति अनुभवमूल स्मृति और विस्मृति के आधार को लेकर, प्लॉट-चरित्र आदि की कल्पना पर संवेदना के केन्द्र में स्थित होते हैं। ये दोनों कथाप्रकार देखने में बहुत-कुछ एक-से मालूम होते हैं, जिससे इनके भेद को पहचानने में अवश्य कठिनता होती है। जनसाधारण समझते हैं कि जो गद्य कथा छोटी—सामान्यत: दस-पाँच से तीस-चालीस पृष्ठ तक की—होती है वह 'कहानी' कहलाती है और जो बड़ी होती है वह 'उपन्यास'। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि हिन्दी की पत्रिकाओं में प्रकाशित होनेवाली अधिकांश कहानियाँ वास्तव में छोटे उपन्यास होती हैं, परन्तु वे समझी जाती हैं कहानी ही। रूप और वर्णनरीति में उपन्यास और कहानी में इतनी अधिक समानता है कि उनके पृथक्-पृथक् दृष्टिकोण की ओर लोगों का ध्यान कम जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि गद्यकथा का विवेचन करते हुए विद्वानों में सर्वत्र कहानी की आकार-लघुता पर जोर दिया है। कोई कहते हैं कि कहानी इतनी

लम्बी हो कि तीस मिनट के अन्दर आसानी से पढ़ी जा सके और कुछ का मत है कि उसकी लम्बाई तीन-चार-सौ शब्दों से लेकर तीन-चार-हजार शब्दों तक की होनी चाहिए। तमाम विद्वानों के एक मत से ऐसी व्यवस्था करने के कारण ही लोगों का विश्वास कहानी की लघुतामात्र पर स्थित हो गया। परन्तु जहाँ एक ओर पचीस-तीस पृष्ठों के उपन्यास लिखे जा सकते और लिखे गए हैं, वहीं दूसरी ओर मोपासाँ ने 'युवेट' (yoette), जैसी सौ-सौ पृष्ठ की कथाएँ लिखी हैं जो कहानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। शरत्‌बाबू के सौ-सौ पृष्ठ के 'मँझली दीदी', 'बड़ी दीदी' आदि उपन्यास हैं। अतः कहानी के आकार की कोई ऐसी अन्तिम सीमा निर्धारित करना, जिससे ऊपर लिखी गई रचनाएँ उपन्यास ही कहलाएँगी, उतना ही कठिन है जितना उपन्यास की किसी ऐसी निम्न-सीमा का निर्धारित करना, जिससे नीचे लिखी गई रचनाएँ कहानी ही कहलाएँ।

तथापि इतनी बात अवश्य माननीय है कि आकार की दृष्टि से कहानी को उपन्यास की अपेक्षा बहुत अधिक नियन्त्रित रहना पड़ता है। उपन्यास की गति बहुत अधिक उच्छृंखल हो सकती है। हजार-हजार, दो-दो हजार पृष्ठों के उपन्यास तो संसार में हैं ही; यदि उपन्यास क्षेत्र में कोई व्यासदेव पैदा हो जाएँ तो दस-हज़ार पृष्ठ का उपन्यास बन जाना भी सम्भव है। कहानी इतनी बड़ी अवश्य नहीं हो सकती। कितनी बड़ी हो सकती है, यह कह सकना भी कठिन है। संसार के मौजूदा साहित्य को देखते हुए अधिक-से-अधिक यह कह सकते हैं कि अभी तक सौ पृष्ठ से बड़ी कहानी नहीं लिखी गई और इसलिए शायद डेढ़ या दो सौ पृष्ठ की कहानी लिखना दुःसम्भव हो। इसके सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि अधिक लम्बी कहानी लिखना अति दुष्कर कार्य है। अवकाश के प्रलोभन में पड़ कर लेखक के लिए प्रायः परिस्थितियाँ-उपपरिस्थितियाँ, संवेदनाएँ-उपसंवेदनाएँ या चरित्र का विकास आदि दिखाने की प्रवृत्ति का संशय उपस्थित

हो जाता है और वह उपन्यास के मार्ग पर चलने लगता है। प्रेमचन्द ने 'दो सखियाँ' नाम की एक कहानी सौ-सवासौ पृष्ठों में लिखी है, परन्तु वह कहानी न रह कर उपन्यास हो गई है। साधारणतः सात-आठ से लेकर बीस-पच्चीस पृष्ठ तक की ही कहानियाँ संसार के साहित्य में अधिक पाई जाती हैं।

कहानी के आकार के इस प्रारम्भिक प्रश्न का थोड़ा-बहुत निर्णय कर लेने पर अब हम उसके सिद्धान्तों का विचार कर सकते हैं। विस्तार नियमित होने के कारण कहानी का कार्यक्षेत्र अवश्य संकुचित हो जाएगा। इस संकोच को देखते हुए कहानी-कला के लगभग समस्त मीमांसकों ने यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि कहानी में एक ही प्रधान तथ्य, एक ही संवेदना, का प्रकाश होना चाहिए। परन्तु कहानी के प्रारम्भिक विकास में उसके विस्तार-संकोच के कारण यह सिद्धान्त निश्चित हुआ था या इस सिद्धान्त के कारण संकोच का नियम बना, इसके जानने का कोई विशेष साधन नहीं है। कारण यह है कि उस प्रारम्भिक काल में छोटी कहानी और उपन्यास-बीज बड़ी कहानी का शास्त्रीय भेद न होने से उनके निर्धारक सिद्धान्तों तथा नियमों की भी कल्पना नहीं हुई थी। सिद्धान्तों की खोज किसी एक प्रकार की वस्तु के प्रचार में आ जाने के बाद ही हुआ करती है। तथापि जो बातें कालान्तर में नियम बन जाती हैं प्रारम्भ में उनके बीज या उनकी एक प्रकार की अलक्ष्य प्रेरणा का उदय तत्सम्बन्धी जनता के मस्तिष्क में अवश्य हो जाता है। लेखकों के लिए स्थानावकाश की कमी उन दिनों में नहीं थी। जिस प्रकार आजकल के लेखक कहानी को थोड़े से ही स्थान में समाप्त कर देने के लिए बाध्य हैं उस प्रकार 'ईसप' या 'हितोपदेश' की कहानियों के लेखक नहीं थे। अतः केवल अनुमान से इतना कहा जा सकता है कि शायद एकतथ्यवाली प्रेरणा के कारण ही उनकी कहानियाँ इतनी संक्षिप्त हैं। यदि संकोच की प्रेरणा ही पहली होती तो उनकी कहानियों में साथ-ही-साथ एकतथ्यता का इतना

आग्रह न दिखाई देता और वे संक्षिप्त स्थान में भी विस्तृत विषय की कहानियाँ ही अधिक लिखते। परन्तु इसके विपरीत हम देखते हैं कि उन्हें जो कुछ कहना है—केवल एक बात—उसे झटपट, एक-दो पृष्ठ में ही, समाप्त कर वे चलते-बनते हैं। अपनी बात की बलवती प्रेरणा में वे लालित्य-आदि कला के उपकरणों की भी चिन्ता नहीं करते। उनकी प्रत्येक कहानी के मूल तथ्य में उपदेश का आवश्यक प्रयास रहना हमारे अनुमान को और भी दृढ़ करता है।

तब, कहानी और उपन्यास में प्रथम सैद्धान्तिक भेद एक-तथ्यता का है। यह नहीं कि, कहानी में एक से अधिक तथ्यों की चर्चा ही न होगी; परन्तु अन्य सब तथ्य मूल तथ्य के लिए सेवा-भाव से प्रयुक्त होंगे और जो इस सेवा-कर्म के लिए जरा भी अनुपयुक्त होंगे उनका तिरस्कार किया जाएगा।

मूल अनुभव में स्मृति-विस्मृति की क्रिया-प्रतिक्रिया को देखते हुए, हम कह सकते हैं, कोई एक ऐसा प्रधान तथ्य अवश्य मिलेगा जिसके लिए उस अनुभव की तमाम स्मृति का प्रधान आकर्षण होगा। और यह तथ्य वह होगा जिससे लेखक की संवेदना सबसे अधिक जागरित हुई होगी। इससे हमको एक और सिद्धान्त प्राप्त होता है कि यह तथ्य परम संवेदनात्मक होना चाहिए। क्योंकि वास्तव में उस तथ्य की प्रधानता का अनुभव करना अपने मूल में उसकी संवेदना का ही अनुभव करना है। जितनी संवेदना उससे लेखक को हुई है, पाठक को भी उतनी ही संवेदना यदि न हुई तो पाठक के लिए लेखक की कहानी का प्रभाव नष्ट हो जाएगा। एक ही तथ्य की एक ही उत्कट संवेदना पैदा करना कहानी की जान है।

इस दृष्टि से कहानी और उपन्यास में सबसे पहला और सबसे मुख्य भेद उत्पन्न होता है। उपन्यास में संवेदना नहीं, बल्कि संवेदनाएँ रहती

हैं। यह नहीं कि प्रधान तथ्य की प्रधान संवेदना उपन्यास-लेखक में नहीं होती है। परन्तु उस प्रधान-तथ्य की संवेदना तक पहुँचाने में लेखक की और भी अनेक तीव्र संवेदनाएँ हो चुकी होती हैं, और उपन्यासकार उनसे भी इतना प्रभावित होता है कि पाठक के सामने उनको उपस्थित करना उसके लिए अनिवार्य हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि उपन्यास-कार की कृति मुख्य संवेदना का एक प्रकार का इतिहास-सा हो जाती है। और चूँकि इतिहास का कार्य अधिकतर व्याख्या करना है, व्याख्या संवेदना की उत्तेजना को नष्ट कर देती है। जब हम किसी बात का पूर्ण रहस्य जान लेते हैं तो निस्सन्देह हमारे लिए उसका चमत्कार कम हो जाता है, या बिल्कुल नहीं रहता। हमारे लिए उस रहस्य के ज्ञान का ही आकर्षण हो जाता है न कि रहस्यमय बात का।

एक उदाहरण लीजिए। आप थियेटर के स्टेज पर अँधेरे में एक अति आश्चर्य-जनक दृश्य देखते हैं। तमाम हाल में अँधेरा है और केवल स्टेज के ऊपर धीमे से प्रकाश का एक बल्ब छिपा हुआ है। एक नर्तकी आकर नृत्य करने लगती है। उसके नृत्य की यह विशेषता है कि प्रत्येक नए आवर्तन में, या प्रत्येक नई भाव-परिस्थिति मे, उसकी साड़ी का रंग भी बड़ी मनोहरता के साथ बदल जाता है। दर्शक तालियाँ पीट उठते हैं। परन्तु इस रहस्य का पारिभाषिक ज्ञान रखने वाला व्यक्ति आपकी जिज्ञासा का केवल यह उत्तर देता है—"यह तो बड़ा आसान है। पात्रों के प्रवेश-द्वार के पीछे एक "मैजिक लैंटर्न" रक्खी हुई है जिसके साथ फ़ोकस करने का भी प्रबन्ध है। और भिन्न-भिन्न रंगों तथा रंगच्छायाओं के 'स्लाइड्स' या 'प्लेटों' द्वारा आपको साड़ी के नए-नए रंग दिखाई देते हैं। इतना जानने के बाद आपके लिए केवल इस रहस्य का चमत्कार रह गया और साड़ी के नए रंग-परिवर्तनों से अब आप उतना प्रभावित नहीं होते। इसी प्रकार जब शोबेदबाज़ आपको ताश का एक पत्ता दिखा कर क्षण भर में उसके

स्थान में दूसरा पत्ता दिखा देता है तो, आप उससे चाहे कितने ही चमत्कृत हों, जानकर केवल यही कहेगा कि इसमें क्या रक्खा है ?

परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि कहानी लिखना एक शोबदेबाजी है। शोबदेबाजी में आश्चर्यजनक घटनाओं को हम केवल कुतूहल से देखते हैं और उनमें अलौकिकता का आरोप करके सन्तुष्ट हो जाते हैं। कहानी में हम प्रायः शोबदेबाजी का-सा प्रभाव तो चाहते हैं लेकिन लेखक को अमानुषिक या अप्राकृतिक शक्तियाँ नहीं देना चाहते। ऊपर के दो उदाहरणों से सिद्ध होता है कि व्याख्या संवेदना की तीव्रता को नष्ट कर देती है। कहानी में एक ही तो संवेदना है। हम व्याख्या-द्वारा उसे नष्ट भी नहीं करेंगे। व्याख्या और अलौकिकता का समाहार तब कैसे होगा ?

कहानी में व्याख्या नहीं की जाती, परन्तु पाठक के लिए व्याख्या की किञ्चित् सामग्री रहती है। लेखक व्याख्या नहीं करता परन्तु कहानी के अन्त में पाठक को जब वह अपनी संवेदना दे-देता है तो पाठक अपनी कल्पना के सहारे कहानी के शरीर में ही उसका समाधान भी पा लेता है। इसका परिणाम यह होता है कि संवेदना की तीव्रता भी बनी रहती है और उसकी स्वाभाविक उपपत्ति भी। शोबदेबाजी जीवन की वस्तु नहीं है। कहानी में जीवन-सम्बन्धी संवेदना रहती है, और जीवन-सम्बन्धी बातें अलौकिकता की रीति पर ग्रहण नहीं की जा सकतीं।

सारांश में हम कह सकते हैं कि कहानी की संवेदना का प्रभाव पाठक के लिए *कुछ-कुछ आकस्मिक-सा, और इसलिए किञ्चित् असामान्य-सा* होता है; यद्यपि उसका लौकिक समाधान कहानी में वर्तमान रहता है। कहानी की संवेदना के असामान्य प्रभाव में अब हम कहानी और उपन्यास की विन्यास-प्रकृति के भेद को स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। यह हम देख चुके हैं कि उपन्यास में उसकी व्याख्या-प्रणाली के कारण संवेदना की आकस्मिकता और असामान्यता नहीं रहती। उपन्यास में प्रधान संवेदना

अन्य अंशतः प्रधान संवेदनाओं के परिणाम के रूप में दिखाई जाती हैं। ये अंशतः प्रधान संवेदनाएँ एक ओर तो पाठक को धीरे-धीरे अन्तिम तथ्य के लिए तैयार करती चलती हैं और दूसरी ओर स्वयं उसका इतना चित्ताक्षेप करती रहती हैं कि पाठक उनकी उत्तेजना में जकड़ा जाकर तत्क्षण किसी अन्य संवेदना की चिन्ता नहीं कर पाता। एक सामान्य मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य एक विशेष मानसिक पद्धति का अनुसरण करते रहने पर उसका थोड़ा-थोड़ा अभ्यस्त हो चलता है। अनेक संवेदनाओं की परम्परा में संचरण करते हुए, उपन्यास-पाठक भी निश्चित, यद्यपि अज्ञात, रूप से उनका अभ्यस्त होता चलता है और नई संवेदनाओं का प्रभाव उसके लिए उतना तीव्र नहीं रहता जितना कि उनको पहली बार प्राप्त करने पर होता है। चन्द्रकान्ता उपन्यास पढ़ते समय उसकी असाधारण घटनायें शुरू-शुरू में हमको जितना उत्तेजित करेंगी, बाद में उनका स्वभाव-परिचय हो जाने पर उतना नहीं करेंगी। पर, इससे यह न समझना चाहिए कि अनुगामी संवेदनाओं की शिथिलता के कारण उपन्यास का महत्व ही कुछ नहीं रहता। यदि सूक्ष्म रूप से देखा जाए तो पता लगेगा कि कहानी की संवेदना एक प्रकार की है और उपन्यास की दूसरी प्रकार की। दोनों का अपने-अपने ढंग का महत्व है। उपन्यास की संवेदनाओं का उद्देश्य पृथक्-पृथक् प्रभावित करना नहीं है, बल्कि वह परिस्थिति या पात्रों के एक वातावरण की संवेदना उपस्थित करता है और समस्त उपन्यास की संवेदना इन तमाम संवेदनाओं की समष्टि होती है। कहानी की संवेदना सबसे पृथक् रहती है और इसीलिए उसे तीव्रतम होने की आवश्यकता है।

: २४ :

कथा-साहित्य के आधारतत्त्व

उपन्यास, कहानी, नाटक, प्रबन्ध-काव्य आदि कथा-साहित्य के अङ्ग हैं और इनमें अतीत का वर्णन होता है। वास्तव में जितनी कथायें कही जाती हैं वे अतीत की ही आश्रित होती हैं। कल्पित या यथार्थ हो-चुकी घटनाओं अथवा हो-चुके मनुष्यों का ज़िक्र ही कहानी में होता है। कहने वाला हमसे इस प्रकार कहता है मानो उसने उन घटनाओं और मनुष्यों आदि को देखा हो मानो उसने उनका स्वयं अनुभव किया हो। वह उनके जरा-जरा से कार्यों, जरा-जरा से रहस्यों, जरा-जरा सी बात-चीत के ज्ञान का दावा रखता है, यहाँ तक कि अपने पात्रों के हृदयों के भी गुप्त से गुप्त रहस्यों को वह जानता है। हम उसका विश्वास करते हैं और उसके अनुभवों को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेते हैं।

किसी अनुभव को दूसरे से कहने में स्मरण-शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। कहानी कहने वाले को भी अपनी अनुभव-रूप कहानी कहने में स्मरण की—परन्तु उससे अधिक विस्मरण की आवश्यकता होती है। यही विस्मृति-प्रधान स्मृति कहानीकार का सर्वस्व है। क्योंकि किसी अनुभव के समय हमारे भीतर एक साथ न मालूम, कितनी संवेदनायें और उपचेतनायें उठती हैं जो बहुत अस्पष्ट और आकुलित सी रहती हैं। रेल की यात्रा करते समय गाड़ी की गड़गड़ाहट, यात्रियों का लड़ाई-झगड़ा, बाहर के खेतों और जंगल का दृश्य, हवा की तेज़ी, धुएँ की बदबू आदि से लेकर आपकी बीड़ी पीने की एक अस्पष्ट कामना, टाँग फैलाने के लिए जगह की तंगी, थर्ड-क्लास की लकड़ी की बर्थ पर

बैठने की असुविधा, कुछ छोड़े हुए स्थान की स्मृतियों और कुछ उद्दिष्ट स्थान की कल्पनाओं तक असंख्य छोटी छोटी बातें प्रतिक्षण अज्ञात-रूप से आपके तात्कालिक अनुभव को घनीभूत और संकुलित करती रहती हैं। इस तमाम अनुभव-समष्टि को स्वयं ही समझना कठिन रहता है, दूसरे के सामने दोहराना तो असम्भव है। अतः जब हम अपना अनुभव दूसरे के सामने कहते हैं तो न मालूम कितनी असंख्य बातें उनमें से छूट जाती हैं। जो याद रह जाती हैं वही कही जाती हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि जो बातें याद रह जाती हैं वे हमारे अनुभवों का परम तीव्र और प्रधान अङ्ग होती हैं। स्मरण-शक्ति का यह गुण है कि वह अति प्रधान को ग्रहण कर अति गौण को छोड़ देती है, जिससे हमारे अनुभवों में सरलता और क्रम-बद्धता आ जाती है। किसी प्रकार की कहानी लिखने वाले के लिए भी उसके अनुभव-समूह में जो बात सबसे अधिक उसके हृदय पर प्रभाव डालती है, जिससे उसकी संवेदना पर सबसे अधिक आघात होता है, वही उसकी स्मृति से छन कर उसकी कहानी का लक्ष्य बन जाती है।

स्मृति की इस स्वाभाविक क्रिया के साथ-साथ, साहित्यिक कहानी-लेखक के लिए विस्मृति का महत्व और भी बड़ा है। अनुभव की बहुत सी अनावश्यक बातें तो अपने आप ही विस्मृत हो जाती हैं; परन्तु अनेक बातें पिछलगे की भाँति स्मृति के लपेट में चली भी आती हैं और प्रधान संवेदना को विभ्रान्त करती रहती हैं। यदि लेखक की संवेदना अति तीव्र नहीं है तो उसका इन पिछलगों से छुटकारा नहीं। अतएव अपने अनुभव के जिन तथ्यों से वह सर्वाधिक प्रभावित होता है उनसे वह फिर इतना अधिक प्रभावित होता है कि पिछलगों को अवसर ही न मिलने दे। अमरीकन लेखक गार्डिनर ने स्मृति को ही तमाम

महत्त्व दे डाला है, परन्तु वास्तव में साहित्यकार के लिए अनावश्यक की सहज और निपुण विस्मृति के बिना उसकी स्मृति एक कलंक बन जाती है। विस्मरण के महत्व का इस बात से अनुमान किया जा सकता है कि जब कोई व्यक्ति अनुभवों को विस्तार के साथ हमसे बयान करने लगता है तो हम व्यग्रता के साथ उससे कह उठते हैं—"हाँ, हाँ, इन बातों को छोड़ो। जो खास बात है उस पर आओ।"

काल्पनिक वृत्तों में अनुभव नहीं होता और इसलिए उनमें स्मृति-विस्मृति का प्रश्न नहीं उठता, यह न समझना चाहिए। कवि तथा वृत्त-लेखक के लिए साक्षात्कार का सिद्धान्त परम आवश्यक सिद्धान्त है, अतः यद्यपि उसे सम्यक् भौतिक साक्षात्कार प्रायः नहीं होता, तथापि मानसिक साक्षात्कार उसे अवश्य करना पड़ता है। यथार्थ भौतिक तथ्यों के आधार पर काल्पनिक वृत्त में, लेखक अपने मानसिक जगत् के भीतर उन सब व्यक्तियों और घटनाओं की असंख्य क्रीड़ाएँ देखता है जिनका उसके वृत्त में वर्णन रहता है। वास्तव में इस मानसिक अनुभव में वह उन मनुष्यों और घटनाओं से कहीं अधिक मनुष्यों और घटनाओं का साक्षात्कार करता है। इनमें से कुछ थोड़े ही मनुष्य और घटनाएँ उसकी स्मृति में रह जाते हैं; शेष सब विस्मृत हो जाते हैं। इस प्रकार काल्पनिक वृत्त में स्मृति-विस्मृति का दोहरा उत्तरदायित्व रहता है एक बार यथार्थ जगत् के वास्तविक भौतिक आधारों में से बहुतों को विस्मृत कर लेखक शेष को अपने मानसिक जगत् में लाता है, जहाँ मैत्री-न्याय से उनके और अनेक सहचर हो जाते हैं; और दूसरी बार, वह इस मानसिक जगत् में से अपने अत्यन्त सम्बन्धी तथ्यों का संकलन करता है।

हमारी संवेदना के मार्मिक कोण पर ही हमारी स्मृति-विस्मृति का कार्य निर्भर रहता है। एक ही प्रकार की अनुभव-सामग्री में से एक व्यक्ति को एक बात प्रभावित करेगी और दूसरे को दूसरी। इसके

अतिरिक्त कोई व्यक्ति घटना से अधिक संवेदित होता है, कोई व्यक्ति और व्यक्ति के चरित्र से. कोई किसी भाव या विचार की तीव्र अनुभूति से, कोई स्थान तथा वातावरण मे। फल-स्वरूप कोई वृत्त घटना, प्रधान होता है, कोई चरित्र-प्रधान, कोई भाव-प्रधान और कोई वर्णन-प्रधान।

इतनी समीक्षा से हमको वृत्त-काव्य के सम्बन्ध में दो एक सिद्धान्त प्राप्त होते हैं। लेखक अपने वास्तविक अनुभव की असम्भव पूर्णता में से कुछ ऐसे प्रसंगोचित तथ्यों को चुन लेता है जो क्रम से रक्खे जाने पर पाठक के हृदय में उसके वृत्त की यथार्थता की अनुभूति तथा चित्ताकर्षकता उत्पन्न करते हैं। वास्तविकता की अनुभूति जितनी सार्थक-तथ्य को चुन सकने पर निर्भर रहती है उतनी और किसी बात, चरित्र या घटना पर नहीं। क्योंकि चरित्र और घटनायें वास्तविक होने पर भी उनकी सार्थकता का निर्णय लेखक के संवेदना-कोण से ही होगा। सचमुच में सार्थक तथ्य के ऊपर ही चरित्र, घटना या वातावरण की यथार्थता निर्भर रहती है। लेखक की संवेदना ही वह वस्तु है जो उसके सम्पूर्ण चित्र को विविध रंगों से रंजित करती है और चरित्र आदि को रूप प्रदान करती है। इससे वृत्त कवि के सम्बन्ध में दो और सिद्धान्त हमको प्राप्त होते हैं। जिस मर्मस्पर्शी तथ्य से लेखक संवेदित होता है। उसकी संवेदना इतनी तीव्र होनी चाहिए कि वह वृत्त के अन्य सब तथ्यों को अधिष्ठित कर ले। फलतः हम यह भी आशा करेंगे कि लेखक की कृति में उसकी स्वकीय सहृदयता और राग विरागमयी प्रवृत्ति की सच्ची अनुरंजना हो। दूसरे शब्दों में, उसका सच्चा मानवी व्यक्तित्व उसमे वर्तमान हो। यदि उसे सच्ची संवेदना हुई है, तो वह अपने व्यक्तित्व को छिपा नहीं सकता। वृत्त-कवि और इतिहासकार के कर्मों में विशेष विभिन्नता इन्हीं बातों से पैदा होती है। इतिहासकार आत्मानुभव की ऐसी अपेक्षा नहीं करता।

लेखक के अनुभव के प्रथम आधार मनुष्य और उनके कार्य हैं। इसके अनन्तर उसकी विशेष वृत्तियों के साहचर्य से, भाव और विचार

आदि इन सब के लिये एक सामान्य आधार स्थान, परिस्थिति या वातावरण है। जब कोई लेखक अपने वृत्त की मूल सामग्री का पहले पहल अनुभव करता है तो वह स्थान को, व्यक्तियों को और उनके कार्य को देखता है। अतएव उसकी कृति में स्थान, व्यक्ति और कार्य अवश्य होंगे। आख्यायिका-साहित्य की परिभाषा में हम इन्हें विपरीत क्रम से प्लाट, पात्र और वातावरण कहते हैं। प्लॉट उन तमाम घटनाओं की व्यवस्थित समष्टि है जिनका दर्शन हमको कहानी में होता है; पात्र उन घटनाओं के अधिनेता या अधिनीत हैं, और वातावरण स्थान-तथा-अवसर-सम्बन्धी परिस्थिति है। इन तीनों से प्राप्त अनुभव में लेखक को अपनी संवेदना का स्थल मालूम हो जाता है। और फिर उसी संवेदना का स्पष्टीकरण तीनों का उद्देश्य हो जाता है। लेखक तीनों तत्त्वों का पूर्ण उपयोग करता हुआ भी अपनी चोट को दिखाने के लिये लालायित रहता है। चोट को सफलतापूर्वक दिखाना ही कला है।

क्रमबद्धता प्लॉट का एक अति आवश्यक गुण है जिससे वृत्त की घटनावली कारण-कार्य-पद्धति से पाठक के मन पर सरलता से असर करती जाती है। प्लॉट की घटनाओं की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये कि एक घटना दूसरी घटना से स्वाभाविक रूप से सम्बद्ध हो और आगामी परिणामों का पूर्ववर्ती प्रसंगों से स्वाभाविक निःसार हो। परन्तु घटनाओं के कारण-कार्य-सम्बन्ध में यह देखने की बात है कि वह बलपूर्वक बिठाया गया सा न मालूम हो। इसी से यह भी सिद्ध होता है कि प्लॉट या प्लॉट की घटनावली गतिशील हो, स्थिर न हो, प्रत्येक घटना सोद्देश्य हो और उसका उद्देश्य मुख्य संवेदना के अधिकाधिक स्पष्टीकरण की ओर अग्रसर होता हो। यथार्थ अनुभव की असंख्य बातें लेखक के वृत्त में नहीं आ पातीं हैं। यद्यपि उनमें से बहुतों का लेखक की संवेदना जागरित करने में उत्तरदायित्व होता है,—वृत्त में केवल कुछ थोड़ी सी परम सार्थक बातों के द्वारा ही पूर्ण संवेदना उत्पन्न करने की चेष्टा रहती है।

अतः गतिशीलता के साथ-साथ प्रत्येक उपस्थित घटना में कुछ नाटकीय प्रभाव अर्थात् वेग और क्षिप्रता की भी आवश्यकता रहती है। जहाँ दो-चार, या दस-बारह, घटनाओं में ही कथा समाप्त होती है वहाँ एक की भी अलसता कहानी में अनर्थ उपस्थित कर देने के लिये पर्याप्त है। गतिशीलता और वेग का प्रभाव यह होगा कि यद्यपि घटनायें एक-एक करके पाठक की दृष्टि से ओझल होती जायेंगी, परन्तु उनका प्रभाव अन्त तक बना रहेगा और वह संवेदना के संचित उत्कर्ष का साधक होगा।

प्लॉट के सम्बन्ध में उसकी मौलिकता एक दूसरा विचारणीय प्रश्न है। मौलिकता, वास्तव में, नए प्लॉट बनाने या एकदम नई घटनावली ढूँढ निकालने में नहीं है, क्योंकि प्लॉट वृत्त की आत्मा नहीं है। एक अंग्रेजी कहावत के अनुसार संसार में केवल सात मूल कहानियाँ हैं। यही भिन्न-भिन्न लेखकों द्वारा घुमा-फिरा कर, नई-नई संवेदनाओं के साथ, असंख्य रूपों में हमारे सामने लाई जाती हैं। मौलिकता संवेदना की है। एक विभिन्न संवेदना की प्रेरणा से वही कहानी एक दूसरी कहानी बन जाती है। इस प्रकार प्लॉट की मौलिकता संवेदना की विलक्षणता और तदनुरूप घटना-विन्यास में ही है। अन्यथा प्लॉट एक ढाँचा भर है जो संवेदना और भावों की व्यंजना से विहीन होने पर किसी का चित्ताकर्षण नहीं कर सकता। ऐतिहासिक कहानियों के लेखकों को हम अमौलिकता से कलंकित नहीं करते, क्योंकि उनके प्लॉट, पात्र आदि उधार के होने पर भी उनमें लेखक का निजी, संवेदनात्मक और विलक्षण, व्यक्तित्व मौजूद रहता है।

पात्रों की कल्पना में उनके चरित्र की ओर हमारा ध्यान जाता है। प्रत्येक पात्र कुछ कार्य करता है जिसकी निर्धारक उसकी व्यक्तिगत प्रवृत्ति होती है और इस प्रवृत्ति का निर्धारण लेखक के संवेदनाकोण से होता है। जिस लक्ष्य पर लेखक की दृष्टि होती है उसके पात्र उस लक्ष्य के ही

उद्देश्य से प्रवृत्त होते और कार्य करते हैं। जिस प्रकार प्लॉट की तमाम घटनावली अन्ततोगत्वा एक ही संवेदना को उद्दीप्त करने के लिये अग्रसर होती है उसी प्रकार विविध पात्रों की प्रवृत्ति भी, विरोध से या अविरोध से, उसी केन्द्र पर जाकर स्थित होती है। उनकी यही प्रवृत्ति उनका चरित्र निर्माण करती है। लेखक देखता है कि अपनी संवेदना की चरितार्थता के लिये वह केवल सार्थक चरित्र-तथ्यों को ही अपने स्मृति-कोष में खोज करे।

इसका अभिप्राय यह है कि पात्रों के पृथक् पृथक् चरित्र में पूर्वापर अनुरूपता हो। साथ ही सत्यता या स्वाभाविकता का होना भी आवश्यक है। यदि एक रोज प्रान्त के गवर्नर महाशय चहल-कदमी करते हुए चौक बाजार में आ निकलें और खौमचे वाले के पास बैठकर कचालू की चाट खाने लगें, तो यह बात तर्कशास्त्र की दृष्टि से सम्भव तो अवश्य कहलायेगी, परन्तु व्यवहार की दृष्टि से वह स्वाभाविक न होगी। घटना वियोग में क्या, और चरित्र में क्या, लेखक को स्वाभाविकता का सदैव ध्यान रखना चाहिये। असम्भव का वह कहीं-कहीं भले ही प्रयोग कर सकता है, जैसा कि अलीक कथाओं (Fairy tales) में प्रायः होता है, परन्तु अस्वाभाविक से उसे सदैव दूर रहना चाहिये। लौकिक दृष्टि से अस्वाभाविक चरित्रों में हम उनकी भी गणना कर सकते हैं जो एकदम अच्छे या एकदम बुरे हैं अथवा अन्य किसी प्रकार से अति अलौकिक हैं। सामान्य मानवता के चित्रों में "जीवन चार मूँछ रहि ठाढ़ी" वाले मनुष्यों को दिखाना कहाँ तक समीचीन होगा? यदि ऐसे चरित्रों का कहीं प्रयोग किया भी जाता है तो बहुत सोच-समझ कर किया जाना चाहिये।

जहाँ तक सम्भव हो चरित्रों का प्रकाश पात्रों के द्वारा ही हो - उनकी बातचीत अथवा उनके कर्मों के द्वारा। जीवन में हम लोगों के

चरित्रों का इसी प्रकार ज्ञान प्राप्त करते हैं। कहानी मे भी यही स्वाभाविक होगा। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि लेखक को अपनी तरफ से चरित्र के सम्बन्ध मे कुछ कहने का अधिकार ही नहीं है। लेखक ने अपने पात्रों के चरित्र का जैसा अनुमान किया है पाठक की सहायता के लिये वह अपनी ओर से उसका आभास दे सकता है, परन्तु साथ ही अपने अनुमानों को आवश्यक तथ्य द्वारा पर्याप्त मात्रा में उदाहृत करना भी उसका कर्तव्य है। किसी चरित्र को क्रोधशील या विनयसम्पन्न बतला कर उसके क्रोध या विनय का उदाहरण न देना कितना विघातक और निरर्थक होगा। परन्तु ऐसे कलाकार भी होते हैं जो अपनी ओर से कुछ भी न कहकर चरित्र को पूर्ण रूप से चरितार्थ कर देते हैं और संवेदना की तीव्रता को बहुत अधिक बढ़ा देते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि साक्षात्कार की उपचेतना से हमारी संवेदना जितनी तीव्र होगी उतनी गौण परिचय से नहीं। चरित्रों की क्रीड़ा स्वयं अपने सामने होते देखकर हम उनमे जितने अधिक प्रभावित होंगे उतने लेखक के वर्णन से नहीं हो सकते।

वातावरण या स्थिति-परिस्थिति भी किसी प्रकार की कहानी अथवा वृत्त का आवश्यक अंग है। कार्य किसी स्थान और समय में ही होंगे और उन्हें करने वाले मनुष्य किसी विशेष परिस्थिति में, जिससे उनकी वेष-भूषा आदि का रूप निर्धारित होगा। अतएव जब कोई लेखक अपने पात्रों से कार्य कराता है तो वह उन्हें उपयुक्त परिस्थिति में रखता है, उन्हें उपयुक्त घटना-स्थल में ले जाता है, और उन्हें उपयुक्त परिधान और रूप आकार देता है। इन तमाम बातों का मुख्य संवेदना से उतना ही सम्बन्ध है जितना कि घटना और चरित्र का, क्योंकि ये घटना और चरित्र के भी मूल में हैं और उनकी सार्थकता के लिए एक बड़े अंश में उत्तरदायी हैं।

घटना और चरित्र की भाँति लेखक वातावरण का भी वर्णन प्राय:—अधिकतर—स्वयं ही करता है। वृत्त-काव्य में प्रत्येक तत्व का उपयोग मुख्य संवेदना की तीव्रता के लिए होने के कारण, यह वर्णन किसी घटना या स्थान के सामान्य वर्णन से एकान्त भिन्न होता है। जो लेख काश्मीर का ही परिचय कराने के लिए लिखा जाता है उसका वर्णन उस लेख के वर्णन से भिन्न ही होगा जिसमें काश्मीर को केवल एक घटनास्थल की भाँति समझा गया है। एक में काश्मीर का उत्कर्ष ही लेखक का लक्ष्य है, दूसरे में घटनाओं का। अतएव वृत्त या कहानी में यह भी आवश्यक नहीं है कि वातावरण का चित्र सिलसिलेवार ही हो। स्मृति-विस्मृति ने मूल अनुभव से तोड़कर जो इधर उधर के तथ्य संकलित किये हैं उनका वातावरण परस्पर-संवादी कैसे होगा?

इससे लेखक को अपने वर्णन-कार्य में यदि कुछ सहूलियत हो जाती है तो उतनी ही उससे असुविधा भी होती है। उसे प्रत्येक तथ्य को नया और उपयुक्त वातावरण देने की आवश्यकता पड़ जाती है। कृति-लेखक इस कठिनाई को दूर करने के लिये प्रायः वातावरण का आभासमात्र दे देते हैं और चित्र को पूरा होने के लिये पात्रों के कार्य और वार्तालाप की व्यंजना पर छोड़ देते हैं। उनको स्वयं बहुत कम, या कुछ नहीं, कहना पड़ता है और पाठक को भी वातावरण में साक्षात्कार का आनन्द आता है। वातावरण-सम्बन्धी वर्णनों के बारे में प्रोफेसर वेएडल का उपदेश बड़ा उपयोगी है कि लेखक को फोटोग्राफर का प्रतिद्वन्द्वी बनने की चेष्टा न करनी चाहिये। जिस कहानी में स्थान आदि के बड़े लम्बे और "मक्षिका स्थाने मक्षिका" वाले चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न रहता है, सौ में नब्बे पाठक उसे पढ़ना पसन्द नहीं करते।

घटना, पात्र और वातावरण के अतिरिक्त कहानी में लेखक के व्यक्तित्व का भी बड़ा अंश रहता है। जिन विचारों और भावों की पुष्टि

उसकी कृति में रहती है उन्हीं में उनका व्यक्तित्व भी रहता है। लेखक का व्यक्तित्व लेखक के संवेदना-कोण को जन्म देता है। युद्ध-स्थल के दृश्य को देखकर एक लेखक विजयी वीरों के पराक्रम से उत्साहित हो उठता है और दूसरा क्षत विक्षत, पलायनपर, खदेड़े जाते हुए विजितों की दयनीय दशा पर रो देता है।

इस व्यक्तित्व के कारण प्रायः बहुत से लेखक अपने वृत्त-लेखों में किसी उद्देश्य का अनुसरण किया करते हैं। अधिकतर इस उद्देश्य की प्रवृत्ति मानवता के उपकार के लिए होती है। इसलिए उद्देश्यगर्भ कहानियों आदि में हम प्रायः किसी उच्च आदर्श या आदर्शों की स्थापना का प्रयास देखते हैं। कहीं देश-प्रेम की पुकार हैं तो कहीं वीरता और सत्य-निष्ठा की, कही गरीबों की हाय-हाय पर दया दिखलाई जाती है तो कही दुर्बल प्राणियों की दुर्बलता पर झुँझलाहट।

उद्देश्य रखने में बुराई नहीं है। परन्तु जहाँ उद्देश्य संवेदना के ही रूप में व्यक्त होता रहता है वहाँ वह परम श्रेष्ठ है; और जहाँ उपदेश के रूप में, वहाँ परम निकृष्ट। संवेदना और उद्देश्य अधिकांश में एक पदार्थ नहीं हैं। संवेदना विशेषतः भावुकता से सम्बन्ध रखती है और उद्देश्य विवेक या तर्क से। जहाँ ये दोनों वस्तु समान भूमि पर मिलती हैं वहीं उनका उचित सामञ्जस्य हो सकता है।

उद्देश्य के सम्बन्ध में एक बात और है। एक स्पष्ट उद्देश्य को अपने सामने रखकर लेखक का कभी-कभी उसके प्रति आग्रह भी होने लगता है। और जब यह आग्रह अधिक बढ़ जाता है तो कुछ कट्टरपन भी आ हो जाता है और उसमें लेखक अपनी यथार्थ संवेदना को भूलने लगता है, जब तक कि संवेदना और उद्देश्य में यथेष्ट तादात्म्य न हो, संवेदना का अदृश्य होना कहानी की हत्या होना है। संवेदना के स्थान में स्वयं लेखक पाठक के सामने आ जाता है। पाठक अनुभव के साक्षात्कार

का आनन्द न पाकर केवल अस्थि-चर्म-विहीन एक धुँधली-सी लेखक की प्रतिकृति देखता है।

अतएव लेखक को यह ध्यान रखना चाहिए कि पाठक की संवेदना में बाधा न पड़े। पाठक की संवेदना को तीव्रातितीव्र बनाना ही उसका एकमात्र उद्देश्य होना चाहिये। उसके व्यक्तित्व के बलात् सामने आ जाने से पाठक का हृदय अपनी अनुभूति से विचलित हो जाता है। लेखक के लिए अपने व्यक्तित्व को सामने लाना एक भयंकर प्रमाद है। उनके संवेदनात्मक अनुभवों की व्यंजना में उसके व्यक्तित्व का अंश स्वयं ही मौजूद रहता है; और इतना ही अंश, जिसे वह छिपा भी नहीं सकता उसके व्यक्तित्व का परम सुन्दर रूप है। परन्तु उद्देश्य के सम्बन्ध में अपने को छिपाये रखना ही कलाकार का अति प्रधान कर्तव्य है. जिससे पाठक को अपनी अनुभूति के समय बार बार यह ध्यान न आता रहे कि कोई दूसरा हमको अपना अनुभव सुना रहा है। यदि लेखक ने अनुभव के अनन्तर स्मृति-विस्मृति का सम्यक् अभ्यास किया है और उसकी संवेदना-शक्ति प्रबल है तो ऐसा करना उसके लिए अधिक दुष्कर न होगा।

: २५ :

देवनागरी लिपि

आज प्रत्येक राष्ट्र व जाति स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्नशील है। जो स्वतन्त्र राष्ट्र हैं वे उसकी रक्षा के लिए व वृद्धि के लिए प्रयत्नशील हैं। पराधीन राष्ट्र गुलामी के जुए को उतार फेंकने के लिए भगीरथ प्रयत्न कर रहे हैं और स्वतंत्रतादेवी की बलिवेदी पर अपने आपको आहुत करने को कटिबद्ध हैं। जिन राष्ट्रों ने नई स्वतन्त्रता प्राप्त की है वे नवजीवन की विषम समस्याओं में उलझे हुए उन्हें सुलझाने और अपनी स्वतन्त्रता को दृढ़-भूत करने में जी-जान से लगे हुए हैं। भारत की गणना उन देशों में की जायगी जिन्होंने अभी-अभी ही नई स्वतन्त्रता प्राप्त की है और जिसके सामने इसलिए अनेक नई-नई समस्याएँ खड़ी हो उठी हैं। भारत लगभग एक सहस्र वर्षों से गुलामी की जंजीरों में जकड़ा हुआ था। शायद ही किसी दूसरे देश को इतने लम्बे समय तक विदेशियों की पराधीनता में रहना पड़ा हो। स्वाधीन बनने से पूर्व उसके समस्त प्रयत्न अपनी पराधीनता को दूर करने की दिशा में ही अग्रसर थे। अब स्वतन्त्र होने पर हमारी दृष्टि स्वाभाविकतया इस बात पर जाती है कि इतने अधिक समय तक हमारे गुलामी में रहने के क्या कारण थे और किस तरह अब उन कारणों को दूर करके अपनी स्वतन्त्रता को स्थायी बनाए रखने में हम प्रयत्नशील हो सकते हैं।

जब हम राष्ट्र की बात कहते हैं तो हमारी अन्तश्चेतना में अमुक देश के निवासियों के पारस्परिक ऐक्य और उनके सामूहिक जीवन के संगठन की बात उठती है। वस्तुतः सामूहिक जीवन के संगठन का मूल सूत्र भी एकता ही है। एकतारूपी सूत्र ही सारे राष्ट्र को एक करके एक ही लक्ष्य की ओर

अग्रसर किया करता है। जहाँ इस सूत्र मे शिथिलता पैदा होती है वहीं संगठन में निर्बलता आने लगती है और देश धीरे-धीरे पराधीन बन जाता है। एकता का सूत्र किसी देश के आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोनों ही प्रकार के जीवन और लक्ष्य को समान-रूप से चरितार्थ होता है। इसके सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं है। हम सभी इस बात को स्वीकार करते हैं।

देश-जीवन के प्रत्येक पहलू और प्रत्येक कार्य मे एकता की अपेक्षा रहती है। इन अनेक पहलुओं और कार्यों को ही दो विशाल वर्गों, आध्यात्मिक और आधिभौतिक, में रक्खा जाता है और, दोनों के भी मूल में संचरित होने वाली जो शक्ति रहती है वह है उस देश की संस्कृति। संस्कृति आध्यात्मिक विश्वास और भौतिक आचरण का रूप धारण करती है। भौतिक आचरण भी मनुष्य या देश के संस्कृतिजन्य विश्वासों पर बहुत-कुछ अवलम्बित रहते हैं। अतः यह माना जा सकता है कि एकतासूत्र की मूल-स्थिति भी सबसे पहले किसी देश की अमुक प्रकार की सांस्कृतिकता में निवास करती है और वहाँ से ही प्रेरणा देती हुई वह जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओं और कार्यों में भी प्रतिफलित होती देखी जाती है।

प्रायः लोगों ने भारतीय एकता के नष्ट होने में विदेशियों की, विशेषतः अंग्रेजों की, फूट-नीति को उत्तरदायी बनाया है। विदेशियों के लिए तो फूट-नीति स्वाभाविक थी ही। और जब-जब उनकी इस नीति पर हमारी दृष्टि गई तब-तब हमने अपने राष्ट्रीय संगठन को बनाने के लिए कभी हिन्दू मुसलमानों की एकता की आवाज उठाई और मुस्लिम लीग जैसी संस्था की आलोचना की। कभी अपने ही भीतर पैदा हुए भिन्न-भिन्न राजनीतिक दलों के रूप में एक-दूसरे की आलोचना द्वारा एक ओर तो एकता की आवश्यकता पर जोर दिया और दूसरी ओर पारस्परिक विरोध का संपोषण किया। रोग का निदान करके उसके मूल कारण की चिकित्सा करने से ही रोग का परिहार होता है। स्थूल आचरण के रूप में दिखाई देने वाले ऊपरी लक्षणों

की चिकित्सा की बात करने से नहीं। रोगी और परिचारकों को दोष देना भी व्यर्थ है, जिन्हें हम भिन्न-भिन्न दलों के रूप में देखते रहे हैं। हमारे जीवन की आधार भित्ति में जो विकार हो गया है उसी का इलाज करना होगा। हमें अपनी संस्कृति के मूलाधार को देखना चाहिए।

संस्कृति जब आचरण के रूप मे विलसित होती है तो उसका सबसे पहला रूप भाषा और भूषा में देखा जाता है, और हम देखते भी हैं कि प्रत्येक स्वतंत्र राष्ट्र अपने यहाँ की भाषा और भूषा की सबसे अधिक परवाह करता है। भाषा और भूषा के प्राथमिक आचरण द्वारा अपनी सांस्कृतिक एकता को अक्षुण्ण रखता हुआ राष्ट्र कभी पराजित होकर भी पराधीन नहीं बनता और यथाशक्ति शीघ्र ही अपने विजेताओं को निकाल बाहर करने का भी अवसर तलाश कर लेता है। जब तक वह उन्हें निकाल नहीं देता तब तक उसे चैन नहीं पड़ता। जो राष्ट्र अपनी भाषा और भूषा को खो देता है वह किसी से आक्रान्त अथवा पराजित न होने पर भी अपने अस्तित्व को खो बैठता है। भारत स्वतन्त्र होकर भी यदि यूरोपियन भाषा और भूषा के जबरदस्त अनुराग को नहीं छोड़ता तो वह सचमुच स्वतन्त्र कहलाने के गौरव का अधिकारी नही है। क्योंकि रोटी और राशन की समस्या के हल हो जाने और बाहरी (दिखावटी) स्वतन्त्रता के हासिल हो जाने पर भी मानसिक गुलामी के दूर न हो सकने के कारण वह वास्तविक अर्थ में स्वतन्त्र नहीं हो सका। अंग्रेजों ने भारत को गुलाम बनाए रखने के लिए ही भारत में अंग्रेजी भाषा और भूषा की प्रतिष्ठा की थी। भारत के राष्ट्रीय नेताओं में गांधी जी ने इस रहस्य को समझा और वे इसी लक्ष्य की ओर अग्रसर हुए। उनका स्वदेशी आन्दोलन, ग्रामसुधार, ग्राम-पंचायत और एक राष्ट्र-भाषा-निर्माण आदि के आन्दोलन इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। जिस अंश तक राष्ट्र इन भिन्न भिन्न लक्ष्यों तक अग्रसर हो सका उस अंश तक ही वह अभी तक वास्तविक स्वतन्त्रा के समीप पहुँच सका है।

भाषा और भूषा में भी भाषा की एकता ही प्रधान है, क्योंकि उसी के द्वारा देश के व्यक्तियों में मिलने-जुलने और पारस्परिकता की भावना की प्रतिष्ठा होती है। यहाँ तक कहा जा सकता है कि भूषा भी स्वयं भाषा की ही अनुगामिनी है। भारत में अंग्रेजी भाषा का प्रचार होने पर ही उसका पठन-पाठन करने वालों में, तथा ऐसे लोगों के संसर्ग को प्राप्त करने वाले दूसरे लोगों में, अंग्रेजी वेषभूषा और संस्कृति प्रवेश कर गई तथा उनमें उसने अपना घर बना लिया। भूषा और संस्कृति का सम्बन्ध विचारों से है और विचारों का प्रकाशन भाषा द्वारा ही होता है। अतः भाषा की एकता स्वतः ही लोगों में भूषा और संस्कृति की एकता की आपादक हो जाती है। इसीलिए प्रत्येक उन्नतिशील राष्ट्र की अपनी स्वतंत्र राष्ट्रभाषा होती है जिसकी मर्यादा की वह अपने प्राणपण से रक्षा करता है।

और भाषा का सहज सम्बन्ध लिपि से है। किसी देश या समाज की प्रारम्भिक अवस्थाओं में भले ही मौखिक भाषा से काम चल जाए, परन्तु ज्यों-ज्यों वह देश या समाज विकासोन्मुख होकर किसी संस्कृति और सभ्यता को अंकुरित करता हुआ उन्नतिपथगामी बनता जाता है त्यों-त्यों मौखिक भाषा से उसका काम चलना कठिन होने लगता है। अपनी व्यापकता तथा अपने क्षेत्र विस्तार के लिए उसकी भाषा को लिखित या आलेख्य रूप ग्रहण करना पड़ता है, जिससे लिपि का उदय होता है। प्रारम्भिक अवस्था में पदार्थों और अवस्थाओं के अपूर्ण अस्पष्ट चित्रण द्वारा काम चलाया जाता है; फिर धीरे-धीरे मँजता-निखरता हुआ यही चित्र-लेख कालान्तर में एक वैज्ञानिक ढंग की लिपि में परिणत हो जाता है। हाँ, विकास-क्रम की परिस्थितियों में कुछ लिपियाँ दूसरी लिपियों से अधिक वैज्ञानिक और प्रयोजनीय बन जाती हैं और कुछ पिछड़ी रह जाती हैं।

भारत में आजकल अनेक भाषाएँ प्रचलित हैं, जिनकी पृथक् पृथक् लिपियाँ हैं। दक्षिणी भाषाओं और उनकी लिपियों को छोड़ कर शेष में से

तीन लिपियाँ अति प्रधान रूप में हमारे सामने आती हैं। वे हैं संस्कृत, हिन्दी और महाराष्ट्री (मराठी) की देवनागरी लिपि अंग्रेजी की रोमन लिपि और उर्दू-फारसी की अपनी (अरबी ?) लिपि, जिसे हम सुभीते के लिए 'उर्दू' लिपि ही कह सकते हैं। देश की अन्य दो प्रमुख भाषाओं, बंगला और गुजराती, की लिपि भी देवनागरी ही है जो कतिपय रेखाकुंचनों से विशिष्ट होकर दोनों में अलग-अलग-सा रूप धारण करती हुई हिन्दी की विशुद्ध देवनागरी से भी भिन्न-सी दिखाई देती है। यदि बंगला और गुजराती लिपियों में कुछ रेखाओं और आकुंचनों का परिवर्तन कर दिया जाए तो वे शुद्ध देवनागरी लिपि बन जाएँगी। इस प्रकार देशी भाषा या भाषाओं के नाते—क्योंकि उर्दू और अंग्रेजी तो विदेशी हैं—दक्षिण को छोड़कर समग्र भारत में देवनागरी लिपि का व्यापकत्व और प्रभुत्व सिद्ध हो जाता है। रोमन का व्यापकत्व क्षेत्र की दृष्टि से देवनागरी की अपेक्षा अधिक है; पर लिखने पढ़ने वाली जनसंख्या की दृष्टि से वह देवनागरी की अपेक्षा कम है। उर्दू का व्यापकत्व दोनों ही दृष्टियों से देवनागरी की अपेक्षा कम है।

भारत को स्वतन्त्रता मिलने से पहले यहाँ की राष्ट्रीय लिपि के रूप में प्रतिष्ठित होने के लिए रोमन, उर्दू और देवनागरी तीनों ही लिपियों की प्रतिद्वन्द्विता चलती थी। उस समय रोमन का पक्ष शायद उतना प्रबल न था, क्योंकि मुसलमानों को प्रसन्न रखने की प्रवृत्ति में कुछ सम्माननीय नेता उर्दू और देवनागरी दोनों का साथ-साथ प्रयोग करने की नेक सलाह देना अधिक अच्छा समझा करते थे। परन्तु मुसलमानी राज्य के रूप में पाकिस्तान का टुकड़ा अलग टूट जाने से उर्दू का आग्रह तो अब विशेष नहीं रहा है। अब केवल रोमन और देवनागरी लिपियाँ क्षेत्र में रह जाती हैं। सर हरीसिंह गौड़ जैसे कोई-कोई सज्जन तो रोमन को राष्ट्रीय लिपि ही नहीं बल्कि अंग्रेजी को राष्ट्र-भाषा बनाने तक के पक्षपाती हैं। कुछ सज्जन "हिन्दुस्तानी" नाम की किसी अस्तित्व-

विहीन भाषा के हिमायती बन कर सरलता और सांकर्य के नाम पर रोमन को राष्ट्रीय लिपि बनाने की नसीहत देते हैं। कुछ सज्जन टाइपराइटरों तथा नए सीखने वालों की सुकरता का दृष्टिकोण रखकर विद्यमान देवनागरी लिपि में बहुत कुछ परिवर्तन एवं घटा-बढ़ी कर देने की नई-नई योजनाएँ उपस्थित किया करते हैं। और इन सब से भिन्न, कुछ लोग विद्यमान देवनागरी लिपि की मौलिक विशुद्धता को यथावत् बनाए रखने के पक्ष के समर्थक हैं। इन चार पक्षों में से अन्तिम को यदि रूढ़िवादी या भावुकों का पक्ष कह दिया जाए तो शेष तीन को भी अवसरवादी के अतिरिक्त और कुछ कह सकना कठिन है, जो भाषा और लिपि के वैज्ञानिक प्रक्रमण से अनभिज्ञ रहते हुए पूर्ण सन्तोष के साथ उनके मौलिक उद्देश्यों का निरादर करने में जरा नहीं हिचकते।

रोमन और अरबी लिपियाँ विदेशी लिपियाँ हैं। परन्तु जो अवसरवादी लोग टाइपरायटर की सुकरता अथवा राजनीतिक अवसरों की क्षणिक उपयोगिता की आड़ लेकर बात किया करते हैं उनके लिए स्वदेशी-विदेशी का तर्क अवसरोपात खादी-आदि के प्रश्नों में चाहे कितना ही महत्वपूर्ण हो, भाषा और संस्कृति जैसी प्राणभूत मौलिक बातों में उसका कोई महत्व नहीं रहता। इतना ही नहीं; ऐसे लोगों की दृष्टि में मूल भारतीय संस्कृति, भाषा और लिपि जिसके प्राण हैं, की चर्चा एक अपराध है; वह अराष्ट्रीय है। सुकरता के तर्क के समय उन्हें उन लोगों का ध्यान होता जो देवनागरी लिपि नहीं जानते, उन लोगों का नहीं जो अरबी या रोमन लिपि नहीं जानते। उनकी उपयोगिता की धारणा क्षणिक राजनीति के अस्वाभाविक आधारों पर बनती है, न कि लिपि-स्वभाव के सम्यक् दर्शन पर।

लिपि का स्वभाव-सम्बन्ध भाषा से है और भाषा का सम्बन्ध बोलने से। इसका अभिप्राय: यह है कि लिपि का सम्बन्ध बोलने की स्वाभाविक प्रक्रिया से है। लिपि भाषण का चित्र है। चित्र में हम यही चाहते हैं कि

यह मूल का अधिक से अधिक सरूप हो। क्या आप यह पसन्द करेंगे कि आपका चित्र विरूप हो जाए, अथवा उसमें आपकी शक्ल घोड़े की सी शक्ल मालूम होने लगे। यह बात दूसरी है कि आपका चित्रकार ही निकम्मा हो और वह चित्र में आपका सम्यक् रूप उपस्थित ही न कर सकता हो, परन्तु इसका यदि कोई भी सुखद परिणाम हो सकता है तो केवल यही कि धीरे-धीरे अभ्यासवश आप घोड़े के सौंदर्य को ही अपना सौंदर्य समझने लगें और उसी में अपने गौरव का अनुभव करने लगें। यह बात छिपी नहीं है कि अरबी और रोमन लिपियों में भाषण का विरूप चित्रण ही होता है। इसके विपरीत देवनागरी लिपि उसका अधिक-से-अधिक सरूप चित्रण करती है।

देवनागरी लिपि की एकमात्र और परम विशेषता है उसकी यथासम्भव पूर्णता। देवनागरी लिपि का प्रयोग करने वाले जिन ध्वनियों का प्रयोग करते थे उन सबका अलग-अलग संकेत करने वाले स्वतंत्र चिन्ह इसकी वर्णमाला में विद्यमान हैं। रोमन व अरबी लिपियों की वर्णमाला परिपूर्ण नहीं है। हरेक उच्चारण के लिए उनमें पृथक्-पृथक् विश्लिष्ट वर्ण नहीं मिलते। रोमन लिपि में न तो पूरे स्वर ही हैं और न पूरे व्यंजन ही। वहाँ गिनती के केवल पाँच स्वर हैं ए, ई, आइ, ओ यू। इन्हीं से तमाम स्वर-ध्वनियों के उच्चारण का काम लेना पड़ता है। A का उच्चारण कहीं "अ" होता है, कहीं "ऐ" और कहीं "आ" जैसे man, cat, rat आदि में A "ऐ" की भाँति उच्चरित होता है और car, far, bar आदि में "आ" की भाँति, तथा afraid, appeal आदि में "ए" की भाँति और Roman, pillar आदि में "अ" की भाँति। इसके अतिरिक्त ऐसा भी नहीं है कि जो ध्वनि एक लिपि-संकेत अथवा वर्ण के द्वारा अंकित होती है वह ध्वनि सर्वत्र ही उसी वर्ण-संकेत के द्वारा अंकित होती है। उदाहरण के लिए "अ" की ध्वनि को ही ले लीजिए, अंग्रेजी के Hut, work, does, blood, circulation, her और labour शब्दों

में वह क्रमशः u, o, oe, oo, i व io, e और ou द्वारा अंकित की गई है। फिर, रोमन लिपि केवल अंग्रेजी भाषा की ही लिपि नहीं है, वह यूरोप की अनेक भाषाओं की लिपि है जिनकी उच्चारणविधि अलग-अलग है। Nazi शब्द का अंग्रेजी उच्चारण "नाज़ी" और जर्मन उच्चारण "नात्सी" जैसा कुछ होता है। A की तरह E का उच्चारण भी hen, bed आदि में "ए" jerk, clerk आदि में "अ" तथा negro, torpedo आदि में कुछ-कुछ "इ" का सा होता है। यही दशा अन्य स्वरों की भी है, जैसे cut और put में u का उच्चारण एक स्थान पर "अ" के समान तथा दूसरे स्थान पर "उ" के समान किया जाता है; I, sir और pin में i का विचित्र बहुरूप दर्शनीय है; O का अभिनय ऊपर दिए गए कतिपय शब्दों में देखा जा सकता है।

जो कथा स्वर-वर्णों की कही गई है वही व्यंजनवर्णों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। रोमन लिपि के व्यंजन भी प्रत्येक ध्वनि के लिए पृथक्-पृथक् नहीं हैं। एक ही वर्ण g "ज" और "ग" दो ध्वनियों का काम देता है जिसका उदाहरण एक ही शब्द Ganges में देखा जा सकता है। इसी प्रकार C का उच्चारण cut में "क" के समान और pencil में स के समान है। स्वरों की भाँति व्यंजनों में भी अधिकतर एक ही ध्वनि के लिए भिन्न-भिन्न स्थलों में भिन्न वर्णों का प्रयोग देखने में आता है। "क" के लिए cook में एक ही जगह c और k तथा character में ch और c देखने को मिलते हैं; just और gist में "ज" ध्वनि के ऊपर दो महाशय j और g अलग-अलग अधिकार किए हुए हैं। इस प्रकार कितनी ही ध्वनियों के लिए तो कई-कई अक्षर हैं और कितनी ही ध्वनियाँ ऐसी हैं जिनके लिए कोई पृथक् वर्ण ही नहीं है देवनागरी में "टवर्ग" और "तवर्ग" दो पृथक् और विशिष्ट वर्ग हैं जिनके विश्लेषण से दस ध्वनियाँ प्राप्त होती हैं। परन्तु रोमन लिपि में इन दोनों वर्गों के

समानान्तर केवल तीन वर्ण t, d और n ही मिलते हैं। यह हम ऊपर के कई उदाहरणों में देख चुके हैं कि अनेक ध्वनियों के लिए—विशेषतः देवनागरी वर्गों की द्वितीय और चतुर्थ ध्वनियों के लिए तो अवश्य ही—हमें कम-से-कम दो-दो रोमन वर्णों को मिला कर काम लेना पड़ता है; जैसे "छ" के लिए ch, "ध" के लिए dh और "ढ" के लिए भी dh Station में "श" के लिए तीन वर्ण t o का प्रयोग करना पड़ता है, यद्यपि सामान्यतः "श" के लिए sh का प्रयोग होता है। मूर्धन्य ष के लिए रोमन में कोई वर्ण अथवा वर्ण-समुदाय है ही नहीं।

जिस ध्वनि के लिये जो वर्ण काम में लाया जाता है उसका उच्चारण भी उस ध्वनि के समान ही होना चाहिए। तभी वह उस ध्वनि का वास्तविक प्रतिनिधित्व कर सकता है। परन्तु रोमन लिपि में हमें सर्वत्र इस नियम की प्रतिकूलता ही दिखाई देती है; यथा l, n, g, r आदि वर्ण प्रतिनिधित्व तो ल, न, क, र म आदि ध्वनियों का करते हैं परन्तु बोले जाते हैं एल्, एन्, क्यू,आर्, एम् आदि। यही बात दूसरे वर्णों की भी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रोमन लिपि में न तो वर्णमाला की पूर्णता है, न उच्चारण की शुद्धता व समानता, और न सार्वदेशिकता।

रोमन की सी ही कहानी हमको अरबी लिपि में भी देखने को मिलती है। उसमें भी सब प्रकार की ध्वनियों के बोधक अलग-अलग स्वर और व्यंजन वर्ण नहीं हैं। रोमन की भाँति अरबी में भी एक ही ध्वनि के लिए भिन्न-भिन्न स्थलों में भिन्न-भिन्न वर्णों का प्रयोग होता है एवं, दूसरी ओर, अनेक ध्वनियों के लिए एक ही वर्ण से काम ले लिया जाता है, उदाहरणार्थ "त" के लिए "ते" और "तोय" एवं "स" के लिए "सीन", "स्वाद" और "से" का प्रयोग देखा जाता है। "य" और "ई" के लिए केवल एक ही वर्ण "ये" प्रयुक्त होता है। "ओ" और "औ" के लिए कोई पृथक् वर्ण नहीं हैं बल्कि उनका काम "अलिफ़" और "वाओ" से निकाला

जाता है। "इ", व्यंजनान्त "अ" तथा "उ" जैसी मूल स्वरध्वनियों के लिए अरबी लिपि में कोई भी वर्ण नहीं है। केवल "ज़ेर", "ज़बर" और "पेश" के संकेतों से उनका काम चलाया जाता है; परन्तु वस्तुतः लिखने में ये संकेत भी अंकित नहीं किये जाते।

रोमन की भाँति अरबी वर्णमाला का उच्चारण भी उन ध्वनियों के बिलकुल अनुरूप नहीं है जिनके लिए उसके वर्णों का प्रयोग किया जाता है। "अ" ध्वनि का प्रतिनिधित्व करने वाले वर्ण को "अलिफ़" बोलना पड़ता है जिसमें "अ" के साथ-साथ "लि" और "फ्" की ध्वनियाँ आ मिलती हैं। इसी प्रकार "जीम", "चे", "सीन्", "तोय्", "स्वाद", "लाम्", "मीम्" आदि सभी वर्णों की यही दशा है। अरबी लिपि में एक और भी विशेषता है। इसके अलग-अलग वर्ण तो एक प्रकार से लिखे जाते हैं, परन्तु जब वे शब्दों में प्रयुक्त होते हैं तब वे पूरे नहीं लिखे जाते बल्कि जरा-जरा से "शोशों" में टूट कर एक दूसरे के साथ इस प्रकार जटित हो जाते हैं कि उनका पढ़ सकना परम दुरूह काम हो जाता है। और फिर, "जब उनके साथ" जेर "जबर" और "पेश" आदि का भी संकेत नहीं किया जाता तब तो पढ़ने में केवल अटकल का ही सहारा रह जाता है। "आलू" और "उल्लू" का उदाहरण प्रसिद्ध है जिसे अलिव, इलव, उलब्, उलिवू, आलव् इलू, अलू आदि भी पढ़ा जा सकता है। इस भाँति विचार करने पर अरबी लिपि में भी वही सब दोष देखने को मिलते हैं जो रोमन लिपि में विद्यमान हैं।

अब देवनागरी लिपि को देखिए। देवनागरी लिपि में भिन्न-भिन्न ध्वनियों के बोधक पृथक-पृथक् स्वर और व्यंजन विद्यमान हैं। प्रत्येक ध्वनि के लिए इसमें अलग-अलग वर्ण मौजूद है। और, एक ध्वनि के लिए सर्वत्र एक ही वर्ण का प्रयोग होता है, अन्य का नहीं। यहाँ हमें संयुक्त ध्वनियों के लिए ही संयुक्ताक्षरों का प्रयोग करना पड़ता है, असंयुक्त

ध्वनियों के लिए संयुक्त वर्णों का नहीं, जैसा कि रोमन और अरबी लिपियों में होता है। "च" ध्वनि के लिए इसमें एक स्वतंत्र "च" वर्ण विद्यमान है। दो बिलकुल ही बे-मेल ध्वनियों c और h को उसके लिए नागरी लिपि में मिलाने की कोई जरूरत नहीं पड़ती।

देवनागरी लिपि में वर्ण अपनी ध्वनि का यथार्थ प्रतिनिधित्व करते हैं। "अ" ध्वनि का उच्चारण जिस प्रकार होता है उसी प्रकार उसके प्रतिनिधि वर्ण "अ" का भी होता है। इसमें एक ध्वनि के लिए नाना वर्णों का प्रयोग नहीं करना पड़ता बल्कि सर्वत्र ही प्रत्येक वर्ण अपनी एक ही निर्दिष्ट ध्वनि के लिए प्रयुक्त होता है, यथा "कमल", "लकड़ी" "चमक", "कानून" आदि में एक ही वर्ण अपनी ही एकमात्र निर्दिष्ट ध्वनि का प्रतिनिधित्व करता है। इसलिए देवनागरी लिपि में जैसा लिखा जाता है वैसा ही पढ़ा भी जाता है, वह अन्यथा पढ़ा ही नहीं जा सकता। रोमन तथा अरबी लिपियों में वर्णों की ध्वनि निर्दिष्ट न होने के कारण व्यक्तिवाचक नामों के पढ़ने में हमेशा गलती होती है। "कमलचन्द" को देवनागरी में "कमलचन्द" के अतिरिक्त कुछ भी नहीं पढ़ा जा सकता, परन्तु अंग्रेजी में "कमलचन्द" "कमालचन्द" "कामलचाँद" आदि कुछ भी पढ़ा जा सकता है। अरबी में "कमल" का कुमल" "किमल"; और चन्द का चनद भी हो सकता है। भारतीय नगरों के नामों के बिगड़ जाने का एकमात्र कारण अंग्रेजों के आने के बाद उनका दोषपूर्ण रोमन लिपि में लिखा जाना ही है। "गंगाजी" का 'गैंजीज' (Ganges) बन जाने पर पतितपावनी के दयनीय भाग्य पर हमें विचार करना चाहिए। "कालिकाता" का "कैलकटा" "मुम्बई" का "बाम्बे" "दिल्ली' का "डेल्ही" "वाराणसी" का "बनारस", "हिन्द" का 'इंडियाँ" और "मथुरा" का "मट्ट्रा" या "मुट्ट्रा" भी विचारणीय है।

देवनागरी लिपि की एक विशेषता उसकी वैज्ञानिकता है। देवनागरी लिपि के वर्णों, स्वर-व्यंजनों, का क्रम आदि से अन्त तक वैज्ञानिक है।

नाभिप्रदेश से उद्भूत वायु शिर से टकरा कर लौटता हुआ मुख के अन्दर भिन्न-भिन्न स्थानों में टकराता है। उसी से भिन्न-भिन्न ध्वनियों की उत्पत्ति होती है। मुख के भीतर से बाहर की ओर चलते हुए भिन्न-भिन्न स्थानों में सर्वप्रथम कंठ का स्थान है, उसके बाद फिर तालु, फिर मूर्धा, फिर दन्त और फिर ओष्ठ क्रमशः आते हैं। देवनागरी लिपि में स्वर और व्यंजन वर्णों का इसी क्रम से सन्निवेश किया गया है। कंठ-स्थान से पैदा होने वाली अकार-ध्वनि को स्वरों में सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। उसके बाद तालु स्थान से उत्पन्न होनेवाली इकार-ध्वनि को दूसरा एवं मूर्धास्थान से उच्चरित होनेवाली ऋकार-ध्वनि को तीसरा स्थान मिलता है। इस प्रकार पाँच स्थानों से उद्भूत होने वाले पाँच स्वरों – अ, इ, ऋ, लृ और उ— का क्रम सर्वथा वैज्ञानिक है। इस तरह एक-एक स्थान से उच्चरित होने वाले स्वरों का प्रथम उपन्यास करके बाद में दो-दो स्थानों को मिलाकर उच्चरित किए जाने वाले संयुक्त स्वरों ए ऐ (कंठ और तालु) तथा ओ औ (कंठ और ओष्ठ) का सन्निवेश किया गया है।

इसी प्रकार का क्रम व्यंजन-वर्णों में भी है। कंठ-स्थान से जिस वर्ग के वर्णों का उच्चारण होता है उस क-वर्ग का स्थान वर्गों में सर्वप्रथम है। उसके बाद तालु-स्थान से उच्चरित होने वाले च-वर्ग का स्थान है, तदनन्तर मूर्धन्य टवर्ग का; फिर दन्त्य तवर्ग का, और सब के बाद में औष्ठ्य प-वर्ग का यह क्रम केवल वर्गों में ही नहीं बल्कि आगे के अन्तस्थ वर्णों य, र, ल, व—और ऊष्म वर्णों—श, ष, स, ह—में भी विद्यमान है। ह-कार का स्थान कंठ्य होते हुए भी बाद में क्यों आया, इसका रहस्य दूसरा है जिसका निरूपण यहाँ करने का अवसर नहीं है। वर्गों में भी पहले विवार (श्वास अघोष प्रयत्न वाली) ध्वनियों का और बाद में संवार (नाद-घोष प्रयत्नवाली ध्वनियों का समान क्रम सर्वत्र रक्खा गया है। अघोष-वर्णों में भी पहले अल्पप्राण-प्रयत्नवाले वर्णों का और बाद में महाप्राण-प्रयत्नवाले वर्णों का क्रम है। यह क्रम भी सब वर्गों में अविच्छिन्न रूप से

समान हैं। इस प्रकार से एक-एक स्थान से उच्चारण किए जाने वाले वर्णों का पहले उपन्यास कर अन्त में दो स्थानों से उच्चरित होने वाले आनुनासिक वर्णों का प्रत्येक वर्ग के अन्त में सन्निवेश है। वर्णों का इस तरह का वैज्ञानिक सन्निवेश क्रम संसार की कौन-सी लिपि अथवा वर्णमाला में हमको देखने को मिलता है। अरबी और रोमन लिपि में किसी प्रकार का भी वैज्ञानिक क्रम तो दूर रहा, स्वरों और व्यंजनों के पृथक्करण का क्रम भी उपलब्ध नहीं होता।

कुछ लोगों का यह आक्षेप है कि देवनागरी लिपि में वैज्ञानिकता के होते हुए भी उसमें कुछ न्यूनताएँ भी हैं, यथा "ख" में और "रव" मे कोई अन्तर नहीं मालूम होता और इनमें एक दूसरे का भ्रम हो जाता है। इसी भाँति "ऋ" और "रि" की ध्वनियों में कोई भेद मालूम नहीं देता। इन लोगों का यह भी कहना है कि देवनागरी में भी कई ध्वनियों के सूचक वर्णों का अभाव है। Man, Can आदि में "ए" और "ऐ" के बीच की ध्वनि का उच्चारण होता जिसके लिए देवनागरी में कोई स्वर अथवा मात्रा नही है। इसी तरह अंग्रेजी के College शब्द में o का उच्चारण "आ" और "ओ" के बीच की ध्वनि का होता है। उसके लिए भी कोई स्वर अथवा मात्रा नहीं है। अरबी की "क़ाफ़" "ग़ैन", "फ़े", "ज़े" "ज्वाद" जैसी ध्वनियों का भी देवनागरी की वर्णमाला कोई प्रतिनिधित्व नहीं कर पाती।

ये और इस प्रकार के आक्षेप तो संसार की प्रत्येक ही भाषा के सम्बन्ध में किए जा सकते हैं। किसी पूर्ण से पूर्ण भाषा और लिपि के लिए भी यह सम्भव नहीं है कि वह विश्व की प्रत्येक ध्वनि का प्रतिनिधित्व कर सके। अन्यथा क्या कोई भी भाषा पशुओं की ध्वनि की लिपि तैयार कर सकती है? आक्षेप के प्रत्युत्तर में आक्षेप और गाली के प्रत्युत्तर में गाली तो दुर्बल पक्ष का तर्क हुआ करता है। अन्यथा देखना यह चाहिए कि देवनागरी लिपि की जो विशेषताएँ बतलाई जाती हैं वे मिथ्या हैं क्या, अथवा यदि

वे मिथ्या नहीं है तो क्या दूसरी लिपियों में भी वे पाई जाती हैं। हमारा कहना यही है कि देवनागरी लिपि वालों की जो मूल ध्वनियाँ हैं उन सबका प्रतिनिधित्व उसकी वर्णमाला करती है। रोमन और अरबी लिपियाँ अपनी ही ध्वनियों का प्रतिनिधित्व नहीं कर पातीं। फिर, हमारे सामने तो प्रश्न भारत में प्रयोजनीय लिपि का है। जो लिपियाँ अपनी ही ध्वनियों को भली-भाँति, या बुरी भाँति भी, व्यक्त नहीं कर पातीं वे भारतीय ध्वनि-समुदाय के लिए उनकी स्वाभाविक भारतीय लिपि की अपेक्षा अधिक उपयुक्त होंगी, यह तर्क तभी महत्वपूर्ण हो सकता है जबकि हम यह भी मान लें कि हमारे नीतिज्ञतापूर्ण देशप्रेम में और राष्ट्रीयता में "इलाहाबाद" और "महात्मा बुद्ध" का "एलैहेबैड" और "मैहट्मा बुड्ढा" बन जाना, अथवा फिर "भगवान् शिव" का "भगुआन शो", "शॉ", "श्यो" या "शू" बन जाना भी एक नैतिक राष्ट्रीय कर्तव्य है। अंग्रेजी महीनों को अनेक अंग्रेजी न जानने वाले अरबी लिपि में "जनोरी", "फरोरी" आदि पढ़ा करते हैं। अपनी ही ध्वनियों का प्रतिनिधित्व न कर सकने के प्रसंग में एक सच्ची कहानी सुनने लायक है। एक कम-पढ़ महाशय किन्हीं मित्र के यहाँ बैठे उनका अंग्रेजी का समाचार-पत्र पढ़ने लगे। समाचार-पत्र शायद थोड़ा-बहुत उनकी समझ में आ रहा होगा, या उसके शब्दों मात्र के परिचय से ही वह अपना संतोष कर रहे होंगे, जबकि एक अपरिचित शब्द पर पहुँच कर वह अटक गए और अपने मित्र से पूछने लगे, "भाई साहब, 'बुडगेट' के क्या मानी होते हैं ?" भाई साहब एक क्षण तो चकराए फिर बड़े जोर से हँसे और बोले, "मालूम होता है तुम अपनी सारी अंग्रेजी भूल गए। बी-यू-डी "बड" होता है कि "बुड" ?" "हाँ हाँ, भाई साहब, मैं भूल ही गया। बी-यू-डी "बड", बड मानी कली। और जी-ई-टी "गेट", गेट मानी पाना। "बड गेट" यानी "कली पाना "ठीक-ठीक !" भाई साहब फिर हँसने लगे और बाद में उन्होंने बतलाया कि उक्त शब्द का उच्चारण "बजट" है। इस पर वह महाशय समझे कि उनकी मजाक बनाई जा रही है और कुछ बिगड़ने लगे। उनके लिए यह विश्वास करना कठिन था कि

जिस शब्द का उच्चारण बचपन में उस्तादों द्वारा दी हुई शिक्षा के अनुसार "बड़गोड़" सिद्ध हो चुका वह इन "भाई साहब" के मसखरेपन से बजर कैसे हो सकता है? "ड" और "ग" की स्पष्ट ध्वनियों के भीतर "ज" ध्वनि की कोई दूर की भी गुँजायश उन महाशय की मोटी बुद्धि को नहीं दिखाई देती थी।

इतर लोगों के जिन आक्षेपों का ऊपर उल्लेख हुआ है वे भी, देखने पर मालूम होगा, अधिक समीचीन नहीं है। "ए" और "ऐ" अथवा "आ" और "ओ" के बीच के उच्चारण वस्तुतः नागरी वालों के मूल उच्चारण नहीं हैं, बल्कि अरबी और रोमन वालों के ही उच्चारण हैं। अतः तत्सम्बन्धी वर्णों के न होने का आक्षेप नागरी को लागू न होकर यथार्थतः अरबी और रोमन को ही लागू होता है। हिन्दी के "और" शब्द में इस प्रकार की एक मध्य-ध्वनि होती है जो "आ" और "औ" के बीच की है। परन्तु हिन्दी में यह मध्यध्वनि मुसलमानों के संसर्ग से आई है। मूल संस्कृत "अपर" अथवा "अवर" का अपभ्रष्ट रूप प्राकृतों में "अउर" हो गया था और हम देखते हैं कि मध्यकालीन हिन्दी कविता में प्रायः "अउर" का ही प्रयोग हुआ है। "अ" और "उ" की स्वाभाविक सन्धि से "ओ" हो जाता है परन्तु "और" का प्रयोग हमको पहले-पहल व्यवहार की भाषा खड़ी बोली, गद्य, में मिलता है जिसमें व्यवहारिकता के नाते मुसलमानी बोलचाल की ध्वनि का समावेश हो जाता है। ए, ऐ, ओ, औ स्वयं संयुक्त ध्वनियाँ हैं, शुद्ध मूल ध्वनियाँ नहीं हैं; और इनके बीच की ध्वनि शुद्ध संयुक्त ध्वनि भी नहीं है, वह अपूर्ण-संयुक्त है। अतः भाषा-विज्ञान की शोध में, वर्णात्मक शब्द में इस प्रकार की कोई ध्वनि नहीं है, केवल ध्वन्यात्मक शब्द में वह हो सकती है। इसीलिए कोई भी लिपि उसका प्रतिनिधित्व नहीं करती। ऊपर कहा जा चुका है कि विश्व की समस्त ही ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करना किसी भी वर्णमाला के लिए असम्भव है परन्तु यदि ऐसी ही ध्वनि को वैज्ञानिक मान ही लिया जाए तो

उसकी प्रतीति के लिए प्रत्येक लिपि में संकेत ही बनाने पड़ेंगे। ऐसे संकेत देवनागरी लिपि में भी बनाए जा सकते हैं और बनाए भी जा चुके हैं, अरबी के "क़ाफ़", "ग़ैन", "फ़े" आदि की ध्वनियों के निर्वाह के लिए देवनागरी में अब "क", "ग", "फ" आदि के नीचे बिन्दी लगाकर काम ले लिया जाता है। "ख" और "र व" का तर्क भी बहुत कुछ जबर्दस्ती का ही है। र और व स्वतन्त्र अक्षर होने के कारण एक-दूसरे से अलग और कुछ दूर लिखे जाते हैं जबकि ख के दोनों अङ्ग एक दूसरे के साथ सटे हुए लिखे जाते हैं।

टाइपरायटरों की सुविधा के लिए अपनी लिपि छोड़ देना या अपनी लिपि का परिवर्तन करना बड़ा विचित्र तर्क है। प्रारम्भ में जब टाइपरायटर का आविष्कार हुआ था तो वह शायद प्रयोक्ताओं की सुविधा के लिए हुआ होगा। अब प्रयोक्ता टाइपरायटरों के सुभीते के लिए अपना या अपने अंगों का नव-निर्माण अथवा परिवर्तन करें। देवनागरी लिपि में वर्णों का आधिक्य है, वे अभी तक चालू टाइपरायटरों की योजना में नहीं समाते; इसलिए अपनी लिपि को त्याग दो अथवा छाँट दो। ऐसा कहने वाले लोगों से यह पूछा जा सकता है कि जितना दिमाग और समय लिपि की मरम्मत करने के लिए नष्ट किया जाता है उतना देवनागरी के अनुरूप टाइपरायटर तैयार करने की योजना में क्यों नहीं खर्च किया जाता? किसी लम्बे-चौड़े आदमी को छोटे दरवाजे में प्रवेश करने में असमर्थ देख कर क्या कभी किसी ने यह भी कहा है कि इस आदमी के हाथ काट दो या सिर काट दो। और, नागरी के उपयुक्त टाइपरायटर की योजना कोई असम्भव योजना तो है नहीं। महायुद्ध से पहले भारतवर्ष में एक ऐसा जर्मन टाइपरायटर "अनेका नागरी-लेखन-यंत्र", आ गया था जिसमें देवनागरी की पूरी वर्णमाला समस्त मात्राओं और चिन्हादिक सहित सरलतया छप जाती थी।

आज के विज्ञानवादी और राष्ट्रीयतावादी युग में, जब कि भारत भी वैज्ञानिकता और राष्ट्रीयता की भावना का पक्षपाती होने का दम भरता है,

केवल दिखावटी अथवा कल्पित अथवा क्षुद्र कठिनाइयों के नाम पर अपनी सत्ता के प्राणभूत सांस्कृतिक तत्वों को नष्ट करने का प्रयास क्या, विचार-मात्र हमको घोर पाखंडी और अराष्ट्रीय सिद्ध करता है। यह, और कुछ नहीं, एक हजार वर्ष की निरन्तर गुलामी के कारण हमारे हृदय और मस्तिष्क में बद्धमूल, परन्तु अभ्यास के कारण अलक्षणीय, दासोचित दीन-वृत्ति का परिणाम है। इसके दूर होने में समय तो लगेगा ही, परन्तु भय यही है कि इसके दूर होते-होते कहीं हमारी संस्कृति और उसके प्रतीक, हमारी वास्तविक राष्ट्रीयता, भी दूर न हो जाए।

:२६:

नाटक और अभिनय

बहुत से विद्वानों का यह विचार है कि नाटक और अभिनय का अभिन्न सम्बन्ध है, अर्थात् जो नाटक किसी भी दृष्टि से अभिनय के लिए अनुपयुक्त है वह, उन विद्वानों के अनुसार, वास्तविक नाटक नहीं। हिन्दी में यह चर्चा उस समय से अधिक फैली जब प्रसाद के नाटकों की ख्याति बढ़ी। परन्तु पाश्चात्यदेशों में यह समस्या आज की नहीं, बहुत समय पहले की है। वहाँ इस प्रश्न को लेकर विद्वानों की दो विभिन्न श्रेणियाँ देखने में आती हैं, जिनमें एक तो अभिनय और नाटक की नित्यसम्बन्धता पर जोर देती है और दूसरी अभिनेय नाटक के अतिरिक्त पाठ्य नाटक की भी एक स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करती है। दोनों पक्षों में कौन सर्वथा माननीय है और कौन नहीं, इसका न तो अभी निश्चय हो सका है और न शीघ्र होने की सम्भावना है। यह कह देना आवश्यक है कि इन पक्षों में दलबन्दी की कोई भावना दृष्टिगोचर नहीं होती। दोनों पक्ष प्रबल और विचार-पूर्ण युक्तियों द्वारा ही अपने-अपने सिद्धान्तों का आग्रह दिखाते हैं।

पाश्चात्य देशों में इस प्रकार की समस्या का होना स्वाभाविक है। थियेटर-चर्चा उनके दैनिक जीवन का अंग है और उनके यहाँ थियेटर तथा रंगमंच एक स्वतन्त्र सुसंगठित संस्था है। परन्तु हिन्दी में इस प्रकार का प्रश्न कुछ कृत्रिम सा जँचता है। हिन्दी में थियेटर ही कहाँ हैं? हिन्दी-रंगमंच कह कर हम हिन्दी की किस सम्पत्ति का गर्व कर सकते हैं? पारसी-मंच और बंगाली-मंच अवश्य इस देश में हैं, परन्तु किसी विशिष्ट हिन्दी मंच का हमको ज्ञान नहीं। शुरू-शुरू में नारायण प्रसाद 'बेताब' ने नाटक लिखे—पारसी कम्पनियों के लिए, बाद में राधेश्याम कथावाचक के नाटक भी पारसी फैशन में ही मिलने लगे। हिन्दी बोलने वालों ने यदि शौकिया कहीं कोई नाटक-मंडली स्थापित की तो वह अधिकतर चिरस्थायी नहीं हुई और उसका भी पारसी ढँग ही रहा। वास्तव में अभिनय का हिन्दी में जो एकमात्र रूप है वह रासलीला में देखने को मिलता है जिसे हिन्दी-रंगमंच नहीं कह सकते। हाँ, यदि पारसी और बंगाली-मंच को ही हिन्दी-मंच समझ लिया जाए तो बात दूसरी है।

पाश्चात्य देशों में इस समस्या के उदय का मूल उच्च-श्रेणी के उन नाटकों का प्रादुर्भाव है जिनका विषय सामाजिक आलोचना या अतिरञ्जित संकेतवाद आदि के ढंग का होता है। चैन्डूलर ने अपनी Aspects of the Modern Drama नामक पुस्तक में इस प्रश्न पर भिन्न-भिन्न विद्वानों की सम्मतियाँ देते हुए लिखा है कि—"सामाजिक आलोचना के नाटक इतने गम्भीर और अविनोदशील तथा इतने वैज्ञानिक और नीतिपरायण होते हैं कि वे अभिनय के उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकते; उनमें अन्तर्वेग और चित्रशबलता का अभाव रहता है। वे हरे-भरे खेतों या महलों की शोभा से विरत रहते हैं और अतीत से उनको घृणा होती है पुराण और इतिहास का वे उपहास करते हैं। कवि की स्वप्नानुभूति के स्थान में वे डाक्टर या वकील के 'केस' की स्थापना करते हैं। इसलिए धीरे-धीरे वे अरुचिकर होने लगते हैं और कवि तथा संकेतवादी को अपना बदला लेने का अवसर मिल जाता है।"

परन्तु सामाजिक नाटक के इस प्रकार अभिनय के लिए अनुपयुक्त होने पर भी उसका प्रचार बढ़ता जा रहा है। क्यों? इसलिए कि वह किसी-न-किसी रूप में शिष्ट लोकरुचि को उत्तेजित करने में समर्थ हुआ है और उसमें कला का ऊँचा उद्देश्य है। विद्वान् लोग उसका अध्ययन करने और उस पर विवाद करने के लिए समुत्सुक होते हैं। इब्सेन के नाटकों को जहाँ कुछ लोगों ने अनभिनेय बतलाया है वहीं उन्होंने उनकी उच्च कलात्मकता भी स्वीकार की है। नाटक और अभिनय की अभिन्नता के इतने आग्रह का जो कुछ भी अभिप्राय हो; इसमें सन्देह नहीं मालूम होता कि बहुत समय से यह आग्रह केवल एक शास्त्रीय सिद्धान्त-भर रह गया है। मनुष्य की साहित्यिक अभिरुचि के विकास के साथ साथ, साहित्य और कोरी तमाशबीनी में बहुत समय से विच्छेद होने लगा है। बहुत से उच्च-श्रेणी के नाटक कभी भी अभिनीत नहीं हो पाते, परन्तु उनका पठन सदा आनन्ददायी होता है, और बहुत से अभिनीयमान नाटक अभिनय से पहले ही पठन द्वारा पाठकों का मनोरंजन कर चुकते हैं। अंग्रेजी, संस्कृत आदि भाषाओं के नाटकों का अभिनय हम नहीं देखते—देखें तो उनसे अनुरंजित नहीं हो सकते—परन्तु पढ़ने में उनसे विशेष आनन्द प्राप्त होता है और हम उनकी कलात्मकता का गौरवानुभव करते हैं। पाश्चात्य या प्राचीन हिन्दू-रंगमंच से अनभिज्ञ हम उनकी अभिनय-योग्यता की क्या कल्पना कर सकते हैं?

हमारी अधिकांश नाटकीय आलोचना का आधार हमारे पठित नाटक ही होते हैं—दृष्ट नाटक नहीं। दृष्ट नाटक में हम प्रायः नाटककार की कला की आलोचना नहीं करते, बल्कि अभिनेताओं के अभिनयकौशल की ही आलोचना करते हैं। नाटक की आलोचना करने वाले भी प्रायः साहित्य के ही धुरन्धर विद्वान् होते हैं जिनसे रंगमंच की विशेषताओं के किसी ज्ञान की आशा नहीं की जाती। इससे इस बात का प्रमाण मिलता है कि

अब से बहुत पहले—शायद शताब्दियों पहले, जब संस्कृत-मंच का ह्रास हो चुका था परन्तु संस्कृत-नाटक लिखे जाते थे नाटक भी अन्य प्रकार के ललित पठनीय साहित्य की भाँति पाठकों की मानसिक तृप्ति करने लगा था। संस्कृत-शास्त्र ने तो नाटक को सर्वश्रेष्ठ काव्य का एक रूप माना भी है। यदि कादम्बरी या रघुवंश के पठन से हमको आनन्द मिल सकता है तो शकुन्तला और उत्तररामचरित के पठन से भी—बल्कि इनसे शायद कादम्बरी या रघुवंश की अपेक्षा अधिक।

जिस नाटक को हम अभिनय से जरा भी भिन्न नहीं कर सकते वह फिर साहित्यिक वस्तु नहीं रहेगा। क्योंकि जो केवल अभिनय के लिए ही है उसे साहित्य की दृष्टि से पढ़ने की क्या आवश्यकता? मंच-प्रबन्धक के लिए वह एक संकेत-ग्रन्थ के रूप में हो सकता है और दर्शक के लिए सार-सूचना (Synopsis) के रूप में। 'बेताब' के नाटक सार-सूचना न सही, पर साहित्यिक रुचि के कितने लोग उन्हें पढ़ने के लिए समुत्सुक होते हैं।

साहित्यिक रुचि के लोग जिन नाटकों को पढ़ना चाहते हैं उनमें वे साहित्यिक कला की इच्छा अवश्य रखते हैं। इसके लिए कुछ पाश्चात्य विद्वानों, जैसे जॉन गैल्जवर्दी आदि, ने समझौते के तौर पर यह आशा प्रकट की है कि साहित्य या कविता का अभिनेय नाटक के साथ मेल कराया जा सकता है। यह बात अँग्रेजी जैसी भाषा के लिए ठीक हो सकती है परन्तु हिन्दी में यह अभी अधिक व्यवहारानुकूल नहीं मालूम होती। जब तक अभिनय देखने की अभिरुचि शिष्ट-जनता में नहीं बढ़ती तब तक हमारा स्टेज चवन्नी—क्लास के इक्केवालों के लिए सदा खुला रहेगा और इस बात को देखते हुए हम आशंका कर सकते हैं कि कम-से-कम हिन्दी-मंच (?) में साहित्य और तमाशबीनी का विरोध अभी कुछ समय तक दूर नहीं हो सकेगा।

प्रश्न किया जा सकता है कि फिर हम नाटक को नाटक ही क्यों कहते हैं? इसलिए कि हम उपन्यास को उपन्यास और कहानी को कहानी कहते हैं परन्तु आप कहते हैं कि प्राचीन शास्त्र में नाटक को 'अवस्थानुकृति' कहा है और अरस्तू ने भी उसको अनुकरण कह कर लक्षित किया है। 'नाटक' शब्द भी 'नट्' धातु से निकला है जिसका अर्थ नृत्य या क्रियात्मक अभिनय करना है। हमारी समझ में ये सब तर्क नाटक के उदय का अध्ययन करने में अवश्य सहायक हो सकते हैं, परन्तु उसके आज तक के विकास के अध्ययन में इनकी सहायता एकान्त असन्दिग्ध नहीं है। विकास की अवस्था में शब्दों के मूल अर्थों का धीरे-धीरे प्रायः विस्तार या संकोच अथवा परिवर्तन हो जाया करता है। 'गर्भिणी' और 'गाभिन दोनों एक शब्द होते हुए भी अब प्रयोग में विभिन्न हो गये हैं। इसके अतिरिक्त अरस्तू के Imitation का अभिनय से कोई विशेष सम्बन्ध जोड़ना अधिक समीचीन न होगा, क्योंकि अरस्तू ने तो प्रत्येक प्रकार के ही काव्य को एक प्रकार का Imitation या 'अनुकरण' बतलाया है।

तथापि, यह कहना अनुचित न होगा कि जिन नाटकों में अभिनय की दृष्टि से कोई त्रुटि है उनका 'नाटक' शब्द के मूल अर्थ से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। हम नाटक उसे कहते हैं जिसमें अभिनय की सम्भावना हो—जिसे अभिनय का अधिष्ठाता कुछ सामान्य संशोधन आदि करके अपने कार्य के लिए उपयोगी बना सके। इस तर्क के आधार पर यह कहना भ्रम होगा कि इस भाँति कोई भी कहानी 'नाटक' कहलाई जा सकती है। 'नाटक' एक विशिष्ट रूप-आकार की रचना का नाम है जो अपनी विन्यास-प्रकृति के कारण अभिनय के प्रति अनुकूलता प्रदर्शित करता है। दूसरे किसी प्रकार की कहानी में अभिनय के लिए समस्त रचना को ही बदल देने की आवश्यकता पड़ेगी। इस तर्क में हमको कहानी और 'प्लॉट' के भेद को ध्यान में रखना चाहिए। अधिक से अधिक हम यही

कह सकते हैं कि कहानी-आदि का प्लॉट भी अभिनेय हो सकता है, परन्तु प्लॉट के कारण कहानी 'नाटक' नहीं कहला सकती। कहानी, उपन्यास, प्रबन्धकाव्य, नाटक—इन सब में समान प्लॉट रह सकता है, परन्तु फिर भी ये भिन्न-भिन्न प्रकार की ही रचनाएँ कहलाएँगी।

नाटक की अभिनेयता के बहुत अधिक आग्रह में आधुनिक ढँग के सामाजिक या सांकेतिक नाटक अथवा गीतिनाट्य तो'नाटक'नाम के अधिकारी रहते ही नहीं। 'प्रबोधचन्द्रोदय' को नाटक न कह कर कोई और नाम देना चाहिए। इसके अतिरिक्त हमको संसार के बहुत-से श्रेष्ठ नाटककारों को नाटककार के पद से च्युत करना पड़ेगा। स्विनबर्न के नाटक अभिनेय हैं। शेक्सपियर का रंगशाला से घनिष्ट सम्बन्ध होते हुए भी उसके अनेक नाटक विद्वानों की समिति में अभिनय के लिए अनुपयुक्त हैं। उसके "किंग लियर' (King Lear) और 'हैमलेट' (Hamlet) को चार्ल्स लैम्ब ने बहुत पहले ही अभिनेय ठहरा दिया था और आजकल यूरोप के अधिकांश विद्वान् लैम्ब के मत के समर्थक हैं। क्या हम कहें कि शेक्स-पियर नाटककार नहीं था?

वास्तव में नाटककार और अभिनय-स्वामी का कार्य एक नहीं है। नाटककार पारिभाषिक रूप-आकार को छोड़कर और किसी रूप में अभिनय की आवश्यकताओं को ठीक-ठीक पूरा कर ही नहीं सकता। इंगलैंड आदि देशों में जहाँ अधिकांश नाटक स्टेज के लिए ही लिखे जाते हैं, नाटककार को अभिनयस्वामी से व्यवहार करने में असंख्य झंझटों से पाला पड़ता है। अभिनय-स्वामियों की यह एक साधारण धारणा रहती है कि कोई भी लिखित नाटक अपने मूल-रूप में अभिनय के योग्य नहीं हो सकता। नाटककार को अपने नाटक के पहले या दूसरे पूर्वप्रयोग rehearsal में ही यह मालूम होने लगता है कि प्रयुक्त वस्तु में उसके लिखे नाटक की

बहुत कम समानता रह गई है। इन पूर्वप्रयोगों में उसका अनुभव प्रायः एक अपराधी का सा होता है मानो उसने नाटक लिख कर कोई बड़ा-भारी अपराध किया हो। अभिनय-स्वामी के हाथों नाटककार के अनुभवों के सम्बन्ध मे श्रीयुत आर्नल्ड बेनेट ने निम्नांकित वाक्य लिखे हैं, जिनसे नाटक और अभिनय की अभिन्नता या विभिन्नता की भी बहुत कुछ मीमांसा हो जाती है।

" · · The theatrical manager······is himself in some degree a collaborator and is the first to show to the dramatist that a play is not a play till it is performed. The manager reads the play, and, to the dramatist's astonishment reads quite a different play from that which the dramatist imagines he wrote······It is remarkable that a manager nearly always foresees failure in a manuscript and very seldom success······ ·····

"And when director of rehearsals, or producer, has been chosen, and this priceless and mysterious person has his first confabulation with the author, then at once the play begins to assume new shapes, contours undreamt of by the author tiel that startling moment. And even if the author has the temerity to conduct his own rehearsals, similar disconcerting phenomena will occur; for the author as the producer is a different fellow from the

author as the author. The producer is up against realities. He first renders the play concrete, gradually condenses its filmy vapours into a solid element ......Before the first rehearsal is called, the play still without a word altered, has gone through astounding transmutations, the author recognises in it some likeness to his beloved child, but it is the likeness of a first cousin.

"At the first rehearsal, and for many rehearsals, to an extent perhaps increasing, perhaps decreasing, the dramatist is forced intoan apologetic and self-conscious mood, and his mien is something between that of a criminal who has committed a horrid offence, and that of a father over the crude body of a new-born child......In extreme cases he may be brought to see that he himself is one of the less important factors in the collaboration......

: २७ :

नाटक की सामाजिकता

भावों की व्यंजना साहित्य का चरम लक्ष्य है। कविता, नाटक, कहानी, उपन्यास आदि सभी में यही बात चरितार्थ होती है। फिर भी कहानी,

उपन्यास आदि की अपेक्षा कविता अपने इस लक्ष्य की प्राप्ति में बहुत अधिक संलग्न रहती है। इसी कारण हृदय को हिला देने में कविता की शक्ति सबसे अधिक मानी गई है कवि अपनी कविता में मानव के उन मनोवेगों को सजग और गतिमय करता है जो अपनी सर्वसाधारणता में, सार्वजनीन सहानुभूति में, सबके हृदयों को एक समान आकर्षित और प्रभावित करते हैं। कविता ही वह शक्ति है जो मानव की पूर्णता में योग देती है। सभ्यता के आधुनिक विकास में मनुष्य प्रकृति से दूर होता जा रहा है। इतना ही नहीं; वह सभी से अलग, अकेला होता जा रहा है। बड़े-बड़े नगरों में असंख्य नर-नारियों से घिरे हुए हो कर भी हम वस्तुतः एक प्रकार से अकेले ही होते हैं। कारण यह है कि श्रम-विभाजन ने हमारे हृदयस्थ अनेक भावों को सुप्त और शान्त कर दिया है। व्यायाम की अपेक्षा रखने वाले भाव अयोज्य होकर पंगु हो जाते हैं। फलतः हम दुनियादारी की कृत्रिम व्यवस्थाओं में अधिकाधिक लिप्त होते हुए वणिक के अर्थलोभ का तो अपने चरित्र में संचय करने लग जाते हैं, परन्तु करुणा, सहानुभूति, प्रेम और पारस्परिक सहयोग की वृत्तियों से शून्य हो चलते हैं। अतः कविता की ऐसे अवसरों पर बड़ी आवश्यकता होती है। वह मनुष्य के सोये हुए अमुक-अमुक भावों को जगा कर उसके भीतर दूसरे-दूसरे संयोगी-सहयोगी भावों का भी संचार करके उसके व्यक्तित्व की पूर्णता को बनाए रखती है।

नाटक भी अपने उद्देश्य में इससे भिन्न नहीं है उसका कविता से रूप-वैभिन्नय है, हृदय-वैभिन्नय नहीं। स्कन्दगुप्त नाटक हमारी राष्ट्र-भावना को जगाता है, रक्षाबन्धन, हमारे साम्प्रदायिक बन्धनों को तोड़ कर भ्रातृ-भावना का संचार करता है; ऐसे ही अनेक नाटक अनेक भावों की जागृति में सहायता देते हैं। यही कारण है कि हमारे आचार्यों ने नाटक को काव्य का ही एक भेद--दृश्य-काव्य माना है। इस वर्गीकरण से ही स्पष्ट हो जाता है कि नाटक भी अपने साधारणीकरण में, अपनी सामाजिकता में, कविता

से किसी प्रकार कम नहीं है। हमारा तो विचार यह है कि नाटक इस कार्य में किसी अंश में कविता से भी अधिक उच्च स्थान रखता है। हमारे कथन के स्पष्टीकरण के लिए पहले साहित्य के इन विभिन्न प्रकारों के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

कविता के तीन मुख्य प्रकार हो जाते हैं। उसका यह वर्गीकरण उसकी परिस्थिति, उसके सम्पर्क, संसर्ग अथवा संगति से उद्भूत होता है। जब कविता का कथा से मेल होता है तो वह प्रबन्ध के रूप में विकास पाती है, जब वह अभिनेय के संसर्ग में आती है तो नाटक बन जाती है; और जब वह गान में लयमान होती है तो उसका अवतार मुक्तक-गीति के रूप में होता है। यह रूप-पार्थक्य कवि के व्यक्तित्व के न्यूनाधिक मिश्रण के कारण हुआ करता है। गीति में व्यक्तित्व अपनी सम्पूर्णता में तरंगित होता है, प्रबन्धकाव्य में आंशिक व्यक्तित्व पात्रों के पात्रत्व से मिलकर आनन्द की उद्भावना करता है। नाटक में कवि बिल्कुल प्रकट नहीं होता। वह दर्शकों के समक्ष पात्रों को उपस्थित करता है और, बिना टीका-टिप्पणी किए अथवा अपनी इच्छा से कुछ भी परिवर्तन किए, वह उनको बोलने, अभिनय करने और अपने सदसद्-प्रारब्ध का निर्माण करने की स्वतन्त्रता दे देता है। वे भले हों या बुरे, बुद्धिमत्ता का व्यवहार करें अथवा मूर्खता का, उनके कार्यों के प्रति उसकी क्या भावना और धारणा है, इसका वह आभास भी नहीं देता। वह तो नाटक—जगती का क्रिया-कलाप-उपस्थित करता है; परीक्षा दर्शक के हाथ में है। दर्शक के विचार और भावना के लिए उसी के विचारों और भावों के संसार से लेकर कवि ने जीवन-गाथा का एक अंश उपस्थित किया है; और दर्शक के समक्ष उसको उपस्थित करते समय वह स्वयं मौन हो गया है। ताम्बूल-वाहक के मूक समर्पण की भाँति वह भी अपने उपकार को चुपचाप समर्पित कर अपने उपहार्य

पदार्थ के लिए उपभोक्ता को ही परामर्शदाता का अधिकार देता है। वह जीवन की व्याख्या नहीं करता; जीवन की व्याख्याकार को यहाँ आवश्यकता ही नहीं रही है - यह प्रदर्शित या वर्णित नहीं साक्षात् जीवन है। इसमें कोई मध्यस्थ व्यक्ति नहीं है; आप मानवता के बिलकुल आमने-सामने खड़े कर दिए गए हैं।

इसी में नाटक की पूर्णता है। यदि एक बार भी कवि अपने आप को दिखा देता है तो नाटक का सारा सौन्दर्य मारा जाता है। यदि नाटककार कहीं भी संकलन सा करता हुआ, टीका-टिप्पणी या व्याख्या करता हुआ, अथवा व्यवस्था करता हुआ सा, दिखाई दे गया तो नाटकीय सरलता और सबलता का ह्रास हो गया। कवि के व्यक्तित्व का अंश यदि कहीं दृष्टिगत हो गया तो नाटक जीवन का स्वरूप नहीं रह गया; वह एक खेल, एक मखौल, बन गया और कवि नाट्यकार नहीं बल्कि टीकाकार, रंगाचार्य, बन गया। कवि के इस प्रकार निपट पक्ष में रहने से जीवन को दर्शक के समक्ष होने का पूर्ण अवसर प्राप्त होता है। इसी प्रकार नाटक सदा से सामाजिक जीवन के चित्रण का प्रधान साधन रहा है।

नाटक वर्तमान समय में होता है, प्रबन्ध-काव्य भूत काल में। नाटक में जीवन दर्शक के सामने रहता है, प्रबन्ध-काव्य में कवि अपने देखे हुए नाटक को पाठक से कहता है। चरित्रांकण कार्यकलाप, कथानक, संघर्ष और परिणाम नाटक के समान महाकाव्य और खण्ड-काव्य के भी अंग हैं। पर इनमें भी काल की विभिन्नता हो जाती है। दूसरी बात यह है कि नाटक के विपरीत प्रबन्ध-काव्य में कवि को अपने व्यक्तित्व के प्रदर्शन की स्वतन्त्रता रहती है। प्रबन्ध-काव्य वर्णन-विषय और कवि के व्यक्तित्व का मिश्रण है। समस्त कथा कवि की ही विचारधारा में बह कर, उसी के भावों में रंग कर, उसी के निर्णय के अनुसार और उसी की भावनाओं से कट-कट कर पाठकों को प्राप्त होती है। यह घर का भोजन नहीं जिस पर आपकी

इच्छा-अनिच्छा का प्रभाव पड़ सकता है। यह दूसरे के यहाँ के प्रीतिभोज का मिष्टान्न है जिसके निर्माण में आपकी नहीं बल्कि आपके अतिथ्यकार की रुचि का अधिकार है। प्रबन्धक-काव्य में कवि वर्णनकर्त्ता ही नहीं बल्कि भाष्यकर्त्ता भी होता है और वह भाष्य भी कवि के निजी चरित्र और सहानुभूति एवं संवेदना के अनुसार होता है। प्रबन्ध-काव्य में पाठक को कवि की संवेदनाओं से प्रभावित किया जाता है। "भिन्नरुचिर्हि लोक" के अनुसार अनेक स्थानों पर पाठक कवि से भिन्न विचार भी रख सकता है; फलतः वह कवि से असहमत हो कर कवि से भिन्न मत भी दे सकता है। तात्पर्य यह है कि प्रबन्धक-काव्य सामाजिकता के प्रदर्शन और चित्रण की दृष्टि से नाटक की अपेक्षा संकीर्ण रह जाता है।

नाटक कथा को दिखाता है, प्रबन्ध-काव्य उसे कहता है; और मुक्तक उसे गाता है। मुक्तक में यह मान लिया जाता है कि पाठक कथा से परिचित है; अतएव कवि कथा न लिख कर उसके विषय में गीत गाता है। कथा के समान ही चरित्र, व्यापार या भावना के विषय में भी मुक्तक के गान गुंजायमान होते हैं। इसी से मुक्तक प्रायः गीतिकाव्य भी होता है। इस प्रकार मुक्तक में व्यक्तित्व ही व्यक्तित्व रहता है। गीति का लक्ष्य ही यह होता है कि कवि जो अनुभव करता है वह अपने शुद्ध-रूप में पाठक के सामने आ जाए। प्रबन्ध-काव्य कवि के अनुभवों को शुद्धतः सामने लाने के लिए नहीं बल्कि कथा कहने के लिए बनाया जाता है; उसमें अनुभव-कथन केवल सुयोग देख कर किया जाता है। पर गीति में अनुभव-कथन ही उसका सर्वस्व है। कवि से आत्म-भाव (Subjectine self) में वर्णन की अनुभूति से तरंगें उठती हैं, उन्हीं की शब्दों द्वारा अभिव्यंजना गीति कहलाती है। इस प्रकार सामाजिक जीवन के चित्रण में गीति-काव्य नाटक से बिलकुल ही पीछे रह जाता है।

यह तो काव्यक्षेत्र का पर्यालोचन हुआ। गद्य-साहित्य तो मुख्यतः

विचार-प्रधान होने के कारण काव्य की समानता कर ही नहीं पाता। जो कार्य कविता में महाकाव्य का है वही कार्य गद्य में उपन्यास का है; और जो कार्य गीति का है वही छोटी कहानी का। गीति के समान ही कहानी भी किसी विशेष संवेदना का ही अंकन है; केवल माध्यम की विभिन्नता से—गद्य के सहज प्रभाव में—कहानी में विचारतत्व भी रहता है, जब कि गीति में केवल भावों का ही उद्गार होता है। इस प्रकार उपन्यास और कहानी भी अधिकतर कवि की विचारधारा को व्यक्त करते हैं, केवल शुद्ध जीवन की नहीं। यहाँ यह कहा जा सकता है कि जब लेखक इनमें समाज के अंगों, रूपों और व्यवहारों की आलोचना करता है तब इन्हें सामाजिकता में पीछे या कम कैसे कहा जा सकता है। कुछ अंशों में यह बात ठीक ही है, पर हमारा तात्पर्य यह है कि कवि के अधिकाधिक सामने आने से पाठक की दृष्टि से समाज उतना ही परोक्ष होता जाता है। ऐसी दशा में समाज एक रंगीन दर्पण में देखे हुए चित्र के समान उपस्थित होता है, स्वयं खुले हुए दृश्य के रूप में नहीं। समाज का चित्रण तो इनमें मिलेगा, पर उस चित्रण की प्रेषणीयता रंगीन होगी, धवल-निर्मल नहीं। ठीक यही बात निबन्ध की है। पहले तो, निबन्ध का उद्देश्य ही भिन्न है; पर यदि किसी विचार-सरणि द्वारा उसमें समाज का चित्रण हो भी गया हो तो वह भी विचार-भरित होगा।

नाटक एक बहु-कोण और बहु-पक्ष दर्पण है जो मानव-स्वभाव की सर्व-दिग्वर्ती किरणों का ग्रहण व संचय करता है और उनको इतस्ततः वितरित करता है। जीवन की किरणें इसमें अपनी पूर्ण सरलता और विशदता के साथ प्रतिफलित होकर कई गुने प्रकाश का विस्तार करती हैं।

सामाजिक जीवन के ह्रासकाल में नाटक भी ह्रासोन्मुख हो चलता है, क्योंकि जैसा समाज होता है वैसा ही उसे चित्रण करना पड़ता है। अपने समय की हानिकर सामाजिक स्थितियों का प्रदर्शन करके ही वह अपने

तात्कालिक सामाजिकों का मनोरंजन कर पाता है। फिर प्रतिक्रिया-रूप में कुछ ऐसे नाटककार भी होने लगते हैं जो सामाजिक पतन पर दृष्टि डाल कर कुछ पुराने तथा कुछ नए नैतिक सिद्धान्तों को जीवन के नियमों के रूप में देखते हुए समाज-सुधारक बनने का दावा करने लगे हैं। उनके द्वारा रचित नाटक उपदेशों के संग्रह-मात्र हो जाते हैं। उनके दुःखान्त और सुखान्त, दोनों प्रकार के, नाटकों में दोष, अपराध, पाप, असच्चरित्रता आदि दुर्गुणों की ओर तो अतिरंजना होगी, जिनका अतिरंजित ही दुष्परिणाम दिखाया जाएगा, और दूसरी ओर सदाचार आदि के ऐसे अतिकल्पित और असम्भव से चित्र दिखाए जाएं जिनमें, कौतूहलोत्पादन के गुण सम्भवतः होते हुए भी, मानव-स्वभाव की आस्था के लिए कोई विशेष आधार नहीं मिल पाते। ऐसी अवस्था में भिन्न-भिन्न भावस्थितियों तथा तदनुरूप परिस्थितियों में पाठक का सहज मानसिक साधारणीकरण नहीं हो सकेगा। तब सहानुभूति का स्थान जुगुप्सा ले लेगी; वचन-चातुर्य हास्य का स्थान ले लेगा, हम हँसेंगे तो सही, परन्तु आनन्द की निर्मल वृत्ति से नहीं बल्कि विजयमद अथवा अहंकार की किसी अन्य निम्न वृत्ति से। अश्लीलता—वह जीवन-सौन्दर्य-विघातिनी राक्षसी जो धीरे-धीरे जीवन की सात्विकता को खाती रहती है – दूषित समाज को अपना आश्रा कर मंत्री बनाती है। समाज का अनुचर नाटक भी तब, प्रकट-रूप में ऊँचे ऊँचे आदर्शों का ढोल पीटता हुआ, प्रच्छन्न रूप में इस राक्षसी का मंत्रित्व करने लग सकता है और तरह-तरह की कुटिलताओं और प्रतारणाओं के आचरण एवं व्यवहार को प्रोत्साहित कर सकता है।

नाटक काव्य का वह रूप है जिसमें काव्य को सबसे अधिक अभिव्यंजन प्रणालियाँ उपस्थित की जा सकती हैं। इस दृष्टि से भी नाटक ही कविता का सामाजिक जीवन से सर्वाधिक सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। नाटक की इस योग्यता का तो, हमने देखा, मूल कारण यही है कि उसमें कवि

को केवल सत्पात्रों से ही नहीं,बल्कि असतपात्रों से भी अपना हृदय मिलाना पड़ता है। यहाँ कवि की सहानुभूति को अधिकतम मानवता में अपने को विस्तृत करना पड़ता है। क्षेत्रगत अपनी इस विस्तृति में ही वह जीवन की विशालता को भी हृदयंगम कर उपस्थित कर सकती है। यहाँ कवि क्षुद्रतम पात्र तक के हृदय में प्रवेश कर उसके समस्त अन्तस् को और समस्त जीवन संघर्ष को देखता हुआ विशाल जीवन के साथ उसका सामंजस्य भी उपस्थित करता है। भले ही उसका दृष्टिकोण पूर्णतः आदर्शवादी हो परन्तु जिस समय वह जीवन को प्रत्यक्षतः उपस्थित करने बैठता है उस समय, यदि वह चाहता है कि उसका चित्र दर्शकों की विश्वास-बुद्धि और उनकी आस्थाओं का अतिक्रमण न कर जाए तो, उसे समन्वय-वृत्ति से ही काम लेना पड़ेगा। आदर्शक विषयक उन अतिरंजनाओं को वह कदापि आश्रय नहीं दे सकता जिन्हें वर्णनात्मक काव्यों में कभी-कभी अपना लिया जाता है। हमारे पूर्ववर्ती साहित्याचार्यों ने इसी लिए नाटक को "रूपक" संज्ञा दी थी, जिससे सिद्ध है कि नाटक ही जीवन को और भावों को सबसे अधिक प्रेषणीय बना सकता है, क्योंकि नेत्रों का सहज विषय होने के कारण जीवन का दृश्य अंग अथवा रूप ही सबसे अधिक हृदय-ग्राह्य होता है।

यदि हम इस बात पर विचार करें कि रस की विवेचना करते समय हमारे पूर्वाचार्यों ने नाटक को ही एकान्ततः अपने ध्यान में रक्खा था तो हमें विदित होगा कि पूर्ण रसोद्भावना जितनी नाटक में शक्य है उतनी दूसरे प्रकार की काव्य-रचनाओं में नहीं। इसे समझने के लिए हमें कविता और नाटक की रचना-पद्धतियों को देखना चाहिए। कविता में कवि अपने व्यक्तित्व को प्रदर्शित करने के प्रयत्न में कथा की गति के साथ-साथ आकस्मिक ढँग से, या सहसा चमक उठने वाले भावों को तात्कालिक ढँग से, ही उपस्थित कर देता है; परन्तु कथा के मोड़ के साथ-साथ इस प्रकार

के भाव भी अक्सर जल्दी-जल्दी बदलते रह सकते हैं। ऐसी दशा में अति कुशल कवि ही इनके द्वारा रसोत्पादन का कार्य कर सकते हैं, जो कवि-हृदय की अति संवेदनशील और विशेष प्रतिभा की अपेक्षा रखता है। आशु परिवर्तनशीलता बहुत से संचारी भावों की सावेग द्रुतगति को इस प्रकार वर्णन द्वारा व्यवस्थित करना कि वे परस्पर-सहायक होकर किसी व्याप्ति-रम्य स्थायी भाव की साधारणीकृत चर्वणा कराने में पूर्णतः समर्थ हो सके सरल कार्य नहीं है। इसके विपरीत नाटक में कवि का लक्ष्य अपने निजी व्यक्तित्व का प्रदर्शन न कर जीवन का प्रत्यक्ष अंकन करना होता है, अतएव वह क्रमशः व्यवस्था से जीवन के प्रत्येक उपयोगी अंश का बिम्ब ग्रहण कराता हुआ चलता है। यदि वह ऐसा न करे तो जीवन की सम्यक्-व्यवस्था के अभाव में वह अपने जीवन-चित्र को पूर्णतः ग्राह्य न बना सकेगा। उदाहरण के लिए, यदि हम "प्रसाद" के "चन्द्रगुप्त" नाटक को पढ़ें तो देखेंगे कि चन्द्रगुप्त का वीर-चरित्र उसकी वाणी, उसके कार्य और इसके संघर्ष द्वारा प्रकट होने के अतिरिक्त दूसरे के कथन और आचरण से भी परिपुष्ट होता है, और इस प्रकार बार-बार आवृत्ति होने के कारण यह नाटक वीर-रस की उद्भावना में पूर्णतः सफल होता है।

फिर नाटक में एक ही रस होता है। सिद्धान्ततः इतर काव्य में भी एक ही रस होना चाहिए। परन्तु कभी-कभी इसमें कुछ अपवाद भी देख लिया जाता है। उदाहरणतः, कालिदास के प्रसिद्ध महाकाव्य "रघुवंश में देख लीजिए। इसके अतिरिक्त महाकाव्य की वर्णनात्मक प्रणाली में अतिरंजित प्रसंगों की पूरी गुंजायश रहने के कारण उसमें रसानुधावन-क्रिया में कभी-कभी विराम उपस्थित हो जाने की भी सम्भावना बन जाती है। परन्तु नाटक में वर्णन और अतिरंजना का अवकाश न होने के कारण उसकी गति को अपने रस-लक्ष्य की दिशा में अविराम केन्द्रीय भावना के साथ चलने की आवश्यकता होती है। यह सच है कि महाकाव्य के अमुक-अमुक

प्रसंग अथवा फुटकर कविता में तात्कालिक आनन्दोद्रेक की तीव्रता द्वारा पाठक के हृदय को एकदम हिला देने अथवा चमत्कृत कर देने की कभी २ नाटक की अपेक्षा अधिक समर्थता देखी जाती है; तथापि संलग्नता के साथ क्रमशः बढ़ते हुए रस के स्थायी प्रभाव की दृष्टि से नाटक ही कविता की अपेक्षा अधिक ऊँचा ठहराया जायगा—

कविता में कल्पना का बाहुल्य रहता है। कल्पना के बिना नाटक की भी रचना नहीं हो सकती। परन्तु कविता की कल्पना में जहाँ कवि को एक काफ़ी बड़े अंश तक, भले ही क्षणमात्र के लिए, पृथ्वी को भूल कर स्वर्ग तक की उड़ान भरने का अवसर कभी-कभी मिल जाता है, वहाँ नाटक में इसके विपरीत, कल्पना का उत्तरदायित्व आदर्श और वस्तु, रोमांस और यथार्थ, के एक ऐसे समन्वय-संयोजन में देखा जाता है जो आँखों के विश्वासयोग्य प्रत्यक्ष यथार्थ से भिन्न न जान पड़े। यह नाटक की सामाजिकता है।

नाटक दुखान्त-सुखान्त वर्गीकरण भी उसकी दृश्यता के कारण उसकी सामाजिकता में विशेष सहायता देनेवाला है दुखान्त नाटक में मानव की विवशता और अन्धता का चित्रण पाठक की आत्मा को जीवन की यथार्थता की ओर सजग करके उसे मानव-सहानुभूति से आन्दोलित करने और उसका पथ-प्रदर्शन करने के उद्देश्य से होता है। ऐसे नाटक बरबस पाठक के हृदय को अधिकृत करके उसे पीड़ित मानवता पर सहानुभूति की वर्षा करने के लिए उद्यत करते हैं। दूसरी ओर, सुखान्त नाटक जीवन के हँसते-खेलते पक्ष को देखते हैं और हँसने-खेलने के आशावाद का सन्देश देते हैं। क्योंकि हम देखते हैं कि रोते रह कर जीवन नहीं चलता और रुदन के बीच में भी हँसने-खेलने की पोषणी वृत्ति ही जीवन को धारण करने योग्य बनाती है। जीवन को कायम रखनेवाली और जीवन की संचालिका वस्तुतः हँसी खेल की बड़ी आशात्मिका वृत्ति है। सुखान्त नाटक में जीवन-संघर्ष के

बीच लेखक की, और मानवता की, स्मिति का स्वरूपांकण होता है। जीवन में मुसकुराहट प्रेषणीयता और ग्राहिकता का प्रधान साधन बनती है, क्योंकि हममें से एक दूसरे को जितना यह आकर्षित करती है गाम्भीर्य उतना आकर्षित नहीं कर सकता। अंग्रेजी की एक कहावत है—Laugh and the world laughs with you; weep and you will weep alone. इस कविता में हम यह भी देख सकते हैं कि सुखान्त नाटक अपने में अत्यधिक सामाजिकता का समावेश किए हुए रहते हैं।

—— — ——

: २८ :

पाश्चात्य नाटक

पाश्चात्य नाटक और नाट्यकला का उद्‌गम यूनान से हुआ है। यूनानी तथा पश्चिमीय नाट्यशास्त्र की सबसे पुरानी पुस्तक जो उपलब्ध है वह अरस्तू की पोयटिक्स (Poetics) है। अरस्तू ने नाटक के दो दो विभाग किए हैं—ट्रेजेडी (Tragedy) और कमेडी (Comedy)। इन दोनों का अभिप्राय आजकल दुखान्त और सुखान्त नाटक समझा जाता है। परन्तु अरस्तू के समय में इनकी भावना ठीक दुखान्त और सुखान्त की नहीं थी। उसकी व्याप्ति अब से कुछ अधिक थी। अरस्तू के अनुसार जिन मनुष्यों के कर्मों का अनुकरण किया जाता है वे सामान्य जीवन के मनुष्यों से या तो ऊँचे होने चाहिएँ या नीचे। यह विकल्प ही सिद्धान्त रूप से ट्रेजेडी और कमेडी का विभेदक है। ट्रेजेडी में हम ऊँचे आदर्शों का अनुकरण करते हैं, कमेडी में निम्न का। प्रारम्भिक काल में हम एक में

देवी-देवताओं की कीर्ति गाते हैं और दूसरे में क्षुद्र तथा कुत्सित मनुष्यों पर व्यंग्य करते हैं। बाद में होमर के समय से कमेडी में हास्य का तत्व भी सम्मिलित हो गया जिससे लोगों की आकार या व्यवहार की असामान्य विरूपताओं को अतिरंजित करके मजाक बनाया जाने लगा। पश्चिमी कमेडियों में आजकल भी, एकान्त हास्य तो नहीं, परन्तु हास-विलास की मात्रा यथेष्ट रहती है। हास्य-प्रधान या व्यंग्य-प्रधान नाटकों के वर्ग ही अलग हैं। हिन्दी में अभी तक एकमात्र सुखान्तता ही कमेडी का चिन्ह समझा जाता है, यद्यपि 'कॉमिक' (Comic) का अर्थ लोग दूसरा समझते हैं।

सबसे पहले ट्रेजेडी या कमेडी, दोनों, में एक व्यक्ति केवल कुछ गीत या कवित्त पढ़ा करता था। बाद में एक और पात्र की योजना की गई और कथोपकथन पर जोर दिया गया। पुन; बाद में, सोफोक्लिज ने पात्रों की संख्या तीन करदी और अनुकरणकार्य में दृश्य चित्र का भी समावेश किया। कुछ और बाद छोटी कथावस्तु के स्थान पर बड़ी कथावस्तु की स्थापना हुई और नाटक के अंकों की संख्या बढ़ाई गई। अरस्तू के समय तक नाटक इस विकास को पहुँच चुका था।

ट्रेजेडी और कमेडी में ट्रेजेडी श्रेष्ठ प्रकार की रचना है। ट्रेजेडी एक ऐसी कार्यावली का कार्यरूप में अनुकरण है—वर्णन रूप में नहीं—जो गम्भीर हो, पूर्ण हो, जिसका कुछ विशिष्ट आकार हो, जिसकी भाषा कला की दृष्टि से सब प्रकार से अलंकृत हो और जो भय और करुणा के द्वारा इन भावों का उचित उद्रेक कराने में समर्थ हो। भाषा के अलंकारों में लय, माधुर्य और गीत की गणना है। ये भिन्न-भिन्न अलंकार नाट्य-वस्तु के भिन्न-भिन्न स्थलों में दिखाए जाने चाहिएँ।

अरस्तू ने नाटक के छः तत्व बतलाए हैं—कथावस्तु, चरित्र, भाषा, विचार, दृश्य और गीत। इनमें कथावस्तु या प्लॉट को उसने सबसे अधिक

महत्व का माना है और ट्रेजेडी की आत्मा कहा है, क्योंकि हम अनुकरण मनुष्यों के कृत्यों का ही करते हैं और इन्हीं कृत्यों के आधार पर प्लॉट बनता है। प्लॉट के बाद महत्वक्रम मे चरित्र आता है, तब क्रमशः विचार, भाषा, गीत और दृश्य। दृश्य को सबके बाद में इसलिए रक्खा गया है उसका कविकला से कोई सम्बन्ध नहीं है।

आदि, मध्य और अवसान- ये प्लॉट के तीन अंग हैं। प्लॉट दो प्रकार का है—शुद्ध (Simple) और संकीर्ण (Complex) शुद्ध प्लॉट के नायक के भाग्य का परिणाम या कोई परिवर्तन किसी आकस्मिक या असम्भावित घटना के कारण नहीं होता, संकीर्ण मे होता है। आकस्मिक परिवर्तन या तो घटनाओं की सहसा-विपरीत गति (reversal) के कारण होता है, या दो पात्रों के सहसा एक-दूसरे को पहचान लेने पर (recognition) एक व्यक्ति ने किसी दूसरे को मारने के लिए सहसा तलवार उठाई ही थी कि उसे तुरन्त किसी प्रकार मालूम हुआ कि जिस व्यक्ति को वह मारने जा रहा था वह उसका पुत्र है। यही (recognition) या अभिज्ञान है। उत्तररामचरित मे लव और कुश को देख कर रामचन्द्र के मन में कुछ भाव पैदा होते हैं जिससे उनका हृदय दोनों बालकों की ओर स्वतः खिंचने लगता है। बाद में उन्हें मालूम होता है कि दोनों बालक उनके पुत्र हैं। लव-कुश भी अपने पिता को जान लेते हैं। इस प्रकार एक भयंकर, अनर्थकारी युद्ध रुक जाता है। वैपरीत्य और अभिज्ञान संकीर्ण प्लॉट की अन्तरंग अवस्थाएँ हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक ट्रेजेडी मे वेदना का दृश्य (Scene of Suffering) रहना आवश्यक है। वेदना के दृश्य में कोई सांघातिक घटना दिखाई जाती है, जैसे मृत्यु, शारीरिक कष्ट या घाव आदि।

वस्तु-विन्यास के चार तत्व है- प्रस्तावना (Prologue), उपसंहार (Exode), अंक (Episode) और ध्रुवक (Choric Song)।

'प्रोलोग' भारतीय नाटक की प्रस्तावना के ढँग का होता था और वस्तु-आरम्भ के ध्रुवक के पहले आता था। 'एक्सोड' ट्रेजेडी के उस समय भाग को कहते थे जिसके बाद मे कोई ध्रुवक नही होता था। 'एपिज़ोड' दो ध्रुवकों के बीच का अंश होता था। इससे यह मालूम होता है कि अन्तिम अंक या 'उपसंहार' को छोड़ कर प्रत्येक अंक के आरम्भ और अन्त में ध्रुवक रहता था और ध्रुवकों की संख्या खेल के बीच में यथेष्ट रहती थी। नाटक में 'कोरस' की इस प्रधानता को समझाते हुए मैथ्यू आरनल्ड ने लिखा है:—

"घटनाओं की प्रत्येक परिसमाप्ति के बाद, विचारशील दर्शकों के मन पर उन घटनाओं द्वारा स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होने वाले संस्कारों को समाहृत और संगठित करना ध्रुवक का काम था। अन्ततः वह नाटक के अन्त में समग्र वस्तु के निश्चय और प्रभाव की आलोचना करता था। दर्शकों के मन में ट्रेजडी के क्रमागत प्रवाह से उत्पन्न हुए प्रभाव को यदि गतांश की स्मृति या आगन्तुकांश के संकेत से पुष्ट किया जा सकता था तो उसको पुष्ट करना 'आदर्श दर्शक' का अधिकार था। दर्शक के भावों का संसर्ग करना, उनमें अनुरूपता लाना, उन्हें अधिक तीव्र बनाना—यही यूनानी ट्रेजेडी के ध्रुवक का सब से मुख्य प्रयोजन है।" कोरस के गायक-गण का वस्तु अभिनय से कोई सम्बन्ध नहीं होता था, अतः वे अभिनय से भिन्न रहते थे। इसीलिए आर्नल्ड ने उन्हें 'आदर्श दर्शक' कहा है।

ध्रुवक के इस उद्देश्य को देखते हुए अनुमान होता है कि स्वभाव में भारतीय नाटक का 'विष्कम्भक' और ध्रुवक दोनों कुछ कुछ मिलते-जुलते थे। दोनों गत और आगन्तुक घटनाओं की सूचना देते थे और दोनों का प्रयोग अंक के आरम्भ में किया जाता था। भेद शायद इतना था कि विष्कम्भक तो घटनाओं का स्वाभाविक सम्बन्ध बनाए रखने के लिए केवल उन बातों की सूचनामात्र दे देता था जो अभिनय के भीतर नहीं दिखाई

जाती थीं और ध्रुवक अभिनीत या अभिनेय कथांशों का निरूपण कर दर्शक की भाव-परम्परा को अधिक उत्तेजित करने के लिए प्रयुक्त होता था। साथ ही एक भेद यह भी था कि ध्रुवक के गायकगण 'आदर्श दर्शक' होते थे, परन्तु विष्कम्भक के वक्ता नाटकीय पात्रों में ही समझे जाते थे।

ग्रीक ट्रैजेडी के रचना-नियमों में जो सब से मुख्य बात है वह तीन (Three Unities) का सिद्धान्त है। यूनानी ट्रैजडी समय, स्थान और वस्तु के 'समक' को मानती है। नाटकीय वस्तु की आधार-भूत घटनाएँ यथार्थ जीवन में चौबीस घंटे से अधिक की न होनी चाहिएँ, वे सब एक ही स्थान में होनी चाहिएँ, जिससे दृश्य-परिवर्तन की आवश्यकता न पड़े और नाटक की कथावस्तु एक ही होनी चाहिए, अर्थात् एक नाटकीय वस्तु में अन्य उपवस्तु आदि न हों—यही इन तीन 'समकों' का तात्पर्य है। प्रारम्भिक ग्रीक अभिनय की असुविधाएँ ही इस समक-विधान का मूल कारण हैं।

वर्तमान पाश्चात्य नाटक और ग्रीक ट्रैजेडी के मूल सिद्धान्तों में सहानुभूति की बहुत कमी है। यूरोप के 'रेस्टोरेशन' (Restoration) और 'रिनैसेन्स' (Renaissance) काल के भीतर वहाँ की साहित्य-कला में बड़े-बड़े परिवर्तन हो गए। इससे पहले इटली आदि के नाटकों में यूनानी आदर्श की आत्मा बहुत-कुछ अंशों में मौजूद थी। धीरे-धीरे साहित्य में कल्पना और वैचित्र्य (Romance) की मात्रा बढ़ने लगी। इङ्गलैंड में एलिज़बेथ के काल में यह प्रवृत्ति अपनी चरमता को प्राप्त हुई और शेक्सपियर उसका प्रधान पथप्रदर्शक था। समय और स्थान के 'समक' छिन्न-भिन्न हो गए, कार्य 'समक' में भी संकुलता आ गई। ट्रैजेडी और कमेडी के विभेदक भावों में परिवर्तन आ गया। दोनों के अंशों को मिला कर जो संकर-रचनाएँ हुईं उनका नाम "ट्रैजि-कमेडी" पड़ा। कमेडी की हास्य और उपहास की भावना को अलग हटाकर कमेडी

आनन्दप्रधान नाटक का रूप रह गई और हास्योत्पादक नाटकों की प्रहसन आदि (force pantomimeete) अलग-अलग अनेक श्रेणियाँ बन गईं। साथ ही ट्रेजेडी की वेदनापूर्ण गम्भीरता को कम और कमेडी की विनोदशीलता को अधिक करने के लिए इन दोनों प्रकार की रचनाओं में मुख्य वस्तु के अङ्गीभूत प्रहसनात्मक प्रसंगों (comic) का भी समावेश करने की प्रणाली पड़ गई। कोरस का पूर्ण अस्त हो गया।

वर्तमान समय में पश्चिमीय नाटक की गति और भी बन्धनमुक्त हो गई है। प्राचीन रचना नियमों के बन्धन को तोड़ कर वह एकदम स्वतंत्र बन गई है। एलिजबेथ-काल के "रोमान्टिक नाटक में वस्तु-विकास की प्रायः पाँच या छः अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती थीं। आजकल के अधिकांश नाटकों में, यदि देखा जाए तो तीन ही रह गई हैं। वर्तमान नाटककार अपनी वस्तु का आरम्भ प्रायः उस स्थान से करते हैं जहाँ रोमैन्टिक नाटककारों का मध्य रहा करता था। प्रारम्भिक अवस्थाओं को छोड़कर वे अपनी वस्तु को विकसित रूप में ले लेते हैं और संघर्ष के स्थल से आरम्भ करते हैं। अधिकतर आजकल की वस्तुओं का कोई विशेष या जटिल कथानक भी नहीं होता। वही, सामान्य जीवन की दैनिक घटनाओं को लेकर एक वस्तु तैयार हो जाती है और उसकी नींव पर एक उच्च श्रेणी का नाटक खड़ा हो जाता है। हम लोग अक्सर उन कलाकारों की प्रशंसा किया करते हैं जो 'कुछ-नहीं में सब-कुछ' बना कर दिखा देते हैं —Make annything out of nothing. इसका एक रहस्य शायद यह है कि आजकल लेखकों का ध्यान सामाजिक प्रश्नों की ओर विशेष-रूप से जाता- और वर्तमान समय Art for art's Sake.' ·'कला के लिए कला' के विवाद का युग होने पर भी लेकखगण सामयिक जीवन की जटिलताओं से आकर्षित हुए बिना नहीं रह पाते। सामाजिक या गार्हस्थ्य जीवन की किसी एक विचित्रता को लेकर उसका तत्काल और गहरा प्रभाव डालने के लिए ये जटिलता के झंझट में नहीं पड़ते और वस्तु-विकास की परिचारक

प्रारम्भिक अवस्थाओं को छोड़ देते हैं पुराने साहित्य में जिस प्रकार भिन्न-भिन्न भावों के परिपाक द्वारा पाठकों पर प्रभाव डाला जाता था उस प्रकार आजकल नहीं होता। आजकल वही प्रभाव विनोद (wit या humour) या व्यंग्य के द्वारा अथवा मीठी या तीखी चुटकियाँ लेकर किया जाता है। अतएव हम देखते हैं कि वर्तमान समय में सामाजिक नाटक ही अधिक लिखे जाते हैं। इससे पहले सामाजिक नाटक बहुत कम लिखे जाते थे। क्या प्राच्य, क्या पाश्चात्य, दोनों ही साहित्यों में पौराणिक या प्रख्यात वस्तु की ही अधिकता रहती थी। यूरोपीय साहित्य की वर्तमान प्रगति पर अमरीकन साहित्य का भी कुछ प्रभाव हो सकता है, क्योंकि, वर्तमान समय में किसी प्राचीन अमरीकन जाति की सत्ता न होने के कारण उनका कोई प्राचीन इतिहास या पुराण भी नहीं है। फिर, नई अमरीका ने जितनी जल्दी अपनी सर्वतोमुखी भौतिक उन्नति की है और अपने जीवन को उसने जितना अधिक व्यस्त और नानारूप बना लिया है उसको देखते हुए सामयिक जीवन की छोटी २ घटनाओं की ओर ही उसका ध्यान जाना स्वाभाविक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रूप और आकार की आवश्यकताओं की ओर वर्तमान नाटक उस ढँग से ध्यान नहीं देता जिस प्रकार प्राचीन काल में दिया जाता था। रूप-मीमांसा में आजकल केवल शैली ही द्रष्टव्य रहती है जो, यथार्थ में, भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में विषय और लेखक के ऊपर निर्भर रहती है। आजकल की नाट्यकला में भावों और विचारों की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है और आलोचना में भी किसी पुस्तक के इन्हीं अंगों को विशेष-रूप से देखा जाता है 'उत्तररामचरित' और 'महावीरचरित' में सन्धियों की असावधानता के कारण भवभूति का पंडित मंडली ने बहिष्कार कर दिया था। परन्तु अब कोई ऐसे ऊपरी बन्धन-विशेष नहीं हैं जिनके ऊपर ही कलात्मकता का दार-मदार हो। अब आलोचक प्रायः यही देखता है कि नाट्यकार ने कैसा विषय लिखा है और उसका किस प्रकार प्रतिपादन किया है।

परन्तु दूसरी ओर हम देखते हैं कि इतना विच्छेद हो जाने पर भी वर्तमान कला, जान कर या अनजाने, अंशतः ग्रीक कला की प्रेरणा को ग्रहण करती जा रही है। जैसा कहा जा चुका है, आजकल कथा बहुत ही सादी तथा छोटी होती है। अतः उसमे प्रासंगिक कथाओं और उपकथाओं की प्रायः कोई सम्भावना नही रह जाती। ग्रीक वस्तु यद्यपि बहुत सादी नही होती थी, परन्तु उसमें प्रासंगिक कथाओं का अभाव-सा ही रहता था। ग्रीक वस्तु यथासाध्य इतनी संक्षिप्त रहती थी कि उसकी वास्तविक घटना मे एक दिन और एक रात से अधिक समय न लगे। वर्तमान समय मे भी इब्सेन, वाइल्ड आदि प्रमुख नाटककारों-द्वारा कुछ ऐसे नाटक लिखे गए हैं जिनकी वस्तु-घटना प्रायः एक दो दिन या इससे कुछ ही अधिक अवधि की होती है। अतएव, कहा जा सकता है कि वर्तमान पाश्चात्य नाटक की एक अपनी ही रीति है जिसमें पिछली कला-भावनाओं के कुछ चिह्न इधर-उधर मिल सकते हैं पर जिसमे उनके किसी स्पष्ट प्रभाव का अन्वेषण करना अभी ठीक नही है।

: २६ :

हिन्दी में जनपदवाद

आजकल के समय में जबकि जीवन के मूल स्रोतों से सम्बन्ध रखने वाले महत्वपूर्ण सांस्कृतिक प्रश्न भी साम्प्रदायिक उद्देश्यों से विवर्ण होकर हमारे सामने किसी भयंकर विश्लेषगुण को लेकर उपस्थित होते हैं तो समय के स्वर में स्वर मिला कर वर्तमान समय के जनपद-रव की एकवाद की उपाधि से अभिहित करने में शायद कोई बड़ा अपराध नहीं समझा जाएगा। इसलिए कि हम देखते हैं कि 'जनपद' शब्द को पकड़कर हिन्दी के अंगभंग के इच्छुक कतिपय सज्जनों ने इस अंगभंग के साधक एक वर्गलक्ष्य आन्दोलन का रूप पैदा करने की चेष्टा की है। हिन्दी के एकाध विद्वान् के यह सुझाने पर कि हिन्दी की कुछ वर्तमान प्रादेशिक बोलियाँ किसी बहुत पुराने समय के जनपद-विभाग से टक्कर लेती हैं, हिन्दी अंग-भंग के सिद्ध-योगी महानुभाव इस बात पर जोर दे रहे हैं कि उस पुराने जनपद-विभाग के अनुसार ही आजकल के तत्तत् स्थानों में बोली जानेवाली बोलियाँ स्वतन्त्र समझी जानी चाहिए। पुराने जनपद-विभाग और वर्तमान बोली-विभाग को किसी विशेष उद्देश्य से एक में मिलाने की इस वर्गीय चेष्टा को ही 'जनपदवाद' का नाम दिया है।

इसमें सन्देह नहीं कि किसी जमाने में अनेक जनपद थे और उनके कुछ विशिष्ट नाम भी थे। परन्तु, भारत में ही क्या; संसार के अन्य स्थानों में भी, जहाँ इन्सान की बस्तियाँ रही होंगी वहाँ, जनपद रहे होंगे और शायद उनके कुछ विशेष नाम भी रहे ही होंगे। 'जनपद' शब्द का अर्थ क्या बस्ती से कुछ भिन्न है? क्या हम कह सकते हैं कि वर्तमान भारतवर्ष में, या संसार के अन्य बसे हुए देशों में जनपद नहीं हैं? हमने 'जनपद'

शब्द का प्रयोग भले ही त्याग दिया हो, परन्तु आजकल के प्रादेशिक प्रान्त और उप-प्रान्त जनपदों के अतिरिक्त और क्या हैं? 'प्रान्त' या 'उप-प्रान्त' अथवा 'जनपद' कहने से देशव्याप्त संस्कृति की कुछ परस्पर-संलग्न परस्पर-स्वतन्त्र नहीं, इकाइयों का ही बोध होता है। इन इकाइयों के रूप राजनैतिक तथा भौगोलिक, प्राकृतिक कारणों से अदलते-बदलते रह सकते हैं; परन्तु जहाँ एक बार बस्ती बन जाती है वहाँ, यदि भूकम्प-आदि-जैसे कोई अति विकट उपद्रव ही न हों तो, वह बस्ती कायम भी रहती ही है।

तब जनपदवादियों से यह पूछा जा सकता है कि यदि आज से पाँच हजार वर्ष पहले एक स्थान में आदमी रहते थे और उस समय उस स्थान का नाम 'क' था, और यदि आज भी उस स्थान में आदमी रहते हैं और अब उस स्थान का नाम 'क' नहीं है, और उस स्थान के वर्तमान निवासी आपस में बात-चीत भी करते हैं और जिस बोली में वे बात-चीत करते हैं उसका नाम, मान लीजिए, उन्होंने 'क्टक्या' रख छोड़ा है, तो इस सबसे क्या हुआ? इसी बात को जरा-सा और सरल बनाकर यों भी मान सकते हैं कि जिस स्थान में पहले कभी एक गहरा-सा तालाब था, जिसमें मछलियाँ रहती थीं वह स्थान अब समतल होगया है और उस पर अब, एक कोने में अपनी झोंपड़ी बसा कर, आस-पास में आप खेती किया करते हैं। तो क्या केवल इसीलिए कि पहले आप के खेत के स्थान में मछलियों का तालाब था, आप अपने-आप को अन्य खेती करने वालों की बिरादरी से निकाल डालेंगे।

किसी पिछले जमाने में, और उससे भी पिछले जमाने में, आर्यावर्त में तथा आर्यावर्त के बाहर आर्यों की ज्ञातनाम और अज्ञातनाम कितनी बस्तियाँ थीं, क्या इसकी कोई गिनती की गई है या की जा सकती है? क्या महाभारत-काल के और रामायण-काल के और वैदिक कालों के जनपद

एक ही थे ? क्या इसका कोई विशेष कारण है कि विशेषतः महाभारत-काल के ही कुछ जनपद-नामों से आजकल के कुछ गिनाए गए बोली-नामों का गँठजोड़ किया जाए ? यदि इसका उद्देश्य महाभारत-युग से लेकर वर्तमान युग तक किसी सांस्कृतिक एक-सूत्रता का सम्बन्ध-संकेत दिखाना है तो– इसके विषय में अपने सन्देहों की बात न कह कर भी हम इतना तो अवश्य ही पूछेंगे कि क्या यह एकसूत्रता वैदिक आर्यता के समय से ही तलाश की जाती तो कोई बुराई होती ? अथवा, क्या फिर महाभारत-युग के पहले आर्यों में कोई संस्कृति या एकसूत्रता थी ही नहीं ! हाँ, इतनी बात तो माननी ही पड़ेगी कि महाभारत की संस्कृति बहुत-कुछ फूट की संस्कृति थी और हमारी वर्तमान संस्कृति में भी फूट का बड़ा उदार अंश है !, तब क्या इसी कारण से आजकल के जन-तथा-बोली-फोड़क आन्दोलन के लिए भारत के किसी फूट-युग का विभाग सिद्ध साधक संयोग के रूप में हमारे सामने रक्खा जाता है ?

हमारी समझ में तो इस युक्ति में कि पहले जिन स्थानों में कुछ जनपद थे, उनमें अब कोई बोलियाँ बोली जाती हैं एक साम्पातिक संयोग Coinci) dence का भी महत्व नहीं है। जैसा हम कह चुके हैं, जिस स्थान पर मनुष्य रहेंगे उसका कोई न कोई नाम भी होगा ही; और जो लोग पाँच हजार वर्ष बाद वहाँ रहेंगे वे आपस में कुछ न कुछ बोलेंगे ही। बोलते तो शायद वे लोग भी आपस में होंगे जो पाँच हजार वर्ष पहले वहाँ रहते थे। इस सब में कोई अद्भुतता या विलक्षणता नहीं मालूम होती। विलक्षणता तो इसमें मालूम होती है कि जनपदवादी जहाँ यह देखते हैं कि आजकल के लोग 'यह' बोलते हैं और पाँच हजार वर्ष पहले इन बोलने वालों के भू-खण्डों के पाँच हजार वर्ष पुराने निवासी भी शायद आपस में बोलते होंगे। वस्तुतः देखना तो यही चाहिए,—यदि देखना आवश्यक ही हो तो—कि पारम्परिक आचार-व्यवहार की इकाइयों के रूप में पहले

कभी जो जनपदीय भू-विभाग थे, उनकी अपनी सामाजिक संस्कृतियाँ क्या थीं और कहाँ तक वे एक दूसरी से स्वतन्त्र थीं; उस स्वतन्त्रता के उपलक्ष्य में उनकी अपनी बोलियों (या, वर्तमान आन्दोलकों की युक्ति में; भाषाओं) का क्या रूप था; आजकल भी उस जनपद-विभाग के अनुरूप ही जानपदिक ढँग के कोई भूमि-भाग हैं क्या; यदि कोई ऐसे भूमि-भाग हैं तो क्या उन भागों की स्वतन्त्र संस्कृतियाँ उनके समानान्तर प्राचीन जनपदों की किन्हीं स्वतन्त्र संस्कृतियों की परम्परा में ही चल रही है; और क्या इस परम्परा के उपलक्ष्य में कथितरूप भू विभागों की बोलियाँ प्राचीन जनपदों की स्वतंत्र बोलियों की भी किसी परम्परा को उपस्थित करती हैं ? परन्तु यह सब देखने के लिए बड़े परिश्रम की जरूरत है—वर्षों, न मालूम कितने वर्षों, के परिश्रम की। फिर भी पता नहीं कि इच्छित तथ्य हाथ लगें या नहीं।

हमें विद्वानों ने बतलाया है कि "जयपुरी बोली जयपुर, कोटा और बूँदी के राज्यों में बोली जाती है। यह प्राचीन काल में मत्स्यदेश कहलाता था...... मेवाती बोली का प्रदेश उत्तर मत्स्य का एक अंश है तथा व्रज का मिश्रित रूप......अलवर, भरतपुर, जयपुर रियासत के पूर्व भाग, करौली और ग्वालियर के कुछ भाग में बोला जाता है।" यहाँ कई एक प्रश्न स्वाभाविकतया उठते हैं तथा—जयपुर-कोटा-बूँदी और पुराने मत्स्य देश की भौगोलिक तथा सांस्कृतिक सीमाएँ क्या समान हैं ? जयपुर-कोटा-बूँदी कहने से अभिप्राय इन राज्यों की वर्तमान सीमाओं से है अथवा किन्हीं पिछली मुसलिम-कालीन सीमाओं से ? आदि 'जनपद' शब्द की व्यवस्था में हम पढ़ते हैं कि—"बड़ी नदियों के किनारे थोड़ी-थोड़ी दूर पर आर्य जन जंगलों को काटकर मुख्य नगर या पुर बसाते थे और उसके चारों ओर अपनी बस्तियाँ बना कर बस जाते थे। प्रत्येक ऐसा समुदाय जनपद कहलाता था और उसका केन्द्र उसका पुर या नगर होता था" यह ठीक है

फिर हमें यह विश्वास दिलाया गया है कि "ये प्राचीन जनपद आज तक ·· जीवित······रह सके तथा अपना स्वतंत्र अस्तित्व······स्थिर रख सके।" समाधान यह है कि "जनपदों के दीर्घ जीवन का मुख्य कारण इनके इन स्वतंत्र तथा पृथक पुरों का होना प्रतीत होता है इन विभागों के ये केन्द्र आज तक बने हैं यद्यपि ये विशेष स्थान आवश्यकतानुसार कई बार बदले गए हैं।" मत्स्य देश का केन्द्र-पुर विराट नगर था जिसके चिन्ह जयपुर राज्य में अब भी विद्यमान बतलाए जाते हैं। विराट नगर का केन्द्रत्व भी अब बदलकर आवश्यकतानुसार किसी दूसरे स्थान में आ गया होगा, जिससे पुराने मत्स्यदेश का प्रतिनिधित्व करने वाले किसी वर्तमान जानपदिक ऐक्य की सिद्धि होगी। आजकल के जयपुर-कोटा-बूँदी भू-खण्ड की जनपदत्व-सिद्धि के लिए इस भू-खण्ड के किस नगर को हम विराट का प्रतिनिधित्व प्रदान करेंगे? इस भू-खण्ड की स्वतंत्र सिद्धि में यह अवश्य देखना होगा कि वह उन दूसरे भू-खण्डों से जो दूसरे-दूसरे प्राचीन जनपदों (कुरु, मरु, शूरसेन) के रूप बतलाए जाते हैं अपनी कुछ विलक्षण विशेषताएँ रखता है। आजकल इस भूखंड में अनेक नगर दिखाई देते हैं जिनमें से कई एक स्वतंत्र राजधानियाँ भी हैं। यदि यह मान लिया जाय कि पुराना जनपद इन राजधानियों के कारण अलग-अलग टुकड़ों में बँट गया है तब तो जनपदों की आधुनिक विद्यमानता सिद्धान्त नहीं रहती। इसके विपरीत यदि माना जाए कि इन नगरों अथवा राजधानियों में भी कोई एक प्रमुख नगर शेष नगरों और राजधानियों का संस्कृति-संचालन कर रहा है तो उस नगर का प्रमाण-सहित नाम लेना होगा। साथ ही यह भी देखना होगा कि उसका संचालन-कर्म पुरानी मत्स्य-सीमा तक ही होता है या उसके आगे भी कहीं तक होता है। यदि हम यह न कर पाएँ तो हमारे सिद्धान्त का रूप क्या इससे कुछ अधिक रह जायगा कि जहाँ पहले मत्स्य देश था वहाँ आजकल कुछ मनुष्य रहते हैं?

ऊपर जो कई उद्धरण दिये गये हैं उनमें से एक के आधार पर

जयपुरी बोली से ही मत्स्यदेश की वर्तमान प्रतिनिधि-सीमाओं का साद्य दिलाने की सम्भव है चेष्टा की जाये। परन्तु उत्तर मत्स्य मेवाती बोली का प्रदेश है। और, पूर्वी जयपुर में ब्रजभाषा का मिश्रित रूप बोला जाता है। तो, जयपुरी बोली का शुद्ध रूप क्या है? और जयपुरी बोली की शुद्ध सीमाएँ भी क्या हैं? शुद्ध जयपुरी क्या विशेषतः जयपुर रियासत के बाहर कोटा-बूँदी रूपी मत्स्यांश में ही बोली जाती है? तब इस बोली को 'जयपुरी' के स्थान में 'छोटी' या ऐसा ही कोई अन्य नाम क्यों न दिया गया? अवश्य ही 'जयपुरी' मत्स्य युग का नाम नहीं है।

जयपुरी बोली का उदय कब और कैसे हुआ? जयपुर राज्य का उदय कब हुआ? क्या जयपुरी बोली का जयपुर रियासत के उदय और विकास से भी कोई सम्बन्ध है अथवा यह जयपुर स्थान के आदि निवासियों की ही किसी पुरानी चली आती हुई बोली का ही वर्तमान रूप है? ऐसा सुना जाता है कि जयपुर में पहले जंगली मीणा जाति के लोग रहते थे। दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दियों के लगभग मुसलमानी हमलों के दबाव से कान्यकुब्ज और उसके पश्चिमी देशों के क्षत्रिय वर्तमान राजपूताने की ओर चले आये थे और उन्होंने इस स्थान की जंगली जातियों को सहज में अपनी वशवर्तिनी कर अपने छोटे-छोटे राज्य बसा लिये थे। इन्हीं में से कोई लोग अम्बर या आमेर में आकर बस गये थे। अम्बर या आमेर ही बाद की राजनीतिक परिस्थितियों में उन्नति करता-करता जयपुर हो गया। यह सिद्ध करना बड़ा कठिन होगा कि आमेर बसाने वाले राजपूत कोई भाषा न बोलते थे और यहाँ आकर उन्होंने भीलों की भाषा सीख ली तथा जो भाषा उन्होंने सीखी वह प्राचीन मत्स्य के तत्कालीन समस्त भूखंड की भाषा थी। आमेर में आने वाले ये कान्यकुब्ज क्षत्रिय अपने साथ कान्यकुब्ज देश की संस्कृति और भाषा भी लाए होंगे और, संस्कृत तथा विजेता होने के कारण, उन्होंने ही, यदि आवश्यकता रही होगी तो, अपनी भाषा का आरोप यहाँ के लोगों पर किया होगा।

राजपूतों का आदिम आमेर बताए गए वर्तमान मत्स्य-प्रतिनिधि भूखंड का एक अति-अति क्षुद्र अंश था। यह शायद कहा जाए कि प्रारम्भिक आमेरी राजपूतों की संस्कृति और भाषा ही बाद में, जयपुर राज्य का प्रसार होने पर, मत्स्य की वर्तमान प्रतिनिधि-भूमि की संस्कृति और भाषा बन गई। यदि यह बात मान भी ली जाये तो इससे इतनी तो सूचना मिलती ही है कि राजपूतों से पहले इस भूखण्ड में कोई मत्स्य-परम्परा नहीं थी। साथ ही इसमें घटना-चमत्कार का यह आश्चर्य प्राप्त होता है कि आमेरी राजपूतों का संस्कृति-भाषा-प्रसार मत्स्य-सीमाओं में ही कैसे फिट हुआ?—वह न अधिक बढ़ सका न कम रहा। और एक स्थान में घटित होने वाले यह चमत्कार जब दूसरे जनपदीय खंडों में भी घटित होता हुआ दिखाई देता है तो उसमें एक नियम का रूप ग्रहण करने का-सा चमत्कार भी देखने को मिलता है। क्या ऐसा समझ लेना चाहिए कि प्रारम्भिक दिनों में जो राजपूत राजपूताना के छोटे-छोटे टुकड़ों में आत्मरक्षा की विकलता को लेकर आ बसे थे वे अपनी विकलता के साथ-साथ राजपूताना के मानचित्र में किसी प्राचीन जानपदिक भू-विभाग की भाषा-संस्कृति को फलीभूत करने के किसी उत्कट व्यवसाय को भी ले आए थे? तब अवश्य ही इन टुकड़ियों में बसने वालों ने जानपदिक संस्कृति-विभाग के सम्बन्ध में आपस में, बसते बसते ही, कोई समझौता भी कर लिया होगा।

अस्तु, चमत्कारों की इस अकांड-कल्पना को अलग रखकर हमें हमने उदाहरण की ही ओर पुनः लौटना चाहिए। वस्तु स्थिति तो यह है कि प्राचीन मत्स्य की वर्तमान प्रतिनिधि-भू में बसे हुए तीन राज्य एक दूसरे से स्वतंत्र हैं। इनमे कोटा और बूँदी किसी समय में एक ही थे। पहले कोटा भी बूँदी का ही अङ्ग था। बूँदी और आमेर अलग-अलग लगभग एक ही समय में बसे भी थे। ऐसा कभी नहीं हुआ कि जयपुर-राज्य कोटा और बूँदी की भूमियों में भी फैला रहा हो। बूँदी और आमेर के क्षत्रिय

अपनी-अपनी शाखा में भी एक दूसरे से पृथक् हैं। बूँदी वाले 'हाड़ा' या 'हाड़ैत' कहे जाते हैं और आमेर या जयपुर वाले 'कछवाहे'। बूँदी वालों की बोली का नाम भी 'जयपुरी' नहीं, बल्कि 'हाड़ैती' है। यही 'हाड़ैती' बोली कोटा में भी प्रचलित है। इस विषय में भूल शायद यह हुई है कि जिन विद्वानों ने भिन्न-भिन्न बोलियों के नाम गिनाए हैं वे समस्त बोली-नामों का पता नहीं लगा सके और न उन्हें इतना अवसर ही मिला कि वे तमाम बोलियों का अध्ययन कर उसकी स्वतंत्र विलक्षणताओं का आधार निश्चित कर सकते जब तक इस भूल का सुधार करके यह नहीं सिद्ध किया जाता कि प्राचीन जनपद-परम्परा अपनी सांस्कृतिक पृथकता के आधारभूत-तत्वों को अविच्छिन्न रूप से बराबर कायम रखती आई है तब तक आधुनिक जनपदवाद का महत्व क्या यह कहने से कुछ अधिक है कि वहाँ पहले मत्स्यदेश था वहाँ आजकल मनुष्य रहते हैं और वे आपस में बातचीत करते हैं।

तथापि, क्षण भर को यह मानते हुए भी कि किसी प्राचीन युग के जनपद-विभाग और आजकल के बोली-विभाग में कोई सा रूप्य-सम्बन्ध है, जनपदवादियों का युक्ति वैरूप्य समझ में आना कठिन है। इस बोली-जनपद-सम्बन्ध के आन्दोलन का क्या यह अभिप्राय है कि पुराने जनपद ही अब पुनः कायम हो जाने चाहिएँ? अथवा यह कि जनपद न सही, परन्तु जानपदिक भाषाएँ तो होनी ही चाहिएँ? अच्छा जनपदों के बिना ही जानपदिक भाषाओं को भी मान लीजिए। परन्तु इस तर्क से यह कैसे सिद्ध होगा कि—उदाहरण के लिए—चूँकि पहले कभी 'मत्स्य मरु आदि' नाम के जनपद थे इसलिए आज 'राजस्थान' नाम का जनपद है और चूँकि पुराने मत्स्य, मरु आदि के मौजूदा भू-भागों में आज जयपुरी मेवाती मारवाड़ी आदि बोलियाँ बोली जाती हैं इसलिए राजस्थान जनपद में कोई राजस्थानी भाषा है। राजस्थान और 'राजस्थानी' भाषा के तर्क-द्वारा क्या

बोली-जनपद-वाल तर्क स्वतः ही परस्पर विरोध से छिन्न-भिन्न नहीं हो जाता ?

राजस्थानी के ही उदाहरण को सामने रखते हुए यहाँ एक बात और भी देखी जा सकती है। जिस मध्यकालीन साहित्य के आधार पर 'राजस्थानी' भाषा की सिद्धि की जाती है उसकी भाषा क्या राजस्थान की ही भाषा है ? राजस्थान में बसने वाले क्षत्रिय मध्य प्रदेश से आये थे। और वे अपने साथ अपनी भाषा को भी लाये थे। उनकी उसी भाषा का स्थान-परिवर्तन आदि की कुछ विकृतियों को साथ लेते हुए, राजस्थान में प्रसार और प्रचार हुआ होगा। अतः इस राजस्थानी साहित्य की भाषा का पूर्व रूप मध्यप्रदेश की अपभ्रंश भाषा का औत्तरकालिक रूप है।

: ३० :

हिन्दी का विकेन्द्रीकरण

हिन्दी उस भाषा-परिवार का नाम है जिसमें मुख्यतः अवधी, बुन्देलखंडी, खड़ी बोली तथा उस मारवाड़ी बोली की, जिसे आजकल के दो-एक मारवाड़ी सज्जन "राजस्थानी भाषा" का व्यापक नाम देने की इच्छा रखते हैं, गणना होती है। भाषा-परिवार के इन अलग अलग अंगों का अपना अलग-अलग महत्व उसी ढँग का है जैसा कि एक मनुष्य-परिवार में माता, पिता, पुत्र, पुत्री भाई, बहन, दादी, परदादी अथवा किसी आश्रिता मौसी आदि के व्यक्तित्व का होता है। इसी भाँति, समझिए, शरीर भी भिन्न-भिन्न महत्ववाली इन्द्रियों का एक परिवार है। अपनी-

अपनी स्थिति के अनुसार परिवार के अथवा शरीर के कौन-कौन अङ्ग पारिवारिक रक्षा और अभ्युदय के सम्मिलित उद्देश्य के कितने सन्निकट हैं, इस बात से उन अङ्गों के अलग-अलग महत्व का निर्धारण होता है। परिवार-रक्षा और परिवार का अभ्युदय ही वह केन्द्रतत्त्व है जिसपर अवस्थित होकर भिन्न-भिन्न अङ्गों की पृथकता एकसूत्रता के रूप मे विकसित होती है। जिसके ऊपर परिवार-रक्षा का सबसे अधिक उत्तरदायित्व और दारो-मदार रहता है, जिसके बिना परिवार की रक्षा असम्भव या असम्भवप्राय होती है, वह परिवार का प्रधान कहलाता है। इन्द्रियों और अङ्गों के परिवार-रूप शरीर मे शायद हृदय, मस्तिष्क और पेट, सापेक्ष न्यूनाधिक्य के साथ, प्रधान और उप-प्रधान पदों के समीप पहुँचते हैं। शरीर-रक्षा के उद्देश्य मे उनके सहायक होकर दूसरे अङ्ग परिवार के साथ ही लगे रहते हैं। अङ्ग-ग्राम से पृथक् केवल अपनी ही रक्षा के हेतु मे वे शरीर मे अलग नहीं हो जाते।

सामूहिक, पारिवारिक, रक्षा का यह सिद्धान्त अपनी यथार्थता में यहाँ तक आगे जाता है कि समय के विपाक से जो अङ्ग इस सिद्धान्त से अपना सहयोग हटा लेते हैं, परिवार उनको अपने से अलग कर देता है। शरीर के बेकार बाल, नाखून, मलमूत्र आदि ही नहीं, हाथ-पैर तक कटवा कर फेंक दिये जाते हैं। पुराने दादा या परदादा पिछले जमाने में तो समाज-व्यवस्था के ही द्वारा वानप्रस्थ करा दिये जाते थे; आजकल उनके लिए कोई कोठरी, कमरा या एकान्त का कोई अन्य स्थान प्रायः स्वभावतः ही निर्दिष्ट हो जाता है। तथापि उन्होंने अपने अवसर पर परिवार-रक्षा के सिद्धान्त को चालू रक्खा था, इसलिए हम उनका आदर करते हैं। परन्तु जो अङ्ग इस सिद्धान्त से विद्रोह कर अलग होना चाहता है उससे परिवार मे विप्लव हो जाता है और उसकी प्रतिक्रिया आवश्यक हो जाती है दूर की मौसी जब अपने दामाद के घर को परिवार के पैसे से भरना चाहती है तो, परिस्थिति

के अनुसार या तो आप उसे निकाल ही देते हैं, जैसे कि सड़े हुए हाथ-पैर को; या उसकी प्रवृत्ति को रोकने के लिए उस पर पहरा लगाते हैं, जैसे कि विसूचिका या संग्रहणी में मलादिक को रोकने के लिए किया जाता है।

भाषाओं के परिवार में भी यही सिद्धान्त हू-ब-हू लागू होता है। भाषाओं के भी परिवार होते हैं, इसे सिद्ध करने की कोई आवश्यकता विशेष नहीं मालूम होती। संसार के भाषा शास्त्री इसको सिद्ध कर चुके हैं। कोई भाषा एकांगी नहीं होती, वह किसी-न-किसी परिवार के एक प्रधान, उपप्रधान या गौण अङ्ग के रूप में ही पनपती है। परिवारान्तर्गत उप-परिवारों की कल्पना सहज है—हिन्दुओं में तो वैसे भी संयुक्त-कुटुम्ब-प्रणाली परम्परागत है और अंग्रेजी कानून भी उसे स्वीकार करता है—परन्तु किसी एकांगी भाषा की कल्पना असम्भाव्य है, उपहास्य है। समाज रूप परिवार की सम्पूर्ण संस्कृति की एकसूत्रता को सुरक्षित रखने की पूरी सामर्थ्य जिस भाषा में होती है वही उस समाज की सांस्कृतिक भाषा, प्रधान भाषा, होती है तथा समाज के क्षुद्र अङ्गों के निजी व्यवहार बोलियों या उपभाषाओं द्वारा संचालित होते हैं जो सामाजिक सांस्कृतिक भाषा की, उस के अङ्ग-रूप में, पारिवारिक समृद्धि-वृद्धि करती रहती हैं। हम देखते हैं कि, दूर की मौसी या सिर के बाल के समान, छोटी-छोटी जानपदीय बोलियाँ अपने सहयोगी-भाव में शृंगार बनकर अमुक स्थानीय औपन्यासिक या नाटकीय पात्रों के वार्तालाप के रूप में साहित्य में स्थान पाती हैं; परन्तु जो इस सहयोग-भाव से विरत रहती हैं वे जल्दी ही पथभ्रष्ट होकर विनष्ट हो जाती हैं। यह सही है कि कभी-कभी दूर की मौसी भी पारिवारिक भावना में अति घनिष्ट हो जाने पर, दूर की न रह कर निकट तर सम्बन्धी का गौरव प्राप्त कर सकती है, परन्तु यह कैसे हो सकता है कि वह किसी भी अवस्था में प्रधान की पदवी को आत्मसात् करने या उसकी बराबरी की होड़ करने लगे।

हिन्दी की परिवार सिद्धि में कोई सन्देह करने की बात तो नहीं मालूम होती। क्या कोई यह कह सकेगा कि हिन्दी एक एकांगी या अङ्गहीन भाषा है? तब प्रश्न यह उठेगा कि उसके अङ्ग कौन-कौन से हैं। क्या अवधी, व्रजभाषा आदि ही हिन्दी के अङ्ग नहीं हैं। इस प्रश्न की संभावना तभी होती है जब कि कहीं-कहीं एकाध सज्जन व्रजभाषा-आदि को हिन्दी से अलग स्वतन्त्र भाषाओं के रूप में सिद्ध करना चाहते हैं। परन्तु यदि पारिवारिक रक्षा और अभ्युदय की एकसूत्रता के ही ढंग का कोई सहयोग सूत्र इन बोलियों या भाषाओं में भी विद्यमान है और ये उस संयोगतत्व के विकास में ही अपने को यथा-शक्ति विकसित करती हुई अपनी-अपनी पृकथ्ता को गौण करके उस संयोगतत्व के ही अधीन बना देतीं हैं तो उनके एक परिवार की प्रतिष्ठा हो जाती है। हमको देखना है कि इन विभिन्न भाषाओं में, जिन्हें हम हिन्दी-परिवार का अङ्ग मानते हैं, कोई ऐसा संयोगसूत्र है या नहीं। परन्तु उनके संस्कारों से पहले उनके जन्म और जाति की समीक्षा कर लेना उचित होगी; क्योंकि पारस्परिक रक्षा का सम्बन्ध पारिवारिक संस्कृति की रक्षा से रहता है और संस्कृतियाँ परम्पराओं के रूप में विकसित हुआ करती हैं। अतः पहले हम यह देखेंगे कि इन भाषाओं का प्रादुर्भाव कैसे हुआ, कौन इनके पूर्वज थे।

कहा जाता है कि भारतीय इतिहास के उत्तर-मध्य काल में मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी प्रभृति कुछ प्राकृत-भाषाएँ प्रचलित थीं। पूरब की भाषाओं का सम्बन्ध मागधी और अर्धमागधी से बतलाया जाता है तथा पश्चिम की भाषाओं का शौरसेनी से। प्राकृतों और आधुनिक भाषाओं की शृंखला में अपभ्रंशों का मध्यवर्ती समय है जो आधुनिक भाषाओं के निर्माण की दृष्टि से संक्रमण का समय है। इस प्रकार अवधी अर्धव्यापी की पुत्री हो जाती है तथा व्रजभाषा, खड़ी बोली और मारवाड़ी आदि बोलियों का सम्बन्ध शौरसेनी से बन जाता है। अर्धमागधी और शौरसेनी दोनों, संस्कृत

के नाते से, सगी बहनें हैं। इस भाँति एक ही मातामही की सन्तति होने से सब भाषाएँ एक दूसरी से सम्बद्ध भी जाती हैं।

संस्कृत के नाते से अर्धमागधी और शौरसेनी की दो बहनें मागधी और महाराष्ट्री भी थीं। प्राकृतों की अवधि के बाद मागधी और महाराष्ट्री तो अपने प्रादेशिक विभागों में अलग होकर स्वतंत्र रूप से अपना विकास करने लगी और समय के साथ-साथ आधुनिक बंगला और मरहटी के रूपों में परिणत हो गई। परन्तु अर्धमागधी और शौरसेनी के कार्यक्षेत्र में हम उनके बाद सीधे-सीधे ही अवधी, ब्रजभाषा आदि के नाम नहीं सुनते। यहाँ जरा-सा अपभ्रंश का व्यवधान देखने में आता है। तथापि हम यह नहीं देखते कि अवधी, ब्रजभाषा आदि अपने-अपने पूर्वगामी किन्हीं विशेष नामधारी अपभ्रंशों से निकली थीं। और न यही हम देखते हैं कि अलग-अलग प्राकृतों ने अपने-अपने कोई विशिष्ट अपभ्रंश छोड़े थे। अपभ्रंश शायद लोकभाषा के ही किसी व्यापक रूप का नाम था और अर्धमागधी तथा शौरसेनी प्राकृतें। अपनी शक्ति से विरत हो जाने के बाद उसी लोकभाषा में निमग्न हो गई थीं।

अलग-अलग नामों से अलग-अलग देशों के अपभ्रंशों का अनिर्देश अपभ्रंश-बोलियों की विशाल-क्षेत्रीयता की सूचना देता है। उनकी इस व्यापकता से यह अनुमान किया जा सकता है कि अपभ्रंश प्राकृतों के जमाने से, तथा उससे भी पहले से, चले आ रहे थे और वे प्राकृतों की सन्तति नहीं हैं। इसीलिए तत्तद्देशीय प्राकृतों की विच्छिन्न विशेषताओं को ही विकसित करने वाले तत्तद्देशीय अपभ्रंश नहीं बन पाये। यह बात अवश्य माननी पड़ेगी कि यह व्यापक लोकभाषा अलग-अलग प्रादेशिक व्यवहारों में उन-उन देशों के परम्परा प्राप्त प्राकृत-प्रयोगों के संसर्ग से थोड़ी-बहुत प्रभावित ही होगी। वैसे भी भाषा-वैज्ञानिक कहते ही हैं कि प्रत्येक

दस या बीस कोस पर लोक-व्यवहार की भाषा का रूप कुछ न-कुछ बदल जाता है।

अतएव यह कहना कि अवधी, ब्रजभाषा, मारवाड़ी या राजस्थानी आदि अमुक-अमुक प्राकृतों से निकली हैं अनुचित मालूम होता है। वे अपभ्रंशों का ही कालातिपात प्राप्त तत्तद्देशीय रूप हैं। और अपभ्रंश भी प्राकृतों की सन्तति न होकर प्राकप्राकृत-युग के संस्कृत समाज की दैनिक व्यवहार-निष्ठ लोक भाषा का सर्वमान्य रूप था। यह सम्भव है कि संस्कृत-युग में इस अपभ्रष्ट लोकभाषा का कुछ साहित्यिक रूप, जिसे हम संस्कृत-नाटकों के निम्न पात्रों की बातचीत में देखते हैं, किसी समर्थ पैशाची नाम की प्राकृत से मेल खाता हो। इस दृष्टिकोण में, संस्कृत से अपभ्रंश का सम्बन्ध उसके एक असंस्कृत पुत्र या भाई का सम्बन्ध हो जाता है। उसे संस्कृत का उत्तराधिकार प्राप्त था परन्तु उसकी अक्षमता में, मुसलिम शासन के सुदूर प्रान्तपतियों (गवर्नरों) की भाँति, उसकी अपेक्षाकृत संस्कृत बहनें अपने-अपने प्रान्तों का आधिपत्य आत्मसात् कर बैठीं। समय आने पर ये बहनें निःसन्तान रहती हुई ही राज्यच्युत हो गईं और अपभ्रंश को पुनः एक बार अपना साम्राज्य बटोरने का अवसर मिला। साम्राज्य की दृष्टि से प्राकृतों के बाद अपभ्रंश की कुछ-कुछ वैसी ही स्थिति थी जो आजकल हिन्दी की है, परन्तु परिस्थितियों के कारण, उसमें हिन्दी की चतुर्थांश भी सामर्थ्य न थी। अपनी चिर-असामर्थ्य के कारण वह इस अवसर से भी लाभ न उठा सका; वह अपने साम्राज्य को बाँध रखने में पुनः अक्षम रहा और अन्ततः उसे इस साम्राज्य को और भी छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित कर अपनी बहुल-सी सन्ततियों में बाँट देना पड़ा। अर्ध मागधी प्रान्त को मैथिली और अवधी ने बाँट लिया तथा शौरसेनी-प्रान्त ब्रजभाषा, खड़ी बोली, मारवाड़ी या 'राजस्थानी' बुन्देली आदि के अधिकार में छिन्न-भिन्न हो गया।

इस दृष्टि से हिन्दी-परिवार अपभ्रंश-परिवार ही है जिसका सीधा सम्बन्ध संस्कृत से है। इस परिवार में खड़ी बोली का स्थान, इतिहासज्ञों के तिथि-निर्णय के अनुसार, अग्रजा का स्थान है। अपभ्रंश परिवार में हिन्दी किसी अलग भाषा का नाम नहीं है। अतः 'अपभ्रंश' नाम का लोप होने के बाद हिन्दी को उसका स्थानापन्न ही समझना उचित है। मुसलमानों ने लोकभाषा को अपनी सहूलियत के लिये 'हिन्दी' नाम दिया था, जो अपभ्रंशों की लोकव्याप्ति का परिचायक होता हुआ 'अपभ्रंश' शब्द की अपेक्षा अधिक गौरवपूर्ण तथा अपने अभिप्राय में अधिक शुद्ध था। चूँकि आज हिन्दी का प्रतिनिधित्व परिवार की अग्रजा खड़ी बोली कर रही है, केवल इसलिए कभी-कभी 'हिन्दी' कहने में खड़ी बोली का अर्थ भी ले लिया जाता है।

यह तो वंशावली के आधार पर हिन्दी-परिवार की सिद्धि हुई। अब इससे इस परिवार की सांस्कृतिक एकनिष्ठता का इतना तो निश्चय किया ही जा सकता है कि उसमें संस्कृत-समाज के आर्यों की जीवन-विधि के कुछ-न-कुछ लक्षणों का कोई सामान्य अवशेष होगा। खड़ी, ब्रज, राजस्थानी या बुन्देली बोलियों के बोलने वाले कोई भी सज्जन अपने को शायद अनार्य कहलाना पसन्द न करेंगे। परन्तु अनार्य तो अपने को जर्मन या बंगाली, महाराष्ट्री या गुजराती सज्जन भी न मानेंगे। तथापि उनकी भाषाएँ भिन्न हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि हम अपने आप को पारस्परिक समानताओं से न पहचानकर पारस्परिक भेदों द्वारा ही अधिक पहचानना चाहते हैं। यह प्रवृत्ति निःसन्देह बड़ी खेदजनक है, तथापि वह होती है। प्रायः तो यह प्रवृत्ति मजबूरी की परिस्थितियों का परिणाम होती है जिसके लिए किसी को दोष भी नहीं दिया जा सकता। मजबूरी में यदि जर्मन या बंगाली अपने शेष परिवार से इतने अधिक अलग हो गये कि उनका उसके साथ कोई सम्पर्क ही न रह सका तो उनमें भेदवृत्ति के संस्कार का, असम्पर्क के अनुपात से, कम या अधिक विकसित होता-जाना स्वाभाविक ही था। कहते

हैं कि यदि मनुष्य के बच्चे को पैदा होने के कुछ समय बाद ही किसी पशु की माँद में पलते-रहने की मजबूरी हो जाए तो धीरे-धीरे उसमें पशु-समाज की वृत्तियों का ही विकास होने लगता है। इसी प्रकार बलात् धर्म-परिवर्तन की मजबूरी में कुछ पीढ़ियों में मनुष्य की संस्कृति का रूप धीरे-धीरे बिलकुल बदल जाता है। जर्मन या बंगाली शायद इस बात को बता सकेंगे कि किस रूप में उनके भेद-संस्कार समान संस्कृति-तत्वों की अपेक्षा इतने अधिक बढ़ गए कि अन्ततः उनमें आर्यता की अपेक्षा जर्मनत्व या बंगालीपन ही उनकी मनुष्यता का प्रमुख लक्षण बन गया। परन्तु जहाँ स्वेच्छा से व्यक्ति धर्म परिवर्तन या संस्कृति-विच्छेद कर लेता है वहाँ उस व्यक्ति के सांस्कृतिक चरित्र के किसी घोर-विकार की ही सूचना मिलती है। भारत में अपना धर्म-परिवर्तन करने वालों की मनोवृत्ति में प्रायः स्त्रैण या स्वार्थपूर्ण आर्थिक विकार या फिर घरवालों से झगड़ आने की ही कहानी रहती है, इसे हम जानते हैं।

संस्कृति के अर्थ में सामाजिकता निहित है। अकेले व्यक्ति से संस्कृति का निर्माण नहीं होता, यद्यपि अकेला व्यक्ति संस्कृति की प्रेरणा अवश्य रख सकता है। परन्तु उसकी प्रेरणा का प्रतिफलन समाज में ही होगा। समाज का अभिप्राय पारस्परिक सहानुभूति के संगठन का है। पारस्परिक सहानुभूति में सामाजान्तर्गत व्यक्तियों की समान आवश्यकताओं की पूर्ति और समान संकटों से बचने की सामूहिक, संगठित, वृत्ति का अर्थ निकलता है। यही वृत्ति राष्ट्रीयता की वृत्ति है जिसमें, फिर, समान अभ्युदय की कामना आदर्श बन जाती है। विशाल आर्यता में आवश्यकताओं, समस्याओं और संकटों की परिस्थितियाँ जब तक समान रहीं तब तक परिवार के एकनिष्ठ भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की भाँति अलग-अलग स्वतंत्र राज्यों के होते हुए भी, आर्य-जाति में पारस्परिकता के—राष्ट्रीयता के—संगठन-तत्वों की प्रतिष्ठा रही। परन्तु विदेशी आक्रमणों के होने लगने पर आक्रान्त और सुदूर अनाक्रान्त देशभागों की परिस्थितियों में असमानता पैदा हो जाने से

अनाक्रान्त प्रदेश धीरे-धीरे अलग हो गये। वस्तुतः सिन्ध, पंजाब और दिल्ली-कन्नौज के संकटों में वंग या महाराष्ट्र का क्रियात्मक सहयोग असम्भव-सा था। परन्तु राजपूताना के पश्चिमी भाग से लेकर अर्ध-मागध देश तक उथल-पुथल की समान परिस्थितियों का एक लम्बा युग चला है। इसी का परिणाम यह हुआ कि मध्यकालीन भारत के लम्बे इतिहास में हमें इस लम्बे भूभाग से कोई स्थायी प्रादेशिक विभाग नहीं दिखाई देते हैं—मानों पश्चिम राजपूताना से पश्चिम बिहार तक एक ही प्रान्त रहा हो। अंग्रेजों के जमाने में बनाये-गये 'यू० पी०', 'राजपूताना' तथा 'सेन्ट्रल इंडिया एजेंसी' आदि नाम इस बात के परिचायक हैं। निरन्तर उथल-पुथल के कारण इस बड़े भू-भाग की कोई सामाजिक एक रूपता तो न बन सकी, जिससे दैनिक रहन-सहन के छोटे-मोटे स्थानीय अन्तर पैदा हो जाना भी स्वाभाविक था—यद्यपि रहन-सहन के स्थानीय भेद तो सामाजिक एकदेशीयता मे भी रहते ही हैं- परन्तु उसकी दलित संस्कृति अथवा विकृति में पारिवारिक सहानुभूति के उद्देश्य की समानता थी। प्राकृत विभागों के अपभ्रंश रूप लोकभाषा में निमग्न हो जाने का यह भी एक बड़ा भारी कारण है। व्यापक लोक संकट ने प्राकृतों की दुर्बल सामाजिकता को छिन्न-भिन्न कर व्यापक लोकभाषा को अपनी चेतना से समन्वित कर दिया। उस समय के अपभ्रंश-साहित्य में उद्देश्य की एक-सूत्रता पाई जाती है। विप्लवों के उस युग में वीरता का जमाना था। अवधी, ब्रज 'राजस्थानी' आदि का विभाजन होने से पहले वीरगाथात्मक काव्य की रचना करनेवालों ने लोकभाषा का ही आश्रय लिया था। इसी भाषा को अब कुछ लोग जबरदस्ती 'राजस्थानी' कहने लगे हैं। अन्यथा इस भाषा में लिखने वाले (अर्थात् वीरगाथात्मक रचना, यथा विविध रासो' आदि के करने वाले) किन विशिष्ट राजस्थानी प्रदेशों के थे तथा उनकी रचनाओं के नायक, उदाहरण-स्वरूप पृथ्वीराज, किन विशिष्ट राजस्थानी संस्कृति-केन्द्रों के अधिष्ठाता थे।

इस मत की इतनी चर्चा से इस बात का पता चलता है कि विशाल अपभ्रंश-प्रदेश और अपभ्रंश-भाषा की संस्कृति, जैसी-कुछ भी वह थी, एक ही थी। इस संस्कृति में राष्ट्रीयता का अंश था, राजनीतिक आर्य-संगठन की आत्मा उसमें थी। यही भाषा मँजती-मँजती जब आध्यात्मिक संगठन की वांछा को लेकर साधु-संतों के हाथों में जाती है तो जैसे वह लोकचेतना को अधिक विस्तृत करती है। साधु-संतों के हाथों में भी उसके विच्छेदात्मक प्रादेशिक विभाग नहीं दिखाई देते। तीन सुदूर कोनों से आते हुए तीन साधुओं—दादू, नानक और कबीर—की वाणियों को किन अलग-अलग प्रादेशिक संस्कृतियों और भाषाओं के नाम लेकर अलग-अलग पहचाना जाता है?

समाज में स्थिरता आ जाने के बाद भी, जब शिष्ट सांस्कृतिक व्यवहार का रूप निखरता है तो, उस व्यवहार का उत्तरदायित्व केवल एक ही भाषा, ब्रजभाषा, पर पड़ता है। अवध, बुंदेलखण्ड तथा राजस्थान की बोलियाँ अपने-अपने उप-प्रदेशों में किसी स्वतंत्र सामाजिकता का निर्माण नहीं करतीं। बल्कि इन उपप्रदेशों में भी ब्रजभाषा ही अपना प्रसार कर जाती है, यहाँ तक कि तुलसीदास-जैसे महाव्यक्तित्व भी, जिन्होंने आर्यता की राष्ट्रीय तथा आध्यात्मिक संस्कृति का सर्वश्रेष्ठ साहित्य मानवता को दिया है, अवधी को सामाजिक भाषा न बना सके। उधर ब्रजभाषा के प्रसार से पहले का डिंगल साहित्य अधिकांश में मौखिक परम्परा का ही भूषण रहा है। क्या इससे इस बात की सूचना नहीं मिलती है कि अपभ्रंशों की ये अलग अलग धाराएँ, स्वतंत्र संस्कृतियों की भारवाहिनी न बन सकने के कारण, वास्तविक अर्थ में स्वतंत्र धाराएँ भी न बन सकीं और, इसलिये अन्ततः आर्यावर्तीय सामाजिकता में ही, वह चाहे कैसी ही रही हो, निमग्न हो गईं। क्या इससे ब्रजभाषा की स्वकालीन सामाजिक सांस्कृतिकता की एकसूत्रता का पता नहीं चलता? क्या अवधी-आदि की ब्रज-निमग्नता में यह सूचना नहीं है कि इन विविध बोलियों ने एक पारिवारिक संगठन

की वृत्ति में अपने-आपको अपने परिवार के अधिक प्रमुख और समर्थ भाषा-व्यक्ति के अधीन बना दिया था।

अपभ्रंश की एकनिष्ठता तथा इन विविध बोलियों की सूचनाओं के आधार पर, तब, अपभ्रंश-परिवार अथवा हिन्दी-परिवार की सिद्धि में कोई संदेह तो न रहना चाहिये। और ब्रजभाषा का समय बीतने पर परिस्थितिवश उसका उत्तरदायित्व यदि खड़ी बोली के कंधों पर आ पड़ता है तो पारिवारिक परिस्थिति क्या कुछ विशेष बदल जाती है? यदि कुछ बदलती भी होगी तो वह खड़ी बोली—हिन्दी के पक्ष में ही बदलेगी, क्योंकि ब्रजभाषा की सामाजिकता की प्रतिष्ठा के बाद से बुन्देली, मारवाड़ी आदि तो ऐसी निश्चिन्त होने लगी थीं कि खड़ी बोली पर जब सामाजिकता का भार पड़ा तो उनकी आत्म-चेतना में कोई भी आन्दोलन न हुआ। उधर, खड़ी बोली को भी पारिवारिक चिन्ता पर दृष्टि डालिये। जो मारवाड़ी, बुंदेली आदि अपनी सुदीर्घ निश्चिन्तता में गाढ़-प्रसुप्त और, फलतः, लोकविस्मृत हो चली थीं उन्हें खड़ी बोली ने फिर स्मृति के गौरव में ला उठाया है और इस प्रकार उन्हें एक नई संजीवनी दी है।

खड़ी बोली-प्रदत्त इस संजीवन की सबसे पहली प्रतिक्रिया यदि इन बोलियों की ईर्ष्या के रूप में ही देखने को मिले तो इस पर किस सांस्कृतिक—अतः स्वभावतः राष्ट्रीय भी व्यक्ति को खेद न होगा? यानी दूर की मौसी को—क्या करें, उसकी चिर प्रसुप्ति के उपलक्ष्य में यही कहना पड़ेगा—जब परिवार के शीर्ष व्यक्ति द्वारा खातिर होने लगी तो उसने अपना अलग घर बसा लेने की ठान ली! अन्यथा तो, यदि ये बोलियाँ समझें तो, उनका स्थान हिन्दी-परिवार में खड़ी बोली की सहयोगिनी अनुजाओं का ही है, जिसमें वे अपनी और परिवार की साथ-साथ समृद्धि कर सकती हैं। परन्तु अपने ईर्ष्या-भाव में वे, देखने में आता है, अपने को खड़ी बोली से नहीं, हिन्दी परिवार से ही अलग करना चाहती हैं।

परिवारों के छिन्न-भिन्न होने का परिणाम क्या होता है ? महाभारत का उदाहरण, पृथ्वीराज [illegible] उदाहरण, हम अभी [illegible] हैं। अवधी और बुन्देली [illegible] राजस्थानी और ब्रजभाषा के अलग हो जाने से 'हिन्दी' नाम की कोई चीज़ तो रह न जाएगी। खड़ी बोली अपनी बहनों से अलग होकर, केवल खड़ी बोली ही रह जाएगी—वह समस्त हिन्दी-संस्कृति, राष्ट्रीय सामाजिकता, को किसी पारिवारिक गौरवशालिता की अधिकारिणी किधर से रह सकेगी ? साहित्य-संस्कृति -- वही हमारी जीवन-संस्कृति और राष्ट्रीय संस्कृति का भी रूप है—के नाते उसके भंडार का इतिहास पच्चीस, या बहुत कहो तो पचास, वर्ष से अधिक पुराना नहीं है। हिन्दी-राष्ट्रीयता के विरोधियों को उसे एक नवोत्थित (upstart) भाषा कहने का मौका मिल जाएगा, और इस मौके में राष्ट्रीयता-विसर्जन की कितनी सामर्थ्य होगी ?

और फिर क्या ये अलग होने वाली बोली—भाषाएँ भी अपनी अलहदगी में पनप सकेंगी ? परिवार-प्रदत्त जितना-सा संजीवन उन्हें अभी तक प्राप्त हो सका है, क्या उतने से ही आधार पर स्वतंत्र खड़ी होने की सामर्थ्य उनमें है ? खड़ी हो भी लें तो कौन-सा ज्योतिषी उन्हें विश्वास दिला सकेगा कि पृथ्वीराज के बाद जयचन्द की-सी हालत उनकी हो ही न सकेगी। उनके लिये दो में से एक ही कर्तव्य रह सकेगा- या तो वे अपनी आर्य संस्कृति की रक्षा की चेष्टा में हिन्दी-विरोधियों से संघर्ष करती हुई शीघ्र ही नष्ट हो जाएँ, या उन विरोधियों की अनुगामिनी बनकर संकरवर्णी हो जाएँ और अपनी संस्कृति को नष्ट हो जाने दें। ऐसा होने पर भारतीय राष्ट्रीयता का जो रूप बनेगा उसकी कल्पना करने के लिये हमें शायद १००-१५० वर्ष पीछे लौटना पड़ेगा।

वास्तव में संगठन के इस युग में असंगठन की यह ध्वनि बड़ी विरूप सी सुनाई देती है। क्या सचमुच अपनी पारिवारिक समृद्धि को हम

इतना-सा भी सहन नहीं कर सकते ? फिर दूसरे तो क्यों ही करेंगे। परन्तु गनीमत यह है कि इस विरूप ध्वनि को करने वाले यहाँ-वहाँ के इने-गिने दो-चार सज्जन ही हैं। जिनके पास इस तरह की ध्वनि करने के लिये कोई विशेष कारण होंगे। यह ध्वनि सामाजिक ध्वनि नहीं है। आशा है भविष्य में भी न हो सके, क्योंकि वह अवध, बुंदेलखण्ड, ब्रज और वर्तमान राजस्थान की सामाजिक चेतना से अभी बहिर्गत है। तथापि जो बात अंकुर रूप में, भले ही किन्हीं कारणों से, कुछ दिखाई-सी दे रही है उससे पारिवारिक भावना में विश्वास रखनेवाली आर्यता को सावधान रहना पड़ेगा। विसूचिका के प्रथम विकार के दर्शन होते ही उसे रोक देने की आवश्यकता है।

:३१:

काव्य में रसनिष्पत्ति की प्रणाली

रस को काव्य की आत्मा कहा गया है। इस हेतु से रस का सौन्दर्य ही काव्य का सौन्दर्य है, अन्य सब प्रकार का सौन्दर्य काव्य में गौण समझा जाएगा—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार आकृति में सुन्दर मनुष्य भी आत्मा में कलुषित होने पर लोगों का घृणास्पद ही होता है; परन्तु यदि आत्मा सुन्दर होती है तो उनमें आकृति-वेश-भूषा आदि के सौन्दर्य भी उत्कर्ष को प्राप्त हो उठते हैं।

इस बात को सब जानते हैं कि काव्य का रस उसकी परम मनोरंजनी सामर्थ्य में ही है और यह सामर्थ्य उसमें तब उत्पन्न होती है जब उसमें

हृदय को स्पर्श करने वाला कोई तत्व हो। दूसरे शब्दों में, इसका यह अर्थ होगा कि काव्य के रस तथा मनुष्य के हृदय मे कोई साधर्म्य-सम्बन्ध होना चाहिये, क्योंकि दो बातें या दो पदार्थ किसी-न-किसी अंश में समान गुण के होने पर ही आपस में मेल खाते हैं। मनुष्य हृदय और रस-सिद्धांत मे इस प्रकार का घनिष्ठ साधर्म्य है।

हम एक प्रकार के काव्य को पढ़कर आश्चर्य से चकित हो जाते हैं, एक अन्य काव्य हमारे हृदय में करुणा उत्पन्न करता है. फिर कभी हम प्रेम-कल्पनाओं के आनन्द में मग्न होते हैं और कभी क्रोध से या उत्साह से हमारे अङ्ग फड़कने लगते हैं। काव्य पढ़ते समय इन सब की अनुभूति में हम तल्लीन हो जाते हैं, कभी कभी तो इनके अतिरिक्त और बातों की भी सुध हमको नहीं रहती—हमारे सामने या आस-पास क्या वस्तुएँ रक्खी हैं, इसका भी ज्ञान हमको नहीं रहता। हम कह उठते हैं, "इस काव्य मे बड़ा रस मालूम हुआ।"

परन्तु आश्चर्य या करुणा अथवा प्रेम, क्रोध या उत्साह हमारे हृदय से सम्बन्ध रखते हैं। ये हमारे हृदय की वृत्तियाँ हैं और इन्हीं को हम 'भाव' कहते हैं। काव्य पढ़ते समय ये भाव जब हमारे हृदय के भीतर जागरित होते हैं तभी वह काव्य हमारे लिये मनोरंजक होता है, तभी हमको उसमे रस दिखाई देता है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि काव्य के रस और हमारे हृदय में इन भावों का ही साधर्म्य है। भाव जागरित होने से हृदय को आनन्द मिलता है और भाव जागरित करने से काव्य में रस उत्पन्न होता है। परन्तु भाव हृदय की ही सम्पत्ति हैं जो हृदय के भीतर गुप्त रूप से मौजूद रहते हैं। गुप्त रूप से इसलिये कि हम हर समय तो उनका अनुभव करते ही नहीं रहते। काव्य उनको उभारता है। हृदय भावों का आधार है और भाव आधार हैं रस के।

भाव अनन्त हैं, असंख्य हैं। क्या सभी भाव प्रत्येक मनुष्य में वर्तमान रहते हैं, क्या प्रत्येक मनुष्य प्रेमी हो सकता है या क्रोध कर सकता है?

इसका निर्णय करना कठिन है, क्योंकि जिस प्रकार भाव अनन्त हैं उसी प्रकार सांसारिक परिस्थितियाँ भी अनन्त हैं। किस मनुष्य के ऊपर किस परिस्थिति का किस समय कैसा प्रभाव पड़ सकता है, इसे कोई नहीं बतला सकता। परंतु निर्णय करना भी आवश्यक है, बिना निर्णय के शास्त्र के सिद्धांत निर्धारित नहीं हो सकते, शास्त्र ही नहीं बन सकता। अतएव, हमारे शास्त्रकारों ने मनुष्य जीवन के खूब अध्ययन के बाद, अच्छी तरह सोच-विचार कर आठ-नौ ऐसी सामान्य वृत्तियों का अनुसन्धान किया है जो सामान्यतः सब मनुष्यों में पाई जा सकती हैं, परिस्थिति उपस्थित होने पर सामान्य मनुष्य जिनके वशीभूत हो सकते हैं। अतः इन वृत्तियों में से किसी को जागरित करने का प्रयत्न कर काव्य अधिकांश जनता के लिये रसमय हो सकेगा। नाट्य-काव्य के लिये ये भाव आठ हैं—रति अर्थात् प्रेम, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, घृणा या ग्लानि और आश्चर्य। परन्तु अन्य प्रकार के काव्यों के लिये एक नवें भाव निर्वेद या वैराग्य को भी स्वीकार किया गया है जो नाटक में क्रियापूर्ण अभिनय के कारण अनुपयुक्त होता है। इन नौ भावों का आश्रय लेकर काव्य में जो नौ रस उत्पन्न होते हैं, उनके क्रमशः नाम हैं—शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शांत।

हम जानते हैं कि इन भावों की अनुभूति की सामग्री हमारे हृदय के भीतर है। भिन्न-भिन्न भावों की परिस्थिति उत्पन्न होने पर हम उसका अनुभव करते हैं। जब कोई ऐसा व्यक्ति जो बरबस हमें अपनी ओर खींचता है, हमारे सामने आता है तो हम उसे प्रेम करने लगते हैं, जब कोई दुष्ट मनुष्य हमारे सामने दुष्टता करता है तो हम उसे घृणा करते हैं या उस पर क्रोध करते हैं। काव्य हमको भावानुभूति द्वारा आनन्द देने के लिये हमारे सामने भिन्न-भिन्न भावों की उचित परिस्थियों का ऐसा चित्रण करता है कि वे वास्तविक घटनाओं की भाँति हमारे सामने नाचने लगती हैं। इसीलिये हम साक्षात् अनुभूति की-सी अवस्था को प्राप्त होकर,

काव्य को पढ़ते-पढ़ते कभी रो देते हैं। कभी हँसने लगते हैं, कभी आंतरिक क्रोध से तिलमिलाने लगते हैं। यदि काव्य ऊँचे दरजे का है तो यह अवस्था यहाँ तक बढ़ जाती है कि दुष्यन्त और शकुन्तला की कथा पढ़ते-पढ़ते दुष्यन्त की अवस्था का अनुभव कर हम स्वयं दुष्यन्त या शकुन्तला बन जाते हैं और उनकी परिस्थितियाँ हमारी अपनी परिस्थितियाँ हो जाती हैं। संक्षेप में काव्य में वर्णित परिस्थितियों को जब हम अपना लेते हैं तो हमारे हृदय में स्वाभाविक भावों का संचार होने लगता है, जिससे हमें आनन्द मिलता है, और यही काव्य का रस है। इस प्रकार काव्य का रस भावों के अनुकूल परिस्थितियों के चित्रण पर निर्भर होता है।

ये परिस्थितियाँ दो प्रकार की होती हैं—एक तो वे जिनके बिना भाव उत्पन्न ही नहीं हो सकता, जैसे प्रेम के लिये प्रेमिका का होना। प्रेमिका प्रेमी के प्रेम का आधार है, प्रेमिका के बिना प्रेमी के प्रेमभाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती। दूसरे प्रकार की परिस्थितियाँ वे हैं जो एक बार भाव का उदय हो जाने पर उसे बढ़ाती रहती हैं, जैसे प्रेमिका की अनुपस्थिति में उसका चित्र, उसके भेजे हुए पत्र अथवा उन स्थानों का दर्शन, जहाँ प्रेमिका के साथ प्रेमालाप आदि हुए थे। प्रेम उत्पन्न हो जाने के बाद ये परिस्थितियाँ उस प्रेम को और अधिक उद्दीप्त करती रहती हैं। इन दोनों प्रकार की परिस्थितियों को 'विभाव' कहते हैं—पहली को 'आलम्बन विभाव', क्योंकि यह भाव का अवलम्बन या आधार है और दूसरी को उद्दीपन विभाव' क्योंकि वह उस भाव को उद्दीप्त या उत्तेजित करती है, बढ़ाती है। अतएव, काव्य में किसी रस का अनुभव कराने के लिये उसका पहला आवश्यक साधन उसके उचित आलम्बन और उद्दीपन विभाव हैं।

यद्यपि श्रेष्ठ काव्य में घटनाओं तथा परिस्थितियों का ऐसा सफल चित्रण रहता है कि वे उस समय हमारे नेत्रों के सामने नाचती हुई-सी प्रतीत होती हैं, यहाँ तक कि हम स्वयं उन घटनाओं में भाग लेने का-सा अनुभव

करने लगते हैं; तथापि सच बात तो यह है कि हम वास्तव में कुछ भी नहीं करते हैं, हमारा उन घटनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता, हम तो केवल अपनी कुर्सी पर बैठे हुए पढ़ते या देखते रहते हैं। हमारा कुछ भी सम्बन्ध न होने पर भी हमको ऐसा अनुभव होने लगना कि हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं तथा स्वयं घटनाओं के पात्र हैं—यही काव्य का सौंदर्य है, उसका रस है। जब हम स्वयं कुछ नहीं करते और काव्य में वर्णित अवस्थाएँ तथा भाव वास्तव में पात्रों की अवस्था तथा भाव हैं तो हमको उनका अनुभव केवल उन पात्रों की शारीरिक चेष्टा आदि से ही हो सकता है। किसी मनुष्य के पेट में दर्द हो रहा है परन्तु वह न हिलता है, न डुलता है, न वह शरीर के अंगों से कोई कष्टसूचक चेष्टा ही करता है तो हमको उसके दर्द का कैसे अनुभव हो सकता है। काव्य के पात्र आदि भी जब अपने भावों के अनुकूल चेष्टा आदि करेंगे तभी हमें उनके भावों का अनुमान होगा। अतः ये शारीरिक चेष्टा आदि हमारे लिये पात्रों के भावों के 'अनुभाव' हैं। 'अनुभाव' उसे कहते हैं जो अनुभव कराये। काव्य या नाटक में जिन बातों से हमें पात्र की अवस्था का अनुमान और अनुभव होता है वे बातें 'अनुभाव' कहलाती हैं। पेट के दर्द की अवस्था में बार-बार चारपाई के ऊपर बेचैनी से करवट लेना, मुँह बिगाड़ना आदि हमको पात्र के दर्द का अनुभव कराते हैं, अतएव ये सब उस अवस्था के अनुभाव हैं। इस भाँति किसी भाव के अनुकूल शारीरिक चेष्टा आदि को हम उस भाव के अनुभाव कह सकते हैं, जिनको देखने से हम व्यक्ति के उन भावों का अनुमान या अनुभव कर लेते हैं। इन चेष्टाओं के बिना हमको पात्र की अवस्था का ठीक ठीक ज्ञान नहीं हो सकता और यह ज्ञान न हो सकने पर हम काव्य का आनन्द प्राप्त नहीं कर सकते। अतएव अनुभाव रसोत्पत्ति का दूसरा आवश्यक साधन हैं। नाटक में इनकी विशेष आवश्यकता होती है।

एक बात और भी ध्यान में रखने की है। किसी एक भाव की अवस्था में उसके साथ-साथ प्रायः दूसरे-दूसरे बहुत से भाव भी आते-जाते रहते

हैं। प्रेमी व्यक्ति कभी रोता है कभी हँसता है, कभी झुँझलाता है, कभी उसके हृदय में आशा होती है, कभी उल्लास होता है, कभी दुःख, कभी पागलपन, कभी उत्साह आदि ये भाव अधिक देर तक नहीं ठहरते और भिन्न-भिन्न अवसरों पर कुछ-कुछ देर के लिए आते-जाते रहते हैं। इसी लिए साहित्य में इस प्रकार के आने-जाने वाले भावों को 'व्यभिचारी' या 'संचारी' भाव कहा है। इनसे हमको मुख्य भाव की गंभीरता और उसके विकास का अनुभव होता रहता है। प्रेमी की करुणा या पागलपन से हमको मालूम होता है कि वह कहाँ तक प्रेम में डूबा हुआ है। अतः व्यभिचारी भाव रसानुभूति का तीसरा आवश्यक साधन है, तथा विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव तीनों मिलकर काव्य के रस को पूर्ण परिपक्व अवस्था पर पहुँचाते हैं। इन तीनों के ही परस्पर संयोग से काव्य में रस की यथार्थ उत्पत्ति और उसका विकास होता है। भरतमुनि का वाक्य है—विभावानु-भाव व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।

'व्यभिचारी' या संचारी' शब्द 'स्थायी' का विरोधी है संचारी भाव चलते-फिरते भाव होते है, अर्थात् वे स्थिर नहीं रहते और स्थायी भाव स्थिर रहता है। ऊपर रति आदि जिन नौ भावों का उल्लेख हुआ है वे स्थायी भाव हैं। इन नौ भावों में से जिस किसी एक भाव का किसी एक काव्य में आश्रय लिया जाएगा वह उसमें आरम्भ से अन्त तक वर्तमान रहेगा, वह नष्ट नहीं हो सकता, और उसका विकास ही उस काव्य का उद्देश्य रहेगा। स्थायी भाव स्वामी है और व्यभिचारी भाव उसके सहायक या नौकर। स्वामी स्थायी के साधन अथवा विकास के लिए जब उनकी आवश्यकता होती है तब वे आते हैं और उसके बाद अपना काम करके चले जाते हैं।

एक स्थायी भाव का होना प्रत्येक काव्य में आवश्यक है, क्योंकि काव्य में वर्णित परिस्थितियाँ तथा घटनावली आदि किसी एक सामान्य सूत्र के द्वारा न बँधी रहने पर विश्रृंखल हो जायेगी और उनका एक दूसरी से

कोई व्यापक सम्बन्ध न हो सकेगा और विकास तथा रसोदय असम्भव हो जाएगा। स्थायी भाव ही वह सूत्र है जो तमाम परिस्थितियों और घटनाओं को नियम से बाँध कर एक मार्ग पर ले जाता है। शकुन्तला नाटक में दुष्यन्त के प्रेम का यदि आरम्भ से अन्त तक स्थायी भाव न रहे तो नाटक की सब घटनावली निरर्थक हो जाएगी। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शकुन्तला नाटक में नायक-नायिका का प्रेम तो स्थायी भाव है, नायक-नायिका एक दूसरे के प्रेम के आलम्बन हैं, उनके विरह की परिस्थितियाँ उद्दीपन हैं, उनकी चेष्टाएँ आदि उनके भाव को प्रकट करने वाले 'अनुभाव' हैं और उनकी रीति से सम्बन्ध रखने वाले उनके हर्ष, विनोद, चिन्ता, क्रोध आदि उस रति के संचारी भाव हैं। इन सब के आश्रय से नाटक में शृंगार रस धीरे-धीरे पूर्ण विकास को प्राप्त होता है।

काव्य में किसी स्थायी भाव के न होने पर जो आपत्ति की जा सकती है वही आपत्ति काव्य में एक से अधिक स्थायी भाव के होने पर भी की जा सकती है, क्योंकि इससे भी घटनाओं की एकसूत्रता नष्ट हो जाएगी और पाठक का हृदय दो स्वतंत्र स्थायी भावों के बीच में एक साथ पड़ कर कभी इधर और कभी उधर भटकता रहेगा। ऐसी अवस्था में उसे आनन्द कैसे मिल सकता है? इसके अतिरिक्त कुछ स्थायी भाव एक दूसरे के विरोधी भी हैं, जैसे हास्य और बीभत्स अथवा शान्त और रौद्र। ये एक साथ कभी रह ही नहीं सकते क्योंकि ये मानव हृदय को परस्पर-विरोधी वृत्तियों के आश्रित हैं। एक काव्य में एक से अधिक स्थायी भाव होने पर एक से अधिक ही रस भी होंगे जो काव्य परम्परा तथा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के विरुद्ध है।

स्थायी भाव के सम्बन्ध से नायक का प्रश्न भी उपस्थित होता है क्योंकि भाव का निवास किसी मनुष्य के हृदय में ही हो सकता है। जब तक उस भाव को धारण करने वाला कोई व्यक्ति नहीं होगा तब तक भाव ही कहाँ से होगा। किसी काव्य में जिस व्यक्ति को भाव का धारण करनेवाला

बनाया जाता है वही उस काव्य का नायक होता है, जैसे शकुन्तला नाटक में नायक दुष्यन्त स्थायी भाव रति या प्रेम का धारण करने वाला है। अतः रस और स्थायी भाव के लिए काव्य में नायक एक परम आवश्यक तत्व है। एक काव्य में एक ही स्थायी भाव का विधान होने के कारण उस में नायक भी एक ही हो सकता है। एक से अधिक नायक होने से भी वही कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं जो एक से अधिक स्थायी भाव होने से। स्थायी भाव या रस तथा नायक के इस अनन्य सम्बन्ध के कारण भिन्न-भिन्न रसों की योग्यता के अनुसार नायक के भी चार प्रकार हो जाते हैं, अर्थात् धीरललित, धीरशान्त, धीरोदात्त और धीरोद्धत। धीरललित मुख्य रूप से शृंगार का, धीरशान्त शान्त का, धीरोदात्त वीर का और धीरोद्धत रौद्र रस का आधार होता है।

काव्य में नायक यद्यपि एक ही होता है परन्तु नायक के उद्देश्य में अड़चन डालने वाली शक्तियों को दिखाने के लिए प्रतिनायक, अर्थात् नायक का विरोधी दूसरा गौण नायक हो सकता है, जैसे रामचरितमानस में नायक राम का प्रतिपक्षी रावण। काव्य-परिपाटी में, प्रतिनायक शक्तिशाली होते हुए भी अन्त में प्रायः असफल ही होता है और उसका ह्रास दिखाया जाता है। प्रतिनायक का कोई स्थायी भाव नहीं होता; स्थायी भाव तथा स्थायी भाव के सुफल का अधिकारी केवल नायक ही होता है। प्रतिनायक में जहाँ कहीं हमको भाव का सन्देह होता है वहाँ यथार्थ में भाव नहीं बल्कि भावाभास होता है। अनुचित या अनुपयुक्त परिस्थितियों में भाव का-सा सन्देह होना ही भावाभास कहलाता है। रावण का सीता के प्रति अनुराग-प्रदर्शन करना सात्विक रतिभाव नहीं, बल्कि रतिभाव का आभासमात्र है; क्योंकि सीता में रावण की रति का साफल्य असम्भव है और न सीता रावण की रति की उचित या अनुकूल भूमि ही है। इसी प्रकार अपनी किसी मित्र-पत्नी या गुरु-पत्नी आदि के प्रति प्रेम होना अथवा अपने किसी परमप्रिय जन पर परिस्थितिवश क्रोध करना आदि

भी भावाभास की ही अवस्थाएँ हैं। भावाभास का आधार प्राय: प्रति नायक ही होता है जिसमें अधिकतर धीरोद्धत नायक के लक्षण होते हैं। काव्य में भावाभास को स्थायी भाव का रूप देना अनुचित तथा नीति और आचार के प्रतिकूल है।

: ३२ :

काव्य में साधारणीकरण

अब से अनेक शताब्दियों पहले संस्कृत के कुछ आचार्यों ने साहित्य—काव्य—में रसोत्पत्ति के आधार स्थल के सम्बन्ध में जिज्ञासा उठाई थी। पुराने जमाने में काव्य का प्रतिनिधित्व नाटक करता था। अर्थात नाटक ही हमारी काव्य-सम्बन्धिनी जिज्ञासाओं और उनके समाधानों का आधार होता था; क्योंकि भरतमुनि के अनुसार नाटक में हमको रसोपकरणों की पूर्ण लीला सम्पन्न होती हुई मिलती है। नाटक को दृष्टिगत रखते हुए जब बाद में शास्त्रियों ने रस-सम्बन्धी जिज्ञासा उत्पन्न की तो उसका रूप यह था कि रस की आधार-भूमि पात्र हैं अथवा नट, या फिर रसिक—दर्शक या श्रोता ?

यही जिज्ञासा काव्यमात्र को भी लागू हो जाती है, क्योंकि काव्य का गौरव भी रसाश्रय को लेकर ही है। अनाटकीय काव्य में केवल नट नहीं होता, पात्र और रसिक यहाँ दर्शक के स्थान में पाठक या श्रोता होते हैं। रस के सामान्याश्रय को देखते हुए नाटक और अन्य काव्य की इस तुलना

में हम देख सकते हैं कि नट का रसाधार से कोई सम्बन्ध नहीं है। अन्यथा नाटकत्वहीन काव्यों में रसोत्पत्ति सम्भव न होती। पात्र के सम्बन्ध से भी यह बात विचारणीय है कि जिस रचना में पात्र काल्पनिक होते हैं उसमें वे अलीक भी होते हैं और इसलिए उनमें किसी सुनिश्चित भावसत्ता—रस सत्ता—की स्थिति कल्पना के बाहर की वस्तु है। जो—अर्थात् पात्रसत्ता —है ही नहीं वह विभिन्न अवान्तर सत्ताओं—परिस्थिति, वेशभूषा; भाव सत्ता आदि—का आधार कब और कैसे बना होगा?

जिन चार आचार्यों ने रसाश्रय-सम्बन्धी जिज्ञासा उठाई थी उनमें से दो के मतों का समन्वय इस सिद्धान्त में मिलता है कि रस की स्थिति रसिक में होती है। रसिक पात्रों के व्यापार को देखता हुआ अनुमिति और अनुभूति की कोटियों द्वारा पात्रों "तथा उनकी भावस्थिति के साथ आत्मारोप की स्थिति को प्राप्त कर रस—आनन्द का उपभोग करता है।

पाठक की इसी आत्मारोप की स्थिति को आजकल 'साधारणीकरण' का नाम दिया गया है। मैं जब आप से कुछ बात करता हूँ और आप उसे दिलचस्पी के साथ सुनते हैं तब भी आप मेरे साथ किसी प्रकार का आत्मारोप ही करते हैं। बिना ऐसा किए मेरी भाव स्थिति को आप प्राप्त नहीं कर सकते और मेरी बातचीत में आपको दिलचस्पी नहीं हो सकती। दूसरे शब्दों में, ऐसे अवसरों पर आपका मेरे साथ साधारणीकरण हो जाता है। यही साधारणीकरण मानव-समुदाय के पारस्परिक व्यवहार का रहस्य है।

काव्य भी तो मानव समुदाय के पारस्परिक व्यवहार का ही एक स्वरूप है। साथ ही वह मानव के पारस्परिक व्यवहार की प्रतिमूर्ति भी है। कहा गया है कि—"काव्य यशसे र्थकृते व्यवहारविदे...... ।" मानव-व्यवहार की प्रतिमूर्ति की हैसियत से जब हमारे सामने कुछ पात्रों तथा उनकी परिस्थितियों को रखता है तो उन पात्रों तथा परिस्थितियों की अलीकता में भी तथ्यता की सिद्धि हो जाती है। काव्य का अमुकनामधारी कोई पात्र

अपने नाम से वस्तुतः कोई सम्बन्ध नहीं रखता उसका सम्बन्ध मानवता के उस स्वरूप से होता है जिसका वह अपने काव्य में अपने चरित्र और कर्म द्वारा प्रदर्शन करता है। काव्य जीवन की ही प्रतिमूर्ती है, यह उसका ही प्रतिरूप है - इस अभिप्राय की किसी कहावत को हम बहुत दिनों से सुनते आ रहे हैं।

इंग्लैंड के दो आधुनिक विद्वानों—डाक्टर टिलयर्ड और मिस्टर ल्युइस का एक बड़ा विचारोत्तेजक शास्त्रार्थ अभी हाल में "पर्सनल हेरेसी" (The Personal Heresy) के नाम से प्रकाशित हुआ है। इस विवाद में डाक्टर टिलयर्ड का पक्ष यह है कि काव्य में हम कवि के व्यक्तित्व को देखते हैं। मिस्टर ल्युइस, इसके विपरीत, कवि को पाठक की सहानुभूति से एकदम वहिर्गत कर, पदार्थवादी के रूप में हमारे सामने आते हैं। उनके लिए काव्य पदार्थों का—(things का दूसरे शब्दों में, स्थूल संसार का प्रदर्शन है। यदि देखा जाय तो दोनों पक्ष वस्तुतः आपस में भिन्न नहीं हैं। ऐसा मालूम होता है कि दोनों विद्वानों का विवाद केवल एक ही बात को अलग-अलग कहने के ढंग में है। निस्सन्देह कवि पदार्थों के सम्बन्ध में ही कहेगा। काव्य में पदार्थ के अतिरिक्त आप और देख ही क्या सकते हैं। और, वे पदार्थ दूसरे नहीं, वही नित्यप्रति के पदार्थ हैं जिन्हें हम भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में जीवन में देखते हैं। तथापि काव्य में जब हम उन्हें देखते हैं तो वे हमें नित्यप्रति के से नहीं दिखाई देते। उनके एक-एक परमाणु में कवि प्रवहमान रहता है। इसीलिए हम देखते हैं कि पदार्थों का जो रूप हमें एक कवि की वाणी में दिखाई देता है वही रूप दूसरे व्यक्तियों की, दूसरे कवियों की भी वाणी में दिखाई नहीं देता। निस्सन्देह, पदार्थों का दर्शन कराती हुई भी, कविता पदार्थ-विज्ञान नहीं है। और कवि जब पदार्थों, (things), को दिखाता है तो वह उन्हें देखता भी है। स्वयं देखकर ही वह उन्हें हमको दिखा सकता है।

कवि भी संसार के प्रत्येक ही पदार्थ को हमारे सामने नहीं रख देता, क्योंकि वह प्रत्येक ही पदार्थ को स्वयं भी नहीं देखता। कवि के देखने का क्या अर्थ है ? हमारे-आपके देखने का क्या अर्थ है ? क्या सदा ही यह नहीं होता कि असंख्य चीजें जो हमारी खुली आँखों के सामने आती रहती हैं हमारे द्वारा वस्तुतः देखी नहीं जातीं ? यथार्थतः हम उसी वस्तु को उतने ही अंश में देखते हैं जो जितने अंश में हमें प्रभावित करती है—हमको अपनी ओर आकर्षित करती है। कवि जब हमें किसी पदार्थ को दिखाता है तो वह उतने ही अंश में उसे दिखा पाता है जितने अंश में उसने स्वयं प्रभावित होकर उसे देखा है।

किसी वस्तु का हमको प्रभावित करना उसका अमुक अंश में हमारी अनुभूति में, हमारी अन्तः—संवेदना में, प्रविष्ट होना है। संविन्न होना, अनुभूत करना, आत्मा का गुण है। और फिर कवि की अनुभूति ? "कवि" शब्द में ही वह विशेषता है जो कविनामा को, अनुभूति की दृष्टि से, प्राकृत जन से बहुत ऊँचा उठा देती है।

अनुभूति की शक्ति आत्मा की प्रसरणशक्ति, उसकी विस्तारशक्ति है। और प्रत्येक प्रकार की अनुभूति अन्ततः आत्मानुभूति ही है। हमारी आत्मा किसी वस्तु के सम्पर्क से तभी प्रभावित होती है जबकि उस वस्तु के किसी गुण और आत्मा की किसी वृत्ति के बीच में साम्य होता है। इस रूप में आत्मा का वस्तु में और वस्तु का आत्मा में प्रतिफलन होता है। यही आत्मा का विस्तार है।

आत्मा जीवन स्रोत है, वही जीवन स्वरूप है। जीवन स्वरूप को पूर्णता प्रदान करने वाली सामग्री मानव-अन्तःकरण की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियाँ हैं और इन वृत्तियों का दृश्य सृष्टि के साथ सामंजस्य ही मनुष्य के दृश्य जीवन का स्वरूप है। कवि वह व्यक्ति है जिसके भीतर इन वृत्तियों की प्रवणता विशेष रूप से दृश्यमान होती है, जिसका अन्तःकरण शेष सृष्टि

के साथ सामंजस्य पाने के लिए सदैव सजग रहता है। दूसरे शब्दों में, कवि व्यक्ति विशाल व्यापक जीवन को देखता, उसके साथ अपने को एकाकार करता है। यह साधारणीकरण की पहली पद्धति है, जिसका रूप व्यक्तिगत है।

परन्तु काव्य का साधारणीकरण कवि का साधारणीकरण नहीं है। कवि जो कुछ लिखता है वह "काव्य" कहलाता है। और काव्य पाठक या रसिक के लिये लिखा जाता है। पाठक या रसिक किसी कवि की रचना को क्यों पढ़े ? निस्सन्देह पाठक को कविता के पढ़ने में आनन्द आता है, इसीलिए वह उसे पढ़ता है। उसका यह आनन्द ही उसके लिए काव्य का रस है। इसी से पाठक या दर्शक को "रसिक" भी कहते हैं।

जो सहज अन्तःकरण वृत्तियाँ कवि में विशेष जागरूक रहती हैं वे भौतिक धन्धों की स्पर्धा-संकुलता में प्राकृत जन में प्रायः सुप्त सी रहती हैं। परन्तु वे रहती तो प्राकृत जन में भी हैं ही। उनके सुप्त रहने के हेतु से प्राकृत जन का सृष्टि के विविध पदार्थों से आत्म-सामंजस्य स्थापित होने की परिस्थिति साधारणतया सम्पन्न नहीं हो पाती।

ससार में जितनी परिस्थितियाँ हैं वे व्यक्ति के दृष्टिकोण से व्यक्ति की ही परिस्थितियाँ हैं। किसी व्यक्ति को अन्याय करते देख कर एक दूसरे व्यक्ति को क्रोध होने का रहस्य उस व्यक्ति का पहले व्यक्ति के अन्याय में आत्मारोप ही है। मनोविज्ञान की दृष्टि से अन्याय करने वाले और अन्याय पर क्रोध करने वाले में इतना ही अन्तर है कि पहला व्यक्ति उसी कर्म को अन्याय न समझता हुआ उसमें अपनी वृत्तियों का आरोप करता है, जब कि दूसरे व्यक्ति की वृत्तियों का आरोप उसी कर्म में अन्याय-दृष्टि से होता है। अन्यथा, आपको कोई गाली भी दे दे, पीट भी दे तो भी आप क्रोध नहीं करेंगे। एक ही कर्म के सम्बन्ध में दो विरोधी दृष्टि वाले इस उदाहरण से यह सिद्ध हो जाता है कि किसी भी परिस्थिति या पदार्थ में

आपकी वृत्तियों का प्रतिफलन होने का अभिप्राय उस परिस्थिति या पदार्थ के साथ आपके निजी आरोप का प्रतिष्ठित होना है—उस परिस्थिति का आपकी परिस्थिति बन जाना है। इसी से यह भी सिद्ध होता है कि सांसारिक परिस्थित्तियाँ मानव वृत्तियों के दृष्टिकोण से मानव की ही परिस्थितियाँ हैं। और, मनुष्य-मनुष्य के पारस्परिक सम्पर्क से जो पारस्परिक व्यवहार की रूप रेखा बनती है उसका मूल मानव परिस्थितियों के साथ हमारा यही आत्मारोप है। अपये सम्पूर्ण जीवन व्यवहार मे मनुष्य अपने को ही केन्द्र मानकर अग्रसर होता है।

काव्य में जब परिस्थितियाँ या पदार्थ—Mr. Lewis और Dr. Tilhyand की परिभाषा में "things" जब हमारे सामने उपस्थित किये जाते हैं तो उनमें मानव-आरोप का सूत्र रहता है। दुष्यन्त और शकुन्तला की परिस्थितियों का पहला महत्व यही है कि वे दुष्यन्त और शकुन्तला की परिस्थितियाँ हैं। साधारणीकरण की प्रथम पद्धति में वे कवि द्वारा आत्मसात् की गई हैं, व्यक्तिगत सम्पत्ति न रहकर अब वे दो व्यक्तियों अर्थात् पात्र और कवि की सम्पत्ति बन गई हैं। यहीं साधारणीकरण की उत्तर-पद्धति काव्य-पद्धति, का भी सूत्रपात हो गया, क्योंकि कवि स्वयं दुष्यन्त या शकुन्तला नहीं था। अतः जब कवि ने दुष्यन्त या शकुन्तला की कथा लिखी तो वह कालिदास मात्र न रहकर सामान्य मानव हो उठा। अपने को मानव रूप में पाकर उसने अपनी दुष्यन्त-शकुन्तला वाली परिस्थितियों को अपने विशाल मानव-परिवार के लिए उन्मुक्त कर दिया।

जिस पद्धति से संसार की सामान्य परिस्थितियाँ दुष्यन्त-व्यक्ति द्वारा मुक्त होकर भी कालिदास-मानव की परिस्थितियाँ बन गईं उसी पद्धति से वे पाठक-मानव या दर्शक मानव की भी परिस्थितियाँ बन जाती हैं। कालिदास दुष्यन्त या शकुन्तला न होता हुआ भी अपने हृदय में रतिभाव से ओत प्रोत था। दुष्यन्त की परिस्थितियों में होने पर कालिदास उसी

प्रकार आचरण करता जिस प्रकार अभिज्ञान शाकुन्तल के दुष्यन्त ने आचरण किया। इसके साथ ही यह भी विशेषता है कि प्रेमतत्व की विशालता में वह शकुन्तला की परिस्थितियों में शकुन्तला के समान आचरण करता। नाटक-अभिनय में हम शकुन्तला की परिस्थितियों में पड़े हुए नट को इस प्रकार आचरण करते देखते हैं।

सामान्य मानव कालिदास ने जब एक राजा या तपस्वि-कन्या की परिस्थितियों को अपनाया तो इस अपनेपन में से दुष्यन्त या शकुन्तला और कालिदास निकल गए और दोनों के एकीकरण की शृंखला के रूप में केवल सामान्य मानव रह गया जो दुष्यन्त और शकुन्तला में भी वर्तमान था और कालिदास में भी। कालिदास की यह महत्ता है कि उसने दुष्यन्त में अपने-आप को इस मानव रूप में देख कर अपने में सामान्य मानव को भी देखा - साथ ही अपने को सामान्य मानव में भी; क्योंकि रतिभाव दुष्यन्त की ही, या फिर कालिदास की ही, सम्पत्ति नहीं, वह सामान्य मानवता की सम्पत्ति है। व्यक्ति की दृष्टि से, जिस प्रकार, सामान्य रति की परिस्थितियाँ कालिदास को दुष्यन्त की परिस्थितियों के रूप में मिली थीं उसी प्रकार 'अभिज्ञान-शाकुन्तल'' नाटक में सामान्य मानव को सामान्य रति की वे ही परिस्थितियाँ कालिदास की परिस्थितियों के रूप में मिलती हैं; यद्यपि कवि अपनी रचना में उनको दुष्यन्त की परिस्थितियों के व्याज से ही सामान्य मानव के सामने रखता है।

परिणामतः सामान्य मानव, पाठकमात्र और दर्शकमात्र भी उसी प्रकार जिस प्रकार कि कवि ने किया था—रति की चरितार्थता के लिए दुष्यन्त-मानव की परिस्थितियों के साथ आत्म-मानव की वृत्तियों का एकीकरण करता है, जिसके साथ ही साथ कालिदास-मानव को परिस्थितियों के साथ भी एकीकरण होता जाता है। वस्तुतः, जैसा कहा गया है, आरोप या एकीकरण की क्रिया दूसरे की परिस्थितियों के साथ अपनी वृत्तियों के सामंजस्य की क्रिया है। यह दुष्यन्त-मानव और कालिदास-मानव, अर्थात् केवल

मानव, की सिद्धि है। अन्यथा यह तो असम्भव है कि कालिदास दुष्यन्त हो सके या हम और आप कालिदास अथवा दुष्यन्त हो सकें। अनुकूल पात्रों की सूरत में, सम्भव है यह बात इतनी अच्छी तरह न देखी जा सके, पर प्रतिकूल पात्रों की दशा में हम इसे स्पष्ट देख सकते हैं। अन्याय-कर्म के उदाहरण में हम देख चुके हैं कि अन्यायकारी की परिस्थितियों के साथ हमारी आरोपक्रिया विरोधी वृत्तियों को लेकर होती है। अन्यायी व्यक्ति के साथ हमारा आरोप कहाँ होता है। वृत्तियों और परिस्थितियों के सारूप्य में हम क्षणभर के लिए अपने को दुष्यन्त या शकुन्तला मान लेने के भ्रम में भले ही पड़ जाएँ, पर क्या हम अपने को दुर्वासा समझने को भी तैयार होते हैं—या फिर रामायण का रावण समझने को? निस्सन्देह दुर्वासा और रावण भी मानव ही थे, परन्तु उनके कर्मों तथा परिस्थितियों में उनका निजी व्यक्तित्व ही इतना अधिक था कि सामान्य मानव-वृत्तियों की उनके साथ अनुकूलता नहीं बन सकती। प्रत्येक देश और प्रत्येक समय में सामान्य मानव इन पात्रों की परिस्थितियों को उन पात्रों की वृत्तियों से प्रतिकूल वृत्तियों के साथ ग्रहण करता है। यह तथ्य ही इस बात का बहुत बड़ा प्रमाण है कि काव्य की परिस्थितियाँ सामान्य मानव-वृत्तियों के द्वारा ही अपनाई जाती हैं। और, यही काव्य का साधारणीकरण है।

ऐसी कुछ प्रमुख सामान्य मानव वृत्तियों की नाम गणना कर साहित्य-शास्त्र ने काव्य की सार्वजनीन साधारणीकृत सुखसम्पत्ति के रूप में देखने की चेष्टा की है और इन वृत्तियों की समंजसता-प्रतिपादन के लिए *परिस्थिति-रूप में "विभाव"—सिद्धान्त की गवेषणा की है।* काव्य के कथानक में इन विभाव परिस्थितियों का भोक्ता नायक—ऐतिहासिक या कल्पित, अलोक पात्र - दृष्टिगोचर होता है; काव्य में वे आलम्बन—विभाव आदि—श्रोतामात्र या दर्शकमात्र के आलम्बन बन जाते हैं और उनका भोक्ता श्रोतानायक, (मानव-नायक) हो जाता है, दुष्यन्तमात्र नहीं, क्योंकि

वृत्तियों की समंजसता के नाते दुष्यन्त का और श्रोता का एकाकार या मानवकारमात्र, साधारणाकार, हो गया है।

शंकुकाचार्य का मत है कि इस प्रकार का साधारणीकरण अनुमिति का परिणाम है; अर्थात श्रोता अनुमिति की प्रक्रिया द्वारा अपने को दुष्यन्त की स्थिति में रख कर रसोपभोग करता है। परन्तु केवल अनुमिति द्वारा यथारूप साधारणीकरण नहीं हो पाता; क्योंकि अनुमिति एक शक्ति है जो कुछ लोगों में अधिक होती है, बहुतों में कम, और अधिकांश में बिलकुल नहीं। साथ ही अनुमिति का स्मृति से भी कुछ सम्बन्ध है, जो स्वयं एक शक्ति है और अलग-अलग व्यक्तियों में न्यूनाधिक मात्रा में पाई जाती है। परन्तु रति-आदि की वृत्तियाँ सहज संस्कार हैं जो अपनी प्रेरक परिस्थितियों को पाकर स्वयं जागरूक हो जाती हैं; अनुमान आदि के विवेक द्वारा उभारी या दबाई नहीं जातीं। निस्सन्देह अनुमिति में विवेक का भी अंश है और अतिरिक्त विवेक की दशा में हम किसी विरल अवस्था में संस्कार की अपेक्षा विवेक स्वयं एक विरल वस्तु है - अपनी किसी वृत्ति को दबाने की चेष्टा शायद कर भी लेते हों, परन्तु काव्य में तो वृत्तियों को दबाने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके विपरीत, और इसके साथ ही, संस्कार में भी वृत्तियों को दबाने का प्रश्न नहीं ही उठता। इसके विपरीत, और इसके साथ ही, संस्कार में भी वृत्तियों को दबाने का प्रश्न नहीं उठता। काव्य के आरोप में अपने अनुकूल आलम्बनों को पाकर वह वृत्तिरूप संस्कार स्वतः ही ऊपर जाती है। उठता है और पाठक या श्रोता के हृदय में प्रत्यक्ष अनुभूति की अवस्था बन अभिनवगुप्ताचार्य ने अपने मत में संस्कार को ही प्रमुखता दी है।

समाप्त

